

**TEXT FLY WITHIN
THE BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU 180397

UNIVERSAL
LIBRARY

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १७

जून १९५०

किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य

श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एम., डी. एल्.

पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण

पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, माहित्यरत्न.

- * -

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)

विदेश में ३)

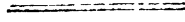
एक प्रति का १।।)

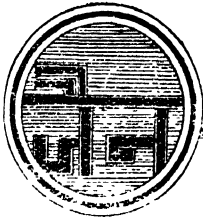
विषय-सूची

१	चन्द्रगुप्त और चाणक्य—[श्रीयुत ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल०एल० बी०	१
२	जैनग्रन्थों में क्षेत्रसिति—[श्री युत प्रो० राजेश्वरीदत्त मिश्र एम० ए०, शास्त्री	१७
३	कविवर सूरचन्द्र और उनकी साहित्य [श्री युत अग्रचन्द्र नादटा	२४
४	रूप और कर्म—एक तुलनात्मक वैज्ञानिक विवेचन—[श्री युत अनन्त प्रसाद जैन बी० एस०सी० (इंज०)	३४
५	मुनिवंशाभ्युदय—ऐतिहासिक काव्य—[श्री १०८ आचार्य देशभूषण महागात्र	४३
६	सम्राट् सम्प्रति और उसकी कृतियाँ—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य	५०
७	विविध विषय—[श्रीयुत वा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस०, डी० एल०	
	(१) श्रीमच्छंकर दिग्विजय में जैन उल्लेख	६१
	(२) गुणमाला-चउपई	६२
	(३) क्या शक और कुषाण आदि राज्यों में ब्राह्मणधर्म का नाश किया गया था ?	६४
	(४) कतिपय जैन शिलालेख	६६
=	साहित्य-समीक्षा	
	(१) धवला टीका समन्वित पदस्थण्डागम (वेदना खण्ड कृति अनुयोग द्वार)	६८
	(२) श्रावक धर्म संग्रह	६९
	(३) रत्नकरखण्ड श्रावकाचार सदामुख टीका सहित	६९
	(४) जैन महिला-शिक्षा संग्रह	७०
	(५) मुख की एक भक्तक	७०
	(६) सभाष्य रत्न मंजूषा	७१
	(७) नाममाला भाष्य	७१
	(=) उज्ज्वल प्रवचन	७२
	(९) बुद्ध और महावीर तथा दो भाषण	७२
	(१०) काल्याण (हिन्दू-मंस्कृति अंक)	७३

[श्री नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

(११)	केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि	७३
	[श्री तारकेश्वर त्रिपाठी ज्योतिषाचार्य]			
(१२)	रत्नाकर शतक द्वितीय भाग	७४
	[श्री माधव राम न्यायतीर्थ]			
(१३)	विश्वशान्ति और जैनधर्म	७४
	[श्री चन्द्रसेन कुमार जैन बी० ए०]			
६	श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का वार्षिक विवरण—[श्री चक्रेश्वर कुमार जैन			
	बी० ए० सी०	७५
१०	वैराग्यसार—प्राकृत दोहाबन्धः	६—१५
	रचयिता—सुप्रभाचार्यः			





श्रीजिनाय नमः

विज्ञान-मासिक

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक पाठ्यमासिक पत्र

भाग १० } जून, १९५०। आषाढ, वीर नि० सं० २४७६ } किरण १

चन्द्रगुप्त और चाणक्य

[ले०—श्रीयुत वा० ज्योति प्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, लखनऊ]

मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और मन्त्रीश्वर चाणक्य भागतीय इतिहास क्षितिज के परम्भिक प्रकाशमान नक्षत्रों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य को भारत के प्रथम प्रबल प्रतापी सम्राट् होने का तथा शक्तिशाली विदेशी शत्रुओं और आक्रमणकारियों के दांत खट्टे कर उनसे अपने साम्राज्य को सुगन्धित बनाये रखने का श्रेय है, तो आचार्य चाणक्य उक्त साम्राज्य की स्थापना में मूल भूमित और उसके प्रथम स्तंभ थे। वे सम्राट् चन्द्रगुप्त के राजनीतिक गुरु, समर्थ सहायक, और उसके राज्य के कुशल व्याप्यापक एवं नियामक थे। राजनीति के ये महान गुरु और इनका प्रसिद्ध अर्थशास्त्र, अपने समय में ही नहीं बरन् तदोत्तरकालीन भारतीय राजनीति और राजनीतिज्ञों के भी सफल मार्गदर्शक रहे हैं।

प्राचीन यूनानी लेखकों के वृत्तान्तों, शिलालेखीय एवं साहित्यिक आधारों और प्राचीन अनुश्रुति की ब्रह्मण एवं बौद्ध धाराओं में यह तो बहुत कुछ ज्ञान हो जाना है कि किस प्रकार मगध के तत्कालीन नन्द नरेश के बर्ताव से कुपित होकर ब्रह्मण चाणक्य ने नन्द के नाश की प्रतिज्ञा की, किस प्रकार युद्धनीति एवं कूटनीति का द्विविध आश्रय लेकर मौर्य युवक वीर चन्द्रगुप्त के सहयोग से उन्होंने नन्दवंश का उच्छेद किया, मौर्यवंश की स्थापना हुई और चन्द्रगुप्त मौर्य मगध का सम्राट् हुआ, किस प्रकार उन दोनों ने उक्त साम्राज्य का विस्तार कर उसे देश व्यापी बनाया, उसे सुदृढ़ रूपा से संगठित किया, आदर्श व्यवस्था और सुशासन प्रदान किया, तथा राष्ट्र को सुखी, संपृद्ध, प्रतिष्ठित एवं समुन्नत बनाया। गत शताब्दी की आधुनिक शोध-खोज से यह भी निर्विवाद सिद्ध हो चुका है

कि भारत के सभी महान् सम्राटों की भाँति सर्व धर्म सहिष्णु और उदार होते हुए भी व्यक्तिगत रूप से चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्म का अनुयायी था, अपने अन्तिम जीवन में अपने पुत्र विन्दुसार को राज्यपाट सौंप कर अपने धर्म गुरु जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण को चला गया था और वहाँ कर्णाटक देश के चन्द्रगिरि पर्वत पर जैन मुनि के रूप में तपश्चरण करते हुए मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

किन्तु उपरोक्त ऐतिह्य साधनों से इस बात पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता कि मगध राजनीति में अवतीर्ण होने के पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त कौन और क्या थे ? उनका व्यक्तिगत जीवन क्या था और अन्त कैसे हुआ ! प्राचीन जैन अनुश्रुति और साहित्य अवश्य ही इस सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी प्रदान करते हैं, जिसकी प्रामाणिकता में भी सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। उनसे अन्य साधनों से ज्ञात तात्थ्यों की पुष्टि भी होती है और चन्द्रगुप्त चाणक्य का अद्योपान्त जीवन वृत्तान्त भी सुगमस्थित रूपा में उपलब्ध होता है। तत्सम्बन्धी ये जैन आधार' पर्याप्त विपुल, विविध, प्राचीन और बहुदोत्र, बहुकाल व्यापी हैं। उनके आश्रय से मुनि न्यायविजय जी ने चाणक्य के धर्म का दिवेचन किया था'। और उन्हीं के सफल प्रयोग द्वारा लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विशेषज्ञ प्रो० सी० डी० चटर्जी महोदय ने चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारंभिक जीवन पर अभूतपूर्व प्रकाश डाला है'।

अन्तु उक्त जैन प्रमाणधारों के अनुसार राजनीति के महान् गुरु चाणक्य का जन्म 'गोहल' विषय के अन्तर्गत 'चणय' नामक ग्राम में हुआ था। उनकी माता का नाम चणेश्वरी था और उनके पिता चणक जन्म से ब्राह्मण (माइणो) और धर्म से जैन श्रावक

१—हमारा लेख—'चन्द्रगुप्त चाणक्य इतिवृत्त के जैन आधार'

—जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १५ कि० १ पृ० १७-२४

२—अनेकान्त—व० २ कि० १ पृ० १०५

३—ग्रही लाइफ़ आफ़ चन्द्रगुप्त मौर्य—डा० वी० सी० लॉ स्मृति ग्रन्थ। प्रस्तुत लेख का शेष कथन प्रो० चटर्जी के निबंध का अधिकांशतः अनुसरण है।

४—आवश्यक नियुक्ति-वृत्ति, पृ० ५६३ (जैन बंधु प्रेस, इन्दौर, १९२८; आवश्यक वृत्ति, पृ० ४३३ (आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६) परिशिष्ट पर्व ८, १६४।

चाणक्य के जन्मग्राम या जिले (विषय) की स्थिति के सम्बन्ध में इन साधनों में कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु, भरहुत के एक शिलालेख (कनकमभरहुत स्तूप, पृ० १४०, न० २१) में उल्लिखित 'गोल' स्थान ही यह 'गोहल' जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह उक्त विषय के साथ साथ उसके केन्द्र स्थान नगर विशेष का भी नाम था।

बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य का जन्म तक्षशिला में हुआ था (वंसदथपकासिनी पृ० ११६, प० ३५--सिंहली संस्करण)। अभी तक यह ज्ञात नहीं हुआ कि यह प्रसिद्ध नगर गोहल अथवा गोल्य विषय के अन्तर्गत स्थित था या नहीं।

(सावत्रो) थे। शिशु चाणक्य जन्म से ही पूर्णादन्तावलि युक्त उपजा हुआ था^१। उसके जन्म समय उसके पित्रालय में कुञ्ज जैन साधु (साहू) अतिथि थे। चाणक ने नवजान शिशु को लाकर गुरु चरणों में नमस्कार कराया। बालक को यह अप्राकृतिक विशेषता जब उस साधुओं के लक्ष्य में आई तो उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि यह बालक एक दिन अवश्य कोई बड़ा नरेश (गया) होगा। चाणक एक धार्मिक वृत्ति का व्यक्ति था, सांसारिक राज्यैश्वर्य को वह दुर्गति का कारण समझता था और वह यह नहीं चाहता था कि उसका पुत्र राजा हो और परिणाम स्वरूप नररुगामी बने। अतएव उसने तत्काल शिशु के राज्य चिन्ह रूप उक्त दाँतों को उखाड़ दिया^२। यह देखकर उन साधुओं ने कहा कि यह बालक राज्य तो अवश्य करेगा किन्तु अब स्वयं नहीं, किसी अन्य व्यक्ति के मिस से करेगा (एताहे वि विंभान्तरिञ्चो राया भविस्सई च्चि)।

जैसे जैसे चाणक्य वृद्धि को प्राप्त हुआ उसे उस समय प्रचलित चौदह विद्या स्थानों^३ की शिक्षा दी गई, जिन सब में वह मेधावी बालक शीघ्र ही अत्यधिक पारंगत हो गया शिक्षा की समाप्ति पर उसके पिता ने एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल की यशोमति नामक श्यामा सुन्दरी बाला के साथ चाणक्य का विवाह कर दिया^४। और एक संतोषी श्राक के रू। में वह अपना जीवन यापन करने लगा।

आवश्यक नियुक्ति की पूर्ण में चाणक्य के जन्म ग्राम का नाम चणिय दिया है और यही नाम उसके पिता का भी बताया है। जैन बृहत्कथा कोप (१४३, ३) में चाणक्य को कपिञ्ज का पुत्र और पाटलिपुत्र का निवासी बताया है। श्वे० पयण्णा संग्रह में भी उसे पाटलिपुत्र नगर का निवासी ही कथन किया है।

१—'पुत्रो से जात्रो सह दाढाहि'—(देवेन्द्रगणि कृत उत्तराश्वयन सूत्र की सुखबोध नाम्नी टीका)। इस प्रकार दन्तावलि युक्त उत्पन्न होने के उदाहरण पाश्चात्य देशों की अनुश्रुतियों में भी कई एक मिलते हैं। प्रायः करके ऐसा बालक अशुभ समझा जाता है।

२—चौदह अनुश्रुति के अनुसार चाणक्य ने अपने दाँत स्वयं उखाड़ डाले थे—(मोगगल्लान कृत 'महावंश' गा० ६८-६९—यह ग्रन्थ महानाम के प्रसिद्ध महावंश से भिन्न है। प्रा० चटर्जी से मालूम हुआ है कि इसकी एकमात्र प्रति पेरिस-फ्रान्स में है)।

३—छः अंग, चार वेद (ऋग्वेदादि से भिन्न जैन परम्परा के भेद), दर्शन, न्याय विस्तार, पुराण और धर्म शास्त्र—(सुखबोध-३, १; अर्थशास्त्र १, ३)।

४—जैन के अतिरिक्त कोई अन्य अनुश्रुति चाणक्य का विवाहित होना सूचित नहीं करती। उसके नाम से स्त्रियों के प्रति घृणासूचक एक उक्ति भी प्रचलित है। पालि साहित्य के दो ऐतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार चाणक इतना क्रूर था कि कोई भी स्त्री उससे विवाह करना पसन्द नहीं कर सकती थी (वंसत्थ-पृ० १२० पं० ९-११, सिंहली संस्करण, और मोगगल्लय कृत महावंश, गा० ७०-७१)। जैन अनुश्रुति में उसका सर्वत्र विवाहित होना सूचित किया है (सुखबोध आदि) और जैन बृहत्कथाकोप (१४३, ५) के अनुसार उसकी पत्नी यशोमती नामक एक श्यामा सुन्दरी थी।

एक बार चाणक्य की पत्नी अपने भाई के बड़ी धूमधाम से होने वाले विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के लिये अपने मयंक (माइवर) गई। उपरान्त तीन बहिनें और उनके धनिक पति भी अपने सर्वोत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर उत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये थे। इसके विपरीत चाणक्य की निराभरण पत्नी ने वहाँ अपनी जीर्ण शीर्षा सारी वेपभूषा में किन्तु एक विवाहिता के सर्व आवश्यक सौभाग्य चिन्हों से युक्त प्रवेश किया। उसका वेष देखकर उसकी बहिनें और एकत्रित अतिथि समूह उस पर उपहास सूचक वृणा मिश्रित हँसी हँस उठे। वहाँ उस बेवारी का सरा समय एकाकी ही बीता, किसी ने तनिक भी उसकी सुध न ली, स्वने उपेक्षा ही की। वह दुःखिन हृदय से रोती हुई पति गृह में वापस आई। चाणक्य को उससे जब वहाँ की सब बातें विस्तार पूर्वक मालूम हुईं तो वह समझ गया कि उसकी पत्नी के अपमान का कारण उपरान्त निर्धनता (निम्नजाति) थी, अतएव उसने तत्काल प्रतिज्ञा की कि चाहे जैसे बने वह विपुन धन ऐश्वर्य प्राप्त करके दम लेगा।

उस समय महागज नन्द कात्तिकी पूर्णिमा के दिन ब्राह्मणादिकों को विपुन दान वितरना किया करता था। चाणक्य तुरन्त पाटलिपुत्र के लिये रवाना हुआ और उक्त तिथि के प्रातःकाल में वहाँ पहुँच गया। उसने राजमहल में प्रवेश किया और सभाभवन में सिर पर जो पड़ला आसन दीख पड़ा उसी पर आसीन हो गया। यह आसन वास्तव में

१—परिशिष्ट पर्व, ८, २०६-२०८।

२—'धणम् उवञ्जिणामि केणवि उवाएण'—सु० १०।

३—सुखवेध (२, १७) और आव० सू० वृत्ति (पृ० ६६३) के अनुसार वह पाटलिपुत्र के नन्दवंश का नवम् नन्दराय था। अनेक विद्वान उसका जैन होना भी स्वीकार करते हैं।

४—कार्तिकी अष्टाह्निका, नंदीश्वर पूजा और मिद्ध चक्र विधान का यह अंतिम दिन जैन परंपरा में दान के लिये विशेष उपयुक्त माना जाता है। बौद्ध ग्रंथ वसत्यप्यकासिनी (पृ० १२०) के अनुसार राज्य की ओर से यह दान वितरण किसी विशेष दिन न होकर, नित्यप्रति ही हुआ करता था। इसी ग्रंथ से यह भी विदित होता है कि प्रतिवर्ष एक करोड़ मुद्राओं से ऊपर दिये जाने वाले इस राजकीय दान के समुचित वितरण के लिये महाराज नन्द (नानन्द) ने एक दान विभाग (दाणग) स्थापित किया था जिसका नियन्त्रण इसी कार्य के लिये नियोजित एक 'संव' द्वारा होता था। उक्त संव के सदस्य विशिष्ट विद्वान ब्राह्मण ही होते थे और उनमें भी जो सर्वाधिक विद्वान् समझा जाता था वह उसका अध्वन् (संघब्राह्मण) नियुक्त किया जाता था। संघब्राह्मण का कर्तव्य दाणग का संचालन और राजकीय दानशाला में दान के दैनिक वितरण की अध्यक्षता करना होता था। स्वयं महाराज भी जब तब इसी कार्य के लिये वहाँ उपस्थित होते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि संघब्राह्मण के पद की एक शर्त यह थी कि यदि वह किसी अन्य महत्तर विद्वान द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया जायगा तो उसे अपने पद का त्याग कर देना होगा।

राज्यवंश के व्यक्तियों के लिये निश्चय था। मडागत्र नन्द ने अपने पुत्र राजकुमार सिद्धपुत्र के साथ भवन में प्रवेश किया। उक्त आसन पर चाणक्य को बैठा देखकर राजकुमार ने परिचारिका से उसे उसपर से उठाने और दूसरा आसन देने के लिये कहा। दूसरा आसन दिये जाने पर भी चाणक्य ने पहिने आसन का त्याग नहीं किया और उस दूसरे आसन पर अपना लोटा रख दिया। एक एक करके तीन और आसन उसे दिये गये और उनपर भी वह अपनी एक एक वस्तु, दण्ड, माला, यज्ञोपवीत रखकर उठे हस्तगत करता गया। यह देखकर कि नवागन्तुक ब्राह्मण इतना अभिमाना है कि वह राज्यासन को तो त्यागना ही नहीं वरन् उसे दिये गये अन्य आसनों पर भी अपना अधिकार करता चला जाता है, परिचारिका का धैर्य जाता रहा; चाणक्य के इस उदंड व्यवहार से क्रोधित हो उसने उमे लात मारकर आसन पर मे उठा दिया। इसपर चाणक्य का क्रोध भड़क उठा और भरी सभा में बड़े रोष पूर्वक उसने निम्नोक्त शब्दों में प्रतिज्ञा की—“निस प्रकार उग्रवायु का प्रचंड वेग अनेक शाखा समूह सहित महान वृत्तों को जड़ से उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार हे नन्द मैं तेरा तेरे क्रोध, भृत्य, पुत्र, मित्रादि सहित समूल नाश करूँगा”।

अन्तिम नन्द नरेश का यह दुर्भाग्य था कि चाणक्य इतनी दूर से उस महान केन्द्र पाटलिपुत्र में विद्वानों से शास्त्रार्थ करने के लिये आ पहुँचा, और उपरोक्त नियम का लाभ उठाकर संघब्राह्मण को पदच्युत करने और उसका स्थान स्वयं प्राप्त करने में सफल हुआ। किन्तु राजा इस नवीन अध्येतृ की अत्यन्त कुरूपता के कारण उसकी उपस्थिति सहन नहीं कर सका और उसने उसे प्रायः बलपूर्वक ही दानशाला से बाहर निकलवा दिया। फल स्वरूप वह कूटनीति के उस महान आचार्य कौटिल्य का क्रोध भाजन हुआ और संवश नाश को प्राप्त हुआ—(मोग्ग-महा०, गा० ७२-८३; वंसत्थ०-पृ० १२०)

१—सुखबोध, और आव० चूर्णि ।

२—सुखबोध आदि के अनुसार अन्तिम नन्दनरेश का पुत्र सिद्धपुत्र (सिद्धपुत्र) था, हेमचन्द्र ने उसका उल्लेख केवल ‘नन्दपुत्र’ के रूप में किया है, कोई नाम नहीं दिया (परि० ८, २१८) हरिप्रेण ने बृहत्कथा कोप में उसका नाम हिरण्य गुप्त अथवा हरिगुप्त दिया है और उसे युवराज लिखा है। किन्तु बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार अन्तिम नन्द के इस युवराज का नाम पर्वत था (वंसत्थ-पृ० १२१; मोग्ग० महा; गा० ८३; सी० डी० चटर्जी-इंडियन कल्चर, १, पृ० २२०, २२३) ऐसा प्रतीत होता है कि नवम नन्द के एक ही पुत्र था क्योंकि सब ही आचार केवल एक ही पुत्र का संकेत करते हैं, यद्यपि उसके नाम में मतभेद प्रदर्शित करते हैं।

३—‘कीपेन् भुञ्चैश्च निबद्धमूलम्, पुत्रैश्च मित्रैश्च निवृद्धशाखम् ।

उपालय नन्दम् परिवर्तयामि, महाद्रुमम् बोयुरिवोप्रवेगाः ॥

(आव० चू० पृ० ५६३, सुख० ३१)

चाणक्य के इस प्रसिद्ध शाप को विभिन्न लेखकों ने भिन्न भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। जैन साहित्य में इसका सर्व प्रथम उल्लेख आवश्यक चूर्णि में मिलता है, तदनन्तर सुखबोध, परि० पर्व

क्रोध से तप्तायमान चाणक्य ने तत्काल पाटलिपुत्र का त्याग किया। इस समय उसे उस भविष्यवाणी का स्मरण हुआ जो उसके जन्म समय जैन साधुओं ने करी थी, कि वह किसी अन्य व्यक्ति के मिस मनुष्यों पर शासन करेगा। अतएव परिव्राजक के वेष में वह एक ऐसे व्यक्ति की खोज में फिरने लगा जो राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हो। इस प्रकार घूमते घूमते वह महागज नन्द के अधीनस्थ मयूरगोशकों के ग्राम में पहुँचा। उस समय उक्त ग्राम के मुखिया (मयहर) की पुत्री गर्भवती थी और उसे चन्द्रपान का विलक्षण दोहला उत्पन्न हुआ था। किसी को समझ में न आ रहा था कि किस प्रकार वह दोहला शान्त किया जाय। चाणक्य ने उन्हें आश्वासन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शान्त कर देगा, किन्तु शर्त यह है कि यदि उसके पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह चाणक्य को सौंप दिया जायगा। कोई अन्य चारा न देख लड़की के पिता ने चाणक्य की शर्त स्वीकार कर ली। उसने भी तत्काल एक थाली में जल मंगवा कर और उसमें प्रतिबिंबित चन्द्रमा को उप लड़की को दिखाकर उसे वह जन पिता दिया, और इप प्रकार अपनी चतुराई से उसका दोहला शान्त कर दिया। तत्पश्चात् उस ग्राम का त्याग कर किसी अज्ञात स्थान की ओर वह चन दिया।

आदि में। यद्यपि पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों पूरी की कथा प्राकृत में है, शार की भाषा संस्कृत है, संभवतया इसलिये कि चाणक्य जैसा विद्वान् ब्राह्मण क्रोधावेप में भी संस्कृत का ही प्रयोग करता था। अथवा अपनी प्रतिज्ञा का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिये उसने वैसा किया। किन्तु बौद्ध साहित्य में इस शाप के जो दो रूप उल्लेख हैं अर्थात् थेरवादियों की सिंहलकथा एवं धम्मरुचि को की उत्तरप्रिहारकथा के आधार पर वंस्त्यप्पकासिमी (पृ० १२०) तथा मोग्गल्लान के महावंग (गा० ८१-८२) में, वे पालि में ही हैं। वंस्त्यप्पकामिनी में नन्दों के लिये जो 'नन्दिन' शब्द का प्रयोग किया गया है वह संभवतः इसलिये कि ब्राह्मणादिकों द्वारा वे हीन कुल अथवा शूद्र जात माने जाते थे।

१—विशंतरियो (विशान्तरिताः) अर्थात् दर्पण के प्रतिबिम्ब वत् या ओट से।

२—ब्राह्मण धर्म सूत्रों में परिव्राजक और भिक्षु शब्द कहीं तृतीय और कहीं चतुर्थ आश्रम में स्थित ब्राह्मणों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अतः वे ब्राह्मण जो गृहस्थ जीवन का त्याग करके इतस्ततः भ्रमण करते रहते थे परिव्राजक कहलाते थे, और उनके प्रायः दो भेद होते थे—एकदंडी और दूसरे त्रिदंडी। दण्ड धारण उनके तपस्वी जीवन का चिह्न होता था। प्राचीन साहित्य में उनका उल्लेख ऐसे तपोधन दार्शनिकों के रूप में हुआ है जो कि अपनी बहुज्ञता, बुद्धिमत्ता और साधुता के लिये प्रसिद्ध थे, तथा जो पारी पारी से वैशाली, चम्पा, श्रावस्ती, राजगृह आदि ज्ञान के तत्कालीन प्रधान केन्द्रों में जीवन मृत्यु, आत्मा और सिद्धत्व, ब्रह्म और विश्व-सम्बंधी परम सत्तों की खोज में आते जाते रहते थे और अन्य सहयोगी विद्वानों से वादविवाद करते थे। यद्यपि ब्राह्मण परम्परा में 'चरक' की भाँति 'परिव्राजक' भी भ्रमते तापसियों के लिये एक जाति सूचक है, नाम किन्तु जैन और बौद्ध साहित्य में यह शब्द ब्राह्मण अब्राह्मण दोनों ही प्रकार के तपस्वियों के लिये प्रयुक्त हुआ है। जैन उपपादिक सूत्र में कहा है कि परिव्राजक मृत्यु के उपरान्त ब्रह्मलोक नामक

गर्भकाल की समाप्त पर उस युवती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया, और उसके (लड़की के) पिताने अद्भुत रीति से उसके दाँहले की शान्ति का स्मरण करके बालक का नाम चन्द्रगुप्त रक्खा' (चन्द्रगुप्तो से नामं कथं)। ग्राम के अन्य बालकों के बीच चन्द्रगुप्त शनैः शनैः वृद्धि को प्राप्त हुआ। वह बड़ा होनाहा, सर्वे राज्योचित लक्षणों और चिन्हों से युक्त था। अपने श्रेष्ठतर व्यक्तित्व के प्रभाव से वह बालान से ही अपने साथी बालकों पर शासन करने लगा और सब खेनों में उनका अगुआ और नेता बनने लगा। बहुत समय के उपरान्त चाणक्य का फिर से उस ग्राम में आगमन हुआ। इस बीच में

स्वर्ग में जन्म लेते हैं और वहाँ एक कल्प पर्यन्त स्वर्ग सुख का उपभोग करते हैं। इस ग्रन्थ में ब्राह्मण परिव्राजकों से क्षत्रिय परिव्राजकों का भिन्न कथा है और उनके सात भेद किये—सांख्य कापिल्य, भार्गव, योगी, हंस, परमहंस, बहूदक, कुटिलत, कृष्ण परिव्राजक (अवहय—७ ध्व ८१) कुछ ग्रन्थों में स्त्री-पतिव्रतिकाओं का भी उल्लेख है जो दार्शनिक गोष्ठियों में होने वाले वादों में योग देकर देश के बौद्धिक जीवन में भी भाग लिया करती थीं।

रामायण (अरण्यकांड ४६, २-३) में इन परिव्राजकों की वेपभूषा आदि का अच्छा वर्णन हुआ है। किन्तु ब्राह्मणोत्तर परिव्राजकों की वेपभूषा उससे भिन्न होती थी, उनमें भी दिग्भ्रमर (अचेलक अथवा नग्गा चरित्रा) परिव्राजक तां नम्र ही रहते थे। अर्थ शास्त्र खं० ३, अ० २०) के 'वृषलप्रव्रजित' ये ब्राह्मणोत्तर परिव्राजक यथा निर्ग्रन्थ (जैन), शाक्य पुत्र (बौद्ध)—विभिन्न जातियों के यहाँ तक कि चांडाल भी हो सकते थे, और ये सुसंगठित मुनि संघों (गण गच्छ आदि) के अन्तर्गत रहते थे, जबकि ब्राह्मण परिव्राजक ब्राह्मण जातीय ही होते थे और एकाकी ही विचरण करते थे। वे संघ की अपेक्षा एकाकी जीवन को आत्मसाधन के लिये अधिक उपयोगी समझते थे। वैसे अनेक जैन साधु विशेष कर जिनकल्पी साधु भी एकाकी ही विचरण करते थे। किसी स्थान विशेष में स्थायी रूप से न रहकर निरन्तर स्थान से स्थानान्तर विहार करते रहना इन सभी प्रकार के परिव्राजकों का एक विशेषता थी, क्योंकि आत्म साधन के लिये वे ऐसा करना आवश्यक मानते थे। केवल वर्षा ऋतु में वे एक ही स्थान में रहकर चातुर्मासिक योग धारण करते थे, क्योंकि उक्त ऋतु में गमनागमन करने से अनेक जीवों की हिसा होने का भय रहता है। इनमें से प्रत्येक परम्परा के परिव्राजकों के आचरण के नियम शास्त्र थे, यथा जैन आचारान्ग, बौद्ध पातिमांजल और ब्राह्मण भिन्दु सूत्र (गणितो, ४, ३, ११०-१११)

१—चन्द्रगुप्त के वंश और पितृकुल के सम्बंध में विभिन्न अनुश्रुतियों में मतभेद है। जैन आचारों के अनुसार उसका मातामह मयूर पोषकों का मुखिया था। संभवतः वह इसी कारण मौर्य कहलाया। किन्तु जैन साहित्य में उसे क्षत्रिय वंशोद्भव ही कहा है। वैसे ब्राह्म्य क्षत्रियों की एक जाति मौरिय भी थी जिसके एक सदस्य राथ भगवान मह वीर के एक गणधर थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का पिता पिप्पलि वन के शाक्य क्षत्रियों की 'मौरिय' नामक एक उपजाति का राजा था। ब्राह्मण पुराण एवं साहित्यकारों ने उसे मुरा नामक स्त्री का पुत्र अथवा पौत्र होने के कारण मौर्य कहलाया बताया। साथ ही मुरा के शूद्रा होने का भी उल्लेख किया। प्रो० चटर्जी ने अपने लेख की पाद टिप्पणी नं० १४ में इस प्रश्न पर विस्तार पूर्वक विशद

चाणक्य ने जो कि भारी 'धातुवाद विशारद' था अपने समय का, गुप्त रूप से स्वर्ण बनाने और एकत्रित करने में सद्बुद्धि का किया था। जिस समय चाणक्य उक्त ग्राम में पहुंचा तो वहाँ उसने चन्द्रगुप्त को अपने बाल सखाओं (बाल बानों) के साथ खेलते पाया। खेल में चन्द्रगुप्त स्वयं राजा बना हुआ था। चाणक्य कुछ देर तक मुग्ध हुआ यह खेल देखता रहा और बालक चन्द्रगुप्त के अभिनय से बहुत प्रभावित हुआ। इन लड़कें में उसने सबही राज्योचित लक्षण पाये, मानों वह एक बड़ा नरेश बनने के लिये ही जन्मा था। खेल में भी वह एक कुशल राजनीतिज्ञ होने का परिचय दे रहा था। चाणक्य ने उमठी और अधिक परीक्षा करने के लिये उसमें ब्राह्मण बनकर दान की याचना की। बालक राजा ने बड़ी तरारना से कहा 'बोलो क्या चाहते हो ? जो मांगोगे अभी मिलेगा।' चाणक्य ने कहा 'मैं गो दान चाहता हूँ, किन्तु मुझे भय है कि तुम मेरी इच्छा पूरी न कर सकोगे। अन्य लोग उमका विरोध करेंगे।' चन्द्रगुप्त ने तुरन्त त्वेष के साथ उत्तर दिया 'यह आप क्या करते हैं ? पृथ्वी वीरों के ही उपयोग के लिये है (वीरभोजना पुहइ)।' लड़कें के इस उत्तर से उनके राज्योचित गुणों का चाणक्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके साथियों से उमका परिचय प्राप्त करने का प्रलोभन न रोक सका, बालकों ने उसे बताया कि चन्द्रगुप्त तो एक परिव्राजक का पुत्र है। इस प्रकार यह जानकर कि चन्द्रगुप्त तो वही लड़का है जिसकी माता का दोहना अपने स्वयं परिव्राजक के वधवेष में भ्रमण करते हुए पूरा किया था तो वह बड़ा प्रमत्न हुआ और उसने चन्द्रगुप्त को राजा बनाने की उसी समय प्रतिज्ञा की। अस्तु, तुरन्त उस बालक, चन्द्रगुप्त को अपने साथ लेकर चाणक्य उस स्थान से पलायन कर गया (सो तेण समंपलाओ)।

अपने धातुविद्या के ज्ञान के प्रयोग से जो विपुल धन चाणक्य ने एकत्रित किया था उसकी सहायता से अब वह महाराज मन्द का उन्मूलन करने की तैयारियां करने में संलग्न

विवेचन किया है। 'मुग्ध' के अस्तित्व को वे निरा काल कल्पित मानते हैं, और मौरिय नाम के क्षत्रिय कुल में ही चन्द्रगुप्त का उत्पन्न होना सिद्ध करते हैं। उनका नोट विशेष पठनीय है।

१—धातु विद्या और खनिज रसायन शास्त्र में चाणक्य की पटुता का पता अर्थ शास्त्र (भा० २ अ० १२, १३, १४) से भी चलता है। मनुष्य शरीर पर धातु प्रयोग के विषय पर उसने एक ग्रंथ रचा प्रतीत होता है, जिसका उल्लेख अरबी इक्रीम-चारिया ने किया है, किन्तु जो अप्राप्य है।

२—मौर्यगह्वान के महावंश (गाथा ११०-११२) में भी इस प्रसंग का उल्लेख है।

३—बौद्ध अनुभुति (अंग-थ०—पृ० १२२) के अनुसार चाणक्य चन्द्रगुप्त को शिक्षा देने के लिये स्वस्थान अर्थान् तक्षशिला ले गया।

हममें सन्देह नहीं कि इसके उपरान्त के समय का चाणक्य ने क्षत्रिय कुमार चन्द्रगुप्त का राज्योचित सर्व प्रकार की शिक्षा दीक्षा देने में उपयोग किया।

हुआ' । मुक्तहस्त से धन व्यय करते हुए उसने लोगों को अपनी सेना में भर्ती किया (लोगों मिलिओ), और फिर एकदम पाटलिपुत्र नगर का घेरा डाल दिया । किन्तु महाराज नन्द की सैनिक शक्ति बहुत बड़ी चढ़ी थी, उसने उल्टे चाणक्य की ही सेना को घेर लिया और संख्या एवं बल आदि में उस अपेक्षाकृत अत्यधिक हीन कोटि की सेना को छिन्न-भिन्न करके भगा दिया । इस अकस्मात् एवं अप्रत्याशित भाग्य परिवर्तन को देख चाणक्य और चन्द्रगुप्त भी अपनी तितर बितर सेना के साथ भागे । इस पर राजा ने अपने कुछ अश्वारोही सेना-नायकों को उन दोनों का पीछा करने और उनके मन्त्राकांक्षी जीवन का अन्त कर देने के लिये रवाना किया । इन पीछा करनेवालों में से एक जब उनके निकट आता दीख पड़ा तो चाणक्य ने तुरन्त चन्द्रगुप्त को तो कमनों से भरे एक समीपवर्ती सरोवर में छिपा दिया और स्वयं धोबी का वेष बनाकर किनारे पर बैठ गया' । जब सवार ने वहाँ पहुँच कर चाणक्य से पूछा कि क्या उसने चन्द्रगुप्त को देखा है, तो धोबी वेषी चाणक्य ने उक्त सरोवर की ओर संकेत करते हुए कहा कि 'वह पानी में घुसा था

१—मोगल्लान तथा वंमत्थपफासिनी के अज्ञात नामा लेखक के अनुसार चाणक्य ने चांदी के जाली सिक्के (कशयण या कार्पाण) बनाये थे और उन्हें विन्ध्य अटवी में किसी स्थल पर पृथ्वी के भीतर गाड़ रक्ता था । इस एरुत्रित विपुल धनराशि का बाद का उसने नन्द साम्राज्य को विजय करने के हित एरु भरी सेना के निर्माण करने में उपयोग किया था—(वंस०—पृ० १२१; महा० गा० ६२)

२—इस प्रसंग में मुख्यशेष के इस कथन से परिशिष्ट पर्व के कथन में एक विशेष अन्तर है । परिशिष्ट पर्व (अ० ८, २५७-२७८) के अनुसार नन्द ने चाणक्य और चन्द्रगुप्त को पकड़ लाने के लिये एक के बाद एक, दो अश्वारोही भेजे थे । जब सादी नामक प्रथम अश्वारोही समीप आता दिखाई दिया तो चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को तो कमलों में आच्छादित एक निकटवर्ती सरोवर में छिप जाने को कहा और स्वयं एक मौनी तरस्वी का वेष बना कर किनारे पर बैठ गया । जब उस सवार ने पास आकर चाणक्य से पूछा कि क्या उसने किसी नवयुवक को उस ओर से भागकर जाते हुए देखा है, तो चाणक्य ने बिना कुछ उत्तर दिये केवल हाथ से सरोवर की ओर संकेत कर दिया । इस संकेत से उसने जानलिया कि चन्द्रगुप्त कहीं छिपा हुआ है । जब वह अपना खड्ग और कवच उतार कर पानी में छुमने का तैयार हुआ तो चाणक्य ने भट्ट तलवार उठाकर उसके दाँ टुकड़े कर डाले । चन्द्रगुप्त तत्काल पानी से बाहर आया और ये दोनों उस विफल प्रयत्न सैनिक का घोड़ा ले वहाँ से नौ दो ग्यारह हुए । भागते हुए मार्ग में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से पूछा 'जब मैंने उम सवार से तलाव की ओर संकेत किया तो तुमने अपने मन में क्या सोचा था' । युवक ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—'यही कि जो कुछ आप कर रहे हैं ठीक ही कर रहे हैं, क्योंकि आप स्वयं भलीभांति जानते हैं क्या उचित है क्या अनुचित ।' इस उत्तर से चाणक्य बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्हें विश्वास हो गया कि राजा होने पर भी चन्द्रगुप्त उनके प्रति वैसा ही भक्त और आज्ञाकारी बना रहेगा । इतने में उन्हें राजा नन्द द्वारा उनका पीछा करने के लिये भेजा गया दूसरा सवार आता दिखाई पड़ा । चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को

और वही छिपा बैठा है।' जब उस असवार ने पानी में छिपे हुए चन्द्रगुप्त को लक्ष्य किया (असवारेण दिष्टो) तो उसने तुरन्त घोड़ा चाणक्य के सिपुर्द किया और अपना खड्ग खोलकर भूमि पर रख दिया। किन्तु जैसे ही पानी में घुसने के अभिप्राय से उसने अपना कवच खोला कि चाणक्य ने तलवार उठाकर उम सैनिकों के दो टूँठ कर दिये। संकेत पाते ही चन्द्रगुप्त पानी से बाहर निकल आया और फिर वे दोनों वहाँ से शीघ्र ही पलायन कर गये। मार्ग में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से पूछा कि जब उसने उस सवार को सरोवर में छिपे चन्द्रगुप्त का पता बताया था तो उसे कैसा लगा था। इस पर चन्द्रगुप्त ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया "मैंने समझा कदाचित्त यही ठीक है, क्योंकि अर्थ स्वयं जानते हैं क्या करना उचित है और क्या नहीं (हृदि एवं चेतनो सोहृणो हवद्, अज्ञो चेत जाणई चि)।" इस उत्तर से चाणक्य अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ, क्योंकि इससे उन्हें न केवल राजा बनने के लिये उस युवक की उपयुक्त पात्रता का ही विश्वास हो गया, वरन गुरु रूप में अपने प्रति भी उसकी गाढ़ श्रद्धा और अडिग भक्ति का अनुभव हुआ।

घूमते घूमते ये दोनों एक दिन एक ग्राम में पहुँचे। एक घर में से किसी बालक के रोने का शब्द आरहा था। ये वहाँ ठिठक गये। इस प्रसंग की जो बर्तें घर भीतर से आती हुई इनके कानों में पड़ीं उनसे इन्होंने जाना कि लड़कें के रोने का कारण यह था कि थाली में परसी गरम खिचड़ी (विलेवी) के बीचोबीच हाथ डालकर उसे उठाकर खाने का उसने प्रयत्न किया था, जिससे उसकी आंगुलियाँ जल गई थीं। उसकी वृद्धी माँ अपने तो फिर से एक निकटवर्ती ताल में घुस कर छिप जाने को कहा और किनारे पर कपड़ा धोते एक धोत्री को यह भय दिखा कर वहाँ से भगा दिया कि राजा धोत्रियों को इस नियम से अत्यन्त रुट है, अतएव यदि वह उस स्थान में ठहरेंगा तो वह जो सवार घंड़ा दौड़ाये चला आ रहा है, उसे मार डालेगा। बेचारा भयभीत धोत्री अपने सब कपड़े लत्ते वहाँ छोड़ चम्पत हुआ, और चाणक्य भूट उसके स्थान पर धोत्री बनकर बैठ गया। इस सवार का भी इसने वही चकमा दिया और तालाब की ओर संकेत कर दिया, जैसे ही वह तलवार और कवच उतार जल में घुसने लगा, चाणक्य ने उसे भी पूर्ववत् तलवार की धार उतारा।

हेमचन्द्र द्वारा वर्णित सादी और चाणक्य का प्रसंग सुखबोध में नहीं दिया हुआ है। आवश्यक चूर्ण में एक ऐसी अन्य कथा भी दी है किन्तु दुर्भाग्य से वह इतनी संक्षिप्त और अस्पष्ट है कि उसकी रूप रेखा जानना भी दुष्कर है। हरिभद्र, देवेन्द्रगणि और हेमचन्द्र ने भी उसकी ओर ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता।

१—इसके उद्गन्त 'आवश्यक' और उत्तराध्ययन'—दोनों अनुश्रुति में एक अन्य विलक्षण कथा दी हुई है जिससे ज्ञात होता है कि इन भगदौड़ में कैसे एक अवसर पर चन्द्रगुप्त भूख के मारे मरणसन्न हो गया था और कैसे चाणक्य ने उसकी प्राण रक्षा की।

२—प्रो० चटर्जी इसे भात या चावल की मंडी (गडम गुप्ल) कहते हैं, हेमचन्द्र इसका अर्थ रन्वा (रवा) करते हैं। हो सकता है यह दूध, चीनी और रवे से बना दलिया जैसा कोई पदार्थ हो।

सब पुत्रों को भोजन जिमा रही थी। इस लड़के के इस प्रकार अपने हाथ को जला लेने पर वह उसकी ताड़ना करने लगी। बुद्धिया कह रही थी 'तू भी चाणक्य ही जैसा मूर्ख है' यह भी नहीं जानता भोजन किस तरह किया जाता है'। अपना नाम और इन अद्भुत शब्दों में अपनी यह विलक्षण प्रशंसा सुनकर चाणक्य को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह बुद्धिया के सम्मुख जा पहुँचा और उससे पूछा कि उसकी इस अनुपम उपमा का क्या आशय है ? इस पर उस चतुर स्त्री ने उससे कहा "क्या तुम नहीं जानते कि उस मर्दा मूर्ख चाणक्य ने अपने पृष्ठ भाग को सुरक्षित बनाये बिना ही और अत्यधिक अपर्याप्त सैन्य बल के बूते पर ही स्वयं नन्द की राजधानी पर अंधाधुंध धावा बोल दिया और परिणाम स्वरूप बुरी तरह पराजित हुआ। उसे चाहिये था कि पहिले सीमा प्रदेशों में युद्ध चालू करता और शनैः शनैः उन्हें जीतता और सुगठित रूप में अपने आधीन करता हुआ तब फिर राज्य के अन्तः में प्रवेश करता। इसी प्रकार इस लोभी लड़के ने खिचड़ी को किनारों के पास से खाना प्रारंभ करने के बजाय जल्दबाजी करके एक दम उसके सर्वाधिक गरम मध्य भाग में ही अपनी अंगुलियाँ डाल दीं और फलतः उन्हें जला लिया।" ११

चतुर वृद्धा के इस सुझाव से लाभ उठाकर चाणक्य ने अब अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया। वह पहिले हिमवत्कूट के राजा पर्वत के पास गया और उससे मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया। चाणक्य ने उसे बचन दिया कि नन्द को राज्यच्युत करलेने के पश्चात् उसके राज्य को चन्द्रगुप्त और पर्वत के बीच समभाग में विभाजित कर दिया जायगा १०। पर्वत इन शर्तों पर साथ देने के लिये राजी हो गया और उसने इस प्रयोजन के लिये आवश्यक सैनिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया। तदुपरान्त पर्वत और चन्द्रगुप्त की संयुक्त सेनाओं ने नन्द राज्य पर आक्रमण किया। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार पहिले उन्होंने सीमान्त प्रदेशों को हस्तगत करना प्रारंभ किया और उनपर अपना अधिकार सुदृढ़ करके शनैः शनैः उसके अन्तर में प्रवेश किया। किन्तु एक महत्त्वपूर्ण नगर पर आक्रमण करते समय उनकी प्रगति को भारी धक्का लगा और उनकी योजना विफल होती

२६—वृद्धा और उनके पुत्र की इस कथा से मिलनी जुनती एक कथा बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध होती है—(महा० १४१-१४६; वंमस्थ० पृ० १२३)

२७—गौड़ अनुश्रुति के अनुसार पर्वत राजा, धनानन्द का पुत्र था। ब्राह्मण अनुश्रुति में उसका पर्वतक, पर्वतेन्द्र अथवा पर्वतेश नाम से उल्लेख हुआ है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस (६ठी शताब्दी), रत्ननर्तक की चाणक्य कथा (१६१५ ई०), अनन्त कविकृत 'मुद्राराक्षस पूर्व संकथा' (१६६० ई०) और टीकाकार दुर्दिराज कृत मुद्राराक्षस व्याख्या (१७१४ ई०) के अनुसार यह व्यक्ति भलेजों का राजा था और स्वयं भी भलेज था। उसका राज्य पाटलिपुत्र से उत्तर पश्चिम ६०० मील की दूरी पर स्थित था। नन्द के राज्य का अर्द्धभाग प्राप्त करने की चाणक्य द्वाग दिलाई गई भूठी आशा के प्रलोभन में फँस कर उसने मगध पर आक्रमण किया। उसकी सेना में यवन, शक, काम्बोज, पारसीक, किरात, खस, पुलात, शबर, वाल्हीक और हूण जातियों

दीख पड़ी। उक्त नगर की रक्षिका इष्ट देवियों के प्रसाद से वह नगर अजेय सिद्ध हुआ। बहुत दिन तक घेरा डाले पड़े रहने का भी उसपर कोई प्रभाव नहीं हुआ। अतः चाणक्य ने एक युक्ति सोची त्रिदण्डी साधु के छद्मवेध में उन्होंने उक्त नगर में प्रवेश किया और उन नगर देवियों—इन्द्रकुमारिकाओं के दर्शन किये जिनके कि कारण वह नगर अजेय बना हुआ था^८। उस नगर के निवासी भी इस दीर्घकालीन घेरे से त्रस्त हो उठे थे। अब और अधिक सहन किये जाना उनकी शक्ति से बाहर होता जा रहा था।

के सैनिक सम्मिलित थे। युद्ध में नवीं नन्द काम आये और पर्वतक ने पाटलिपुत्र पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त उसने सारे ही राज्य को अपने अधिकार में रखने के लोभ से नन्दों के भूतपूर्व मन्त्री राक्षस के साथ मिलकर चन्द्रगुप्त के विरुद्ध षड्यन्त्र किया किन्तु उसकी योजना सफल होने के पूर्व ही एक विप कन्या के संमर्ग द्वारा पर्वतक का प्राणनाश हो गया। इस विप-कन्या को वास्तव में, राक्षस ने चन्द्रगुप्त की हत्या करने के उद्देश्य से भेजा था, किन्तु चतुर चाणक्य ने उसे नीव में से ही उस विश्वासघाती म्लेच्छ राजा के पास भेज दिया, और अपने कौशल से चन्द्रगुप्त के मार्ग का कंटक दूर कर दिया।

डा० हर्मन जैकांजी के मतानुसार यह पर्वत बौद्ध पार्वतीय वंशावली में उल्लिखित नेपाल के किरात वंश का ग्यारहवाँ राजा पर्व उपनाम पंचम था। इस वंश का सप्तम नरेश जितेदास्ती बुद्ध का समकालीन था और चौदहवाँ राजा स्यूंक अशोक का। जैन परिशिष्ट पर्व में भी अशोक के नेपाल जाने का उल्लेख है।

प्र० चटर्जी का कहना है कि यद्यपि गोकर्ण (नेपाल) के एकादशम किरात नरेश पर्व अथवा पंचम की ऐतिहासिकता में भले ही कोई सन्देह न किया जाय किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि चाणक्य जैसा राजनीति का महान पंडित और युद्ध नीति में विचक्षण व्यक्ति अन्तिम नन्दनरेश जैसे शक्तिशाली राजा का उन्मूलन करने के लिये कैसे एक असभ्य मंगोल जातीय पहाड़ी राजा की साधारण-सी सैनिक सहायता पर निर्भर हो सका? नन्द की शक्ति कुछ मामूली नहीं थी। सिकन्दर महान के संसार विजेता महापराक्रमी योद्धाओं का साहस भी उसकी सीमा में प्रवेश करने का न हो सका था। सिकन्दर की बलवती इच्छा रहते हुए भी वह अपने सैनिकों को वैना करने के लिये राजी न कर सका और लाचार उसे मगध राज्य की सीमा पर से ही वापस लौट जाना पड़ा था। नहीं कहा जा सकता कि उत्तर कालीन जैन लेखकों (२००—११५० ई०) ने मौर्य सम्राटों की दरबारी अनुश्रुति का कहीं तक अनुसरण किया है। वे भी उसका 'पार्वतिको राजा' अथवा 'हिमवतकृतपाथिव' आदि नामों से उल्लेख करते हैं। जैन कथा साहित्य में भी पर्वत का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता और प्रचीन जैन लेखक उसके विषय में क्या जानते थे यह जानने का भी अभी कोई साधन उपलब्ध नहीं है।

१—इन्द्र कुमारियों का हिन्दू पौराणिक परम्परा में कोई उल्लेख नहीं मिलता। हेमचन्द्र उन्हें 'सप्तमातृका' नम्नी देवियों समझते हैं। ब्राह्मण परम्परा में सप्तमातृकाओं के दो समूह माने जाते हैं—एक महाभारत में वर्णित और दूसरा कतिपय पुराणों तथा कुछ शैव ग्रन्थों में वर्णित। ये शिव के पुत्र स्कंद की रक्षिकाएँ अथवा छाहियें मानी जाती हैं। युद्ध के देवता की रक्षिका होने से ऐमा विश्वास प्रचलित था कि वे अपनी शरण में आने वाले नृपतियों की रक्षा

वे सब इस नवागन्तुक संन्यासी के पास पहुँचे और पूजा कि 'महाराज अब कितने दिन यह युद्ध और चलेगा ?' उसने गंभीरता पूर्वक उत्तर दिया 'जब तक नगर में ये देवियाँ बनी रहेंगी, युद्ध चलता रहेगा।' नगरनिवासी इस छत्रवेणी संन्यासी के छल को न भौंप सके। उन्होंने तुरन्त सब देवी मूर्तियों को उखाड़ कर अन्यत्र पहुँचा दिया। चाणक्य ने तुरन्त चन्द्रगुप्त और पर्वत के पास यह समाचार भेज दिया और नगर पर तत्काल ज़ोर का आक्रमण करने का आदेश दिया। जब विपत्ति का निकट अन्त होने की आशा के आनन्द में फूले हुए नगर निवासी असावधान हो रहे थे तो आक्रमणकारी सेना ने एक ज़ोरदार धावे में ही नगर को सुगमता से हस्तगत कर लिया। अब तो एक के पश्चात् नगर, ग्राम, दुर्ग, गढ़ उनके हाथ आते चले गये और चाणक्य के नेतृत्व में इस विजयी सेना ने शीघ्र ही पाटलिपुत्र पर्यन्त समस्त प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् दोनों नायक—चन्द्रगुप्त और पर्वत ससैन्य नन्दराजधानी पाटलिपुत्र की ओर अग्रसर हुए और उसका घेरा डाल दिया। भीषण आक्रमण और युद्ध के पश्चात् राजानन्द ने 'धर्मद्वार' नामक नगरद्वार के निकट आत्म-समर्पण कर दिया और चाणक्य से प्राणरक्षा की याचना की। चाणक्य ने द्रवित हो उसे सपरिवार नगर और राज्य का त्याग कर अन्यत्र चले जाने की अनुमति दे दी और यह भी कह दिया कि अपने साथ अपने रथ में जितना धन वह ले जा सके वह भी ले जाय। अस्तु, राजानन्द ने अपनी दो पत्नियों और पुत्री के साथ जितना धन वह ले जा सका लेकर रथ में सवार हो नगर का परित्याग कर दिया। जाते हुए मार्ग में नन्द की कन्या—दुधरी अथवा सुप्रभा ने चन्द्रगुप्त को जो देखा तो वह प्रथम दृष्टि में ही उसपर मोहित होगई और फिर फिर कर प्रेम व्याकुल दृष्टि से उसकी ओर देखने लगी। चन्द्रगुप्त की भी वही दशा हुई और वह भी अपनी दृष्टि उग सुन्दरी की ओर से न हटा सका।

करती हैं। शिलालेखों से पता चलता है कि प्रचीन कदंब और चालुक्य नरेशों (जिनमें से अनेक जैनधर्मानुयायी थे) में इन सप्तमातृकाओं की मान्यता थी। हेमचन्द्र के अनुसार तो वह नगर भी सुरक्षित और अजेय हो जाता था जहाँ इन देवियों की पूजा प्रतिष्ठा होती थी (परि० ८, ३०३) गंगधार और विहार शरीफ से प्राप्त अभिलेखों से अनेक नगरों में इन देवियों की सार्वजनीन पूजा प्रतिष्ठा का क्रिया जाना भी सिद्ध होता है (कार० इत्स० इन्ड, ३, पृ० ४६, ७६) जैन परम्परा की इन्द्र कुमारिकाएँ अथवा सप्तमातृकाएँ ब्राह्मण परम्परा की तन्नाम देवियों से भिन्न हैं, यद्यपि उनकी उपासना का उद्देश्य और उनका प्रभाव प्रायः वही है।

१—पगिशिष्ट पर्व—अ० ८ पृ० ३११-३१८

२—यह 'धर्मद्वार' निदान क्या जातक का महाद्वार और अर्थशास्त्र का ब्रह्मद्वार ही प्रतीत होता है। किन्तु हेमचन्द्र ने इस पद का यह अर्थ किया है कि नन्द ने धर्म की दुहाई देकर सुरक्षित चले जाने देने की याचना की।

अपनी पुत्री की यह अकस्मात् प्रेमाकुल दशा नन्द की आँखों से न छिपी रही। क्योंकि वह एक क्षत्रिय राजकुमारी थी उसके पिता ने स्वयंवर प्रथा के अनुसार चन्द्रगुप्त के साथ विवाह करने की उसे सहपे अनुमति दे दी। इस विवाह के लिये पिता की अनुमति प्राप्त करते ही राजकुमारी सुभगा अपने रथ से उतरी और उगने चन्द्रगुप्त के रथ के पहिये पर पैर रक्खा कि उसके नौ आरे तड़ाक से टूट गये (नव आरगा भग्ना)। चन्द्रगुप्त ने इस घटना को भावी 'प्रमंगल की सूचक जान राजकुमारी से नीचे उतर जाने की प्रार्थना की। किन्तु चाणक्य ने इसे एक शुभ शकुन समझा और उसे रथ पर सवार हो जाने के लिये कहा। चन्द्रगुप्त को अश्वन्त करते हुए कहा कि पहिये के इन नौ आरों के टूटने का फल यह है कि तुम्हारा वंश तुम्हारे पीछे नौ पीढ़ी पर्यन्त चलेगा।

तत्पश्चात् विजयी चन्द्रगुप्त और पर्वत ने चाणक्य के साथ राजमंडल में प्रवेश किया और नन्द के राज्य का तथा उनकी विपुल धन सम्पत्ति का परस्पर वटवारा किया। राजमहल में पर्वत को एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या दिखई पड़ी जिसपर वह एकदम लुब्ध हो गया और उसने उस सुन्दरी से विवाह करने की इच्छा प्रकट की। चाणक्य ने बिना

१—नन्दों की जाति के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं मिलती। कुछ उत्तर कालीन जैन ग्रन्थों के अनुसार उदचन का उत्तराधिकार प्रथम नन्द नरेश एक गणिका से उत्पन्न दिवाकीर्ति नामक नापित का पुत्र था (परि० ६, २३१-२३२; विविध तीर्थ कल्प, पृ० ६८) जैसे साहित्य में नन्द सर्वत्र जैनवर्मानुयायी करके ही उल्लेखित हुए हैं आगे उनमें से एक नन्द नरेश तो जैनधर्म का परम भक्त था (स्वर्ग्वेल का हार्थीगुंफा शि० ले० पं० १२)। युनानी लेखक भी प्रसियोइ और मेगस्ट्रिड के तत्कालीन नरेश का हीन कुल अथवा नापित कुमार होना कथन करते हैं और कहते हैं कि उनकी प्रजा उसने घृणा कर ली थी (करटियम, डिडरो, प्लुटार्क आदि)। भागवत पुराण में उसे 'शूद्र गर्भोद्भव' आर विष्णु पुराण में इसके वंशजों को 'शूद्रभूमिसाला' कहा है। पाणिनी के अनुसार नापित आर्य समाज के 'अनिर्वासित शूद्र थे।

किन्तु नन्दों के हीन कुलत्वज्ञ होने सम्बन्धी इन उल्लेखों के विरोध में स्वयं हेमचन्द्र ने नन्द नरेश को क्षत्रिय आर उनकी पुत्री को 'क्षत्रिय कन्या' कहा है (परि० ८, ३२०) जैन कथा साहित्य में अन्यत्र भी नन्दों को क्षत्रिय ही माना है, आर संभवतः वे ब्राह्मण क्षत्रियों में से थे। विशाख-दत्त, इग्विचाक्रय तथा दुर्दिगज के मतानुसार भी महागज सर्वार्थमिद्धि नन्द और उनके नौ पुत्र (नव नन्दाः) जन्मजात क्षत्रिय थे। बौद्ध लेखक इस ऐतिहासिक समस्या पर कई प्रकार नहीं डालते। वंशस्थपकसिनी में केवल इतना उल्लेख है कि नन्द वंश का संस्थापक और नौ भाइयों में सब से ज्येष्ठ-उगसेन (उग्रमेन) अज्ञातकुलोत्पन्न था।

२—उत्तराध्ययन की परम्परा के आधार पर देवेन्द्र गणिके मतानुसार मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त सहित दश सम्राट हुए। आवश्यक सूत्र महित्य की अनुश्रुति और हेमचन्द्र भी दश ही मौर्य नरेशों का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण पुराणों में मत्स्य, विष्णु और भागवत के अनुसार भी उनकी संख्या दश ही थी, केवल वायु और ब्रह्माण्ड पुराणों में नौ के होने का उल्लेख है। अतः बहु सम्मत संख्या दश ही है।

आना-कानी क्रिये तत्काल विवाह की तैयारियाँ शुरू कर दीं। किन्तु पर्वत के दुर्भाग्य से वह कुमारी एक विषकन्या थी। चाणक्य इस बात को मनी भाँति जानता था और इस विवाह का क्या परिणाम होगा यह पूर्णतया जानने हुए ही उसने इस सम्बन्ध के लिये सहर्ष स्वीकृति दी थी। विवाह संस्कार के अवसर पर अग्निप्रदक्षिणा देते समय पर्वत ने जो उस विषकन्या का हाथ पकड़ा तो गरमी के कारण उसके शरीर से निकले स्वेद का सम्पर्क होते ही पर्वत पर विष ने प्रभाव किया, और द्रुन वेग से उसके शरीर में फैलने लगा। आन्न मृत्यु के मुख में पड़े पर्वत की करुण पुकार सुनकर चन्द्रगुप्त उसकी सहायता को दौड़ा और उसका उपचार करना चाहा। चाणक्य ने भृकुटि विज्ञेय द्वारा उसे ऐसा करने से रोक दिया और औषधोपचार के अभाव में पर्वत ने शीघ्र ही प्राण त्याग दिये।

चाणक्य ने इस प्रकार नन्द और पर्वत दोनों के राज्यों को एक साथ निर्वाध प्राप्त कर चन्द्रगुप्त को सिंहासनारूढ़ किया। यह घटना भगवान महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद घटी। लगभग २५ वर्ष चन्द्रगुप्त ने राज्य किया और चाणक्य ने उसका मन्त्रित्व तदुपरान्त चन्द्रगुप्त तो पुत्र विन्दुसार को राज्य सौंप अपने धर्मगुरु भद्रबाहु का अनुसरण करते दक्षिण की चले गये और जैन मुनि हो गये, और चाणक्य कुछ काल तक विन्दुसार का मन्त्रित्व करते रहे, तत्पश्चात् वे भी जैन मुनि हो गये। जैन साहित्य में एक बड़े भारी तपस्वी मुनि के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। अति प्राचीन दि० जैन ग्रंथ

१—'मुद्राराक्षस नाटक' के अनुसार वृद्ध राजा सर्वार्थसिद्धि नन्द की हत्या के उपरान्त उसके मंत्री राक्षस ने एक अतीव सुन्दरी विषकन्या का मुगांग नामक राजमंदिर में इस उद्देश्य से भेजा था कि चन्द्रगुप्त उसके रूप पर मुग्ध होकर उसके संतर्ग से मृत्यु का प्राप्त होगा। किन्तु उसकी इस चाल का चाणक्य का पता चल गया और उसने कांशल से उस कन्या को विश्वासघाती पर्वतक के पास भेज दिया और उसके संतर्ग से पर्वतक की मृत्यु हो गई। एक यूनानी ग्रन्थ के अनुसार एक भारतीय रानी ने सिकन्दर महान से बदला लेने के लिये उसके पास भेंट स्वरूप एक विष कन्या भेजी थी, किन्तु उसके गुरु अरस्तु के कौराल से यह प्रयत्न व्यर्थ हो गया था। आचार्य मुश्रुत ने (मु० सं०—कलस्थान, १, ३) भी यह प्रतिपादन किया है कि विष कन्या का शरीर इतना विपाक होता है कि उनके साथ संभोग करने वाले व्यक्ति का प्राणान्त हो जाता है।

२—हेमचन्द्र के परिशिष्ट पर्व, भद्रेश्वर की 'कहावली' तथा अन्य जैन आधारों से चन्द्रगुप्त के राज्यारोहण की तिथि महावीर निर्वाण संवत् १५५ ही सिद्ध होती है। कुञ्ज जैन ग्रन्थों में उल्लिखित उज्जयनी नरेश पालक के राज्यकाल के ६० वर्षों का इन १५५ वर्षों में भ्रम से जोड़ कर कई आधुनिक विद्वान जैन अनुश्रुति के अनुसार चन्द्रगुप्त का समय महावीर निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् प्रतिपादन कर देते हैं वास्तव में इस तिथि का निश्चित करने में १८-१६ वीं शताब्दी के यूरोपीय प्राच्यविदों ने एक भारी मौलिक भूल की थी जो यूनानी लेखकों के सैन्ट्राकोटस का मार्थ चन्द्रगुप्त से समीकरण करने के कारण हुई थी। इस भूल का निराकरण कई विद्वानों ने २० वीं शताब्दी में करने की चेष्टा की किन्तु अधिकांश बहुमत इसके पक्ष में रहने से इसकी पुष्टि होती

‘भगवती आराधना’ में चाणक्य के मुनि जीवन का और अन्त में घोर उपसर्ग सहन कर समाधि मरण द्वारा सद्गति प्राप्त करने का वर्णन है’ ।

चली गई यहाँ तक कि अब इस भूल का उन्मूलन एक अशक्यानुष्ठान ही प्रतीत होता है । सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के समकालीनत्व को मानकर ही भारतीय इतिहास की पूर्वोपर कालानुक्रमणिका स्थिर की गई और उस भूल के फलस्वरूप अनेक महत्त्वपूर्ण तिथियों में जो अत्यधिक प्रबल पुष्ट एवं प्राचीन आधायों तथा प्रमाण बाहुल्य से कुञ्ज और सिद्ध होती हैं, वास्तविक से भिन्न मानी जा रही हैं—ऐसे अनेक उदाहरणों में से महावीर और बुद्ध की निर्वाण तिथियों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं ? प्रो० चटर्जी भी आधुनिक विद्वद् परम्परा के अनुसार ही चन्द्रगुप्त का समय २२३ ई० पू० मानकर महावीर निर्वाण ४७६ ई० पू० में होना कथन करते हैं, जिसकी वास्तविक तिथि ५२७ ई० पू० है ।

१—अनेकान्त २, १



जैन-ग्रन्थों में क्षेत्रमिति—१

[ले०—श्रीयुत् प्रो० राजेश्वरी दत्त मिश्र, एम० ए०, शास्त्री]



क्षेत्रमिति गणित शास्त्र का सबसे उपयोगी अंग है। इसे पाटीय ज्यामिति कह सकते हैं। जैन-ग्रन्थों में भी इस अंग पर जैन-दर्शन के सिलसिले में काफी चर्चा मिलती है। पट्खण्डागम में इस पर क्षेत्रानुगम नाम से एक बड़ा भाग ही उपलब्ध है। केवल गणित के ग्रन्थ भी जैन आचार्यों के उपलब्ध हैं, जिसमें क्षेत्रमिति पर काफी लिखा है, जैसे महावीराचार्य का गणित-सार-संग्रह और उमास्वाति का क्षेत्र समास। इन ग्रन्थों के पढ़ने से भारतीय गणित की परम्परा पर काफी प्रकाश पड़ता है किन अंगों तक भारतीय ज्यामिति ग्रीक देशीय रही, और कितनी स्वतन्त्र इन सबकी चर्चा संक्षेपतः इस लेख में की जायगी।

पहले हम त्रिभुज पर विचार करें। आधुनिक मत से ग्रीक देशीय मतानुसार त्रिभुज छः प्रकार के होते हैं, तीन भुजा के दृष्टि कोण से और तीन कोण के लिहाज से। महावीराचार्य के गणितसार संग्रह में त्रिभुज की तीन ही प्रकार की चर्चा मिलती है। पर भुजा के लिहाज से, कोण के हिसाब से नहीं। हाँ, समकोण त्रिभुज का गणित अवश्य मिलता है। यह बात अन्यान्य भारतीय आचार्यों के लिए भी ठीक है। अस्तु!

त्रिभुज के स्थूल क्षेत्रफल के लिए महावीराचार्य ने जो नियम लिखे हैं, वे विचित्र हैं। नियम इस प्रकार हैं:—

'त्रिभुज चतुर्भुजवाहुप्रतिवाहुसमासदलहतं गणितम्' इसको व्याख्या यों की जाती है:— यदि ABC एक त्रिभुज है जिसका आधार BC है तो, AB, और AC भुजाएँ बाहु-प्रतिवाहु कही जायँगी और क्षेत्रफल = $\frac{a}{2} \times \frac{b+c}{2}$ पर यह मान काफी भ्रामक है, क्योंकि $b+c > \text{altitude}$.

सूत्रमान के लिए निम्नलिखित नियम मिलते हैं:—

$$\Delta = \sqrt{S(S-a)(S-b)(S-c)}$$

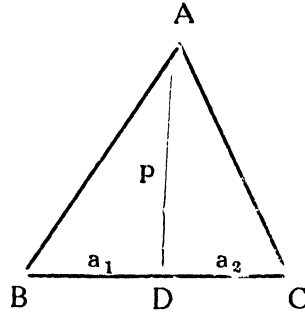
$$= \frac{a}{2} \times p \text{ यहाँ } p \text{ त्रिभुज की ऊँचाई है।}$$

इन दोनों गिनतों में ग्रीक देशीय नियमों से कोई अन्तर नहीं है।

शीर्ष बिन्दु से आधार पर लम्ब खड़ा करने से आधार के दोनों टुकड़ों का मान निकालने की रीति महावीराचार्य के ग्रन्थ में वर्तमान है:—

$$a_1 = \frac{1}{2} \left(a + \frac{c^2 - b^2}{a} \right)$$

$$a_2 = \frac{1}{2} \left(a + \frac{b^2 - c^2}{a} \right)$$



ये दोनों नियम Euclid के ज्यामिति के अनुसार ही हैं। लम्ब के लिए उपर्युक्त ग्रन्थ में निम्नलिखित नियम आया है:—

$$p = \sqrt{c^2 - a_1^2} = \sqrt{b^2 - a_1^2}$$

जो समकोण त्रिभुज के नियम के अनुकूल है।

Properties of Δ की पूरी जानकारी महावीराचार्य को थी। इसका प्रमाण उनका जन्म प्रकरण है, और पैसाचिक प्रकरण है। उदाहरणार्थ यदि ABC एक वृत्तगत त्रिभुज हो और AE उसका लम्ब हो, तो वृत्त के व्यास के लिए निम्नलिखित सूत्र की प्रवृत्ति होती है:—

$$\text{व्यास} = p = \frac{AB \times BC}{BE}$$

पर एक विशेष ज्ञातव्य यह है कि चापीय त्रिभुजों और चतुर्भुजों में प्रतल (Plane) त्रिभुजों और चतुर्भुजों के नियम व्यवहृत किए गए हैं। महावीराचार्य के संग्रह में हाथी दांत का प्रश्न और पट्टखण्डागम में अत्रालोक के सूर्याकार क्षेत्र के त्रिभुज और चतुर्भुज के गणित से यह बात स्पष्ट है।

चतुर्भुज

पाँच प्रकार के चतुर्भुज का उल्लेख गणित-सार-संग्रह में मिलता है:—(१) वर्ग (२) आयत (३) द्विसम चतुर्भुज Isocoless trapezium or trapizium with oblique sides equal (४) त्रिसम चतुर्भुज Equilateral quadrilateral) (५) विषम चतुर्भुज। अगर ABCD चतुर्भुज के $AB = a$, $BC = b$, $CD = c$, $DA = d$,

$$\text{स्थूलतः चतुर्भुज} = \frac{a+c}{2} \times \frac{b+d}{2}$$

पर यह मान तभी एकदम ठीक है जब चतुर्भुज वर्ग हुआ या आयत। अन्य हालत में यह मान भ्रामक भी हो सकता।

चतुर्भुज के सूत्र मान के लिए दो नियम उपलब्ध हैं।

$$(१) \text{ चतु० क्षेत्र} = \sqrt{(s-a)(s-b)(s-c)(s-d)}$$

$$(२) \text{ चतु० क्षेत्र} = (b+d) \frac{h}{2}$$

पहला नियम केवल वृत्तगत चतुर्भुज के लिये सही है पर ऐसी बात ग्रन्थ में नहीं लिखी मालूम पड़ती।

और दूसरा नियम Trapezium के लिए या जब $b=d$ है तब ही ठीक। यह नियम विषम चतुर्भुज में नहीं लागू हो सकता।

चतुर्भुज के कर्णों के लिए निम्नलिखित नियम मिलता है।

$$\text{कर्ण} = \sqrt{\frac{ac+bd}{ad+bc}(ab+cd)}$$

$$a = \sqrt{\frac{ac+bd}{a^2+cd}(ab+cd)}$$

जो केवल वृत्तगत चतुर्भुज के लिये ही सही है।

पर समूची भारतीय-गणित-परम्परा में महावीराचार्य ही एकमात्र आचार्य हैं, जिन्होंने Re entrant चतुर्भुजों की कल्पना की है।

वृत्तगत चतुर्भुज का भी उल्लेख महावीराचार्य ने विस्तार से किया है। ऐसे वृत्त का

$$\text{व्यास} = \text{क्षेत्रफल} \div \frac{\text{क्षेत्रपरिमिति}}{4}$$

Isosceles Trapezium के बारे में त्रिलोकार (गाथा ११४) में तीन नियम मिलते हैं:—

$$(१) \text{ क्षेत्रफल} = \frac{1}{2}h(a+b)$$

जहाँ a, b , समानान्तर भुजाओं के माप हैं वहाँ इन्हें आधार और मुख को भुजाएँ माना गया है। यह नियम तो किसी तरह के Trapezium के लिए सही है पर वहाँ ऐसा उल्लेख नहीं है।

(२) b की, हानि या a की वृद्धि

$$a = \frac{b-a}{h} \text{ के हिसाब से होती है।}$$

(३) किसी ऊँचाई h' पर समानान्तर भुजा के माप को निकालने की रीति।

$$b - \frac{b-a}{h}h'$$

महावीराचार्य के गणित संग्रह में किसी त्रिभुज, चतुर्भुज, वृत्त आदि को समानुपाती क्षेत्र में बाँटने के नियम भी वर्तमान हैं।

वृत्त

गजवार्तिक और तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य में वृत्त गणित पर निम्नाङ्कित नियम उपलब्ध हैं:—

$$(i) \text{ परिधि} = C = \sqrt{10d^2} \quad d = \text{व्यास}$$

$$(ii) \text{ क्षेत्रफल} = A = \frac{1}{2}cd$$

$$(iii) \text{ जीवा} = C = \sqrt{4h(d-h)} \quad h = \text{चार की ऊँचाई}$$

$$(iv) \text{ वृत्त खण्ड का चाप} = a = \sqrt{6h^2 + c^2}$$

$$(v) h = \frac{1}{2}(d - \sqrt{d^2 - c^2})$$

$$(vi) \text{ व्यास} = d = \left(h^2 + \frac{c^2}{4} \right) / h$$

$\pi = \sqrt{10}$ ऐसा मानने का जैन-शास्त्रों में काफी प्रचार है पर यह ग्रीक देशीय मान से प्रथम दशमलव बिन्दु तक मिलता है।

$$\left. \begin{array}{l} \sqrt{10} = 3.162 \\ = 3.142 \end{array} \right\} \text{ तीन दशमलव बिन्दु तक}$$

$$\text{Relative error} = \frac{.02}{3.142} = \frac{20}{3142} \text{ जो काफी तुच्छ है।}$$

परिधि के लिए $= \sqrt{10d^2} = d\sqrt{10}$ यह आधुनिक नियम के समान ही है। पर यह पता नहीं चलता कि इस निष्कर्ष पर जैन आचार्य कैसे पहुँच पाये। पट्टखण्डागम में परिधि के लिए अधोलिखित नियम मिलता है:—

$$\text{परिधि} = \frac{\text{व्या०} \times १६ + १६}{११३} + ३ \text{ व्या०}$$

पर इस मान से और आधुनिक मान से काफी अन्तर पड़ता है। महावीराचार्य ने शायद इसी लिए इस नियम का व्यवहार अपने गणित-सार-संग्रह में नहीं किया है।

क्षेत्रफल के लिए तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में जो नियम मिलता है उसका उल्लेख लीलावती में भी है। इस रूप को πr^2 के रूप में लाया जा सकता है पर $\frac{1}{2}cd$ का ही व्यवहार धर्मग्रन्थों में मिलता है जबकि महावीराचार्य ने $\sqrt{10t}$ का व्यवहार किया है।

क्षेत्रफल के लिए त्रिलोक-सार (गाथा-७६२) में एक और नियम मिलता है। वह नियम यह है:—

$$A = \frac{1}{2}(c+b)h.$$

यही जीवा और चाप की ऊँचाई के शब्दों में है। उसी सूत्र में यह कहा गया है कि यही सूत्र मान है और $\frac{1}{2}cd$ यह स्थूल मान है पर इस निष्कर्ष पर पहुँचने का क्या मार्ग है। यह वहाँ नहीं लिखा है।

Chord = $\sqrt{4h(d-h)}$ यह नियम आजकल भी प्रचलित है। जीवा के लिये त्रिलोक-सार (गाथा ७६६) में एक और नियम मिलता है : वह यह है,

$$\text{जीवा} = \sqrt{\text{arc}^2 - 6h^2}$$

साथ ही चाप^(१) के लिए दो नियम उपलब्ध हैं,

$$(i) \text{ चाप} = \sqrt{6h^2 + c^2} \text{ (२)}$$

$$(ii) \text{ चाप}^2 = 4h \left(h + \frac{h}{2} \right)$$

चाप के लिए पहले नियम की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कल्पनाएँ की जा सकती हैं।

प्रथमतः शायद आचार्यों ने चापार्ध जीवा और चापार्ध में कोई अनुगत पाया हो, क्योंकि—

$$\text{चापार्ध जीवा} = \sqrt{\frac{c^2}{4} + h^2}$$

द्वितीय कल्पना यह हो सकती है,

$$\text{अर्ध परिधि} = \sqrt{10r} = \sqrt{10r^2} = \sqrt{6r^2 + 4r^2}$$

अर्ध परिधि में r = चाप की ऊँचाई और व्यास = जीवा पर चूँकि चापार्ध जीवा का वर्णन नहीं मिलता अतएव दूसरी कल्पना अधिक मान्य है। ऐसी हालत में जीवा का चाप और उसकी ऊँचाई के शब्दों में नियम ठीक है, पर स्वयं नियम (i) सही नहीं है। आजकल के हिसाब से चाप के लिए निम्नलिखित समीकरण मिलता है:—

$$\text{चाप}^2 + F_1 \text{ चाप} + F_2 = 0,$$

जहाँ F_1 और F_2 , h , c के फल (Function) हैं।

रही दूसरे नियम की बात। चाप की ऊँचाई और व्यास के शब्दों में चाप का यह रूप आजकल उपलब्ध नहीं है, बल्कि चतुर्थ घातीय समीकरण का रूप मिलता है^(१)।

वृत्त खण्ड की ऊँचाई के लिए भी तीन नियम मिलते हैं:—

$$(i) h = \frac{1}{2} (d - \sqrt{d^2 - c^2})$$

$$(ii) h = \sqrt{\frac{d^2 - c^2}{6}}$$

1—Heron (Greek) c, 200 के अनुसार $a = \sqrt{4h^2 + c^2} + \frac{h}{4}$ or $= \sqrt{4h^2 + c^2}$

$$+ (\sqrt{4h^2 + c^2} - c) \frac{h}{c}$$

२—सद्य क्षेत्र समासः—दृष्टवर्गे षड्गुणे जीवावगस्युते मूल भवति धनुः पृष्ठम् ॥

3—arc = $\frac{8h - 2c}{3}$ when L = chord of half arc, $2c$ - chord $l = \sqrt{hd}$, $2c$

= $\sqrt{4h(d-h)}$. सरल करने पर arc का Expression मिलेगा।

$$(iii) h = \sqrt{d^2 + \frac{1}{4}a^2} - d \text{ (त्रिलोक सार)}$$

पहला नियम तन्वार्थाधिगम सूत्र और त्रिलोकसार तथा दूसरा नियम उमास्वाति के क्षेत्र-समास तथा त्रिलोकसार में मिलता है। दूसरे नियम के विषय में कुछ नहीं कहना है, पर पहला नियम आजकल का-सा है। अन्तर केवल इतना ही है कि करणी के पहले (+) चिन्ह भी होना चाहिए था। जैन आचार्यों ने, जैनतर आचार्यों ने भी, यह नहीं ख्याल किया कि कोई जीवा वृत्त को दो हिस्से में बाँटती है। पहला नियम लीलावती में भी मिलता है। उपर्युक्त नियम महावीराचार्य के गणितसार संग्रह में भी मिलते हैं जो केवल गणित की पुस्तक है। स्थूल मान के लिए तो महावीराचार्य ने ६ के स्थान पर ५ का व्यवहार किया है।

व्यास के सम्बद्ध में भी दो नियम मिलते हैं।

$$(i) d = \frac{c^2 + 4h^2}{4h} \text{ (तन्वार्थाधिगम सूत्र, और त्रिलोकसार)}$$

$$(ii) d = \frac{1}{2} \left(\frac{a^2}{2h} - h \right)$$

पहला नियम तो आजकल भी सही माना जाता है, पर दूसरा नियम ठीक नहीं उतरता। त्रिलोकसार (गाथा १८) में व्यासार्ध के बारे में एक समीकरण मिलता है, वह यह है।

$$\text{व्यासार्ध} = r = \frac{9}{16} S$$

r उस वृत्त का व्यासार्ध है जो S भुजिय वर्ग के बराबर है। अतएव $r = \left(\frac{16}{9}\right)^2$

Sector की चर्चा कहीं नहीं मिलती।

Segment को धनु कहा गया है और उसके क्षेत्रफल के बारे में महावीराचार्य का नियम है:-

$$\text{क्षेत्रफल} = C \times \frac{h}{4} \times \sqrt{10}$$

यह नियम ठीक नहीं है। मालूम पड़ता है कि अर्धवृत्त के क्षेत्रफल के लिए ऐसा नियम लिखकर उसके सादृश्य से धनुष के क्षेत्रफल का ऐसा नियम महावीराचार्य ने लिखा है।

इसी सिलसिले में महावीराचार्य के ग्रन्थ में कितने अन्य क्षेत्रों का भी गणित मिलता है, जैसे तीन बराबर वृत्तों के, जो आपस में एक दूसरे को स्पर्श करते हैं उनके बीच का क्षेत्र। सय केन्द्रीय वृत्तों से घिरे क्षेत्र का भी गणित महावीराचार्य के संग्रह में है। इस विषय में महावीराचार्य ने दो नियम लिखे हैं जिनके सूत्र ये हैं:-

$$(i) \frac{c_1 + c_2}{2} \times h,$$

c_1 बाह्यवृत्त परिधि

c_2 अन्तःवृत्त परिधि

$$(ii) \frac{c_1 + c_2}{6} \times h\sqrt{10}$$

h चौड़ाई

पहला नियम उन्होंने स्थूल मान के सिलसिले में लिया है जबकि सही मान वही है। क्योंकि

$$\frac{c_1 + c_2}{2} \times h = \frac{(2\pi r_1 + 2\pi r_2)}{2} \times (r_1 - r_2)$$

$$= \pi(r_1^2 - r_2^2) \text{ जय } r_1 = \text{बाह्यवृत्त व्यासाद्}$$

$$r_2 = \text{अन्तःवृत्त व्यासाद्}$$

दूसरा नियम भ्रामक भी हो सकता है। आचार्य को शायद यह ध्यान नहीं रहा हो कि 1/10 परिधि में स्थान पा चुका है।

आयतवृत्त (Ellipse) या परिमंडल

महावीराचार्य ने आयत वृत्त का क्षेत्रफल $2ab + b^2$ लिखा है, जहाँ

a = Semimajor axis

b = Semiminor axis

और परिधि के लिए $4a + 2b$ रखा है, जबकि आधुनिक मत से

$$\text{क्षेत्रफल} = \pi ab$$

महावीराचार्य के गणितभार संग्रह में और भी कई क्षेत्रों का गणित मिलता है, जैसे शंख मृदंग आदि। धर्म शास्त्रों में चूँकि इनकी परिमिति, क्षेत्रफल आदि की जरूरत पड़ती है, अतएव महावीराचार्य ने उनका वर्णन किया है। जैन शास्त्रों में न केवल द्विधा विस्तृत (Two dimensional) क्षेत्रों का बल्कि त्रिधाविस्तृत क्षेत्रों का वर्णन (उनका घनफल आदि का गणित) मिलता है; क्षेत्र उपर्युक्त दो प्रकार के होते हैं इसका स्पष्ट उल्लेख भगवती सूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र में है। यहाँ इनकी संज्ञा क्रमशः प्रतर और घन है। अतएव—

घनत्रयस्र = Triangular Pyramid

घन चतुरस्र = Cube

घनायत = Rectagular parallelopiped

घनवृत्त = Sphere

घन परिमंडल = Elliptic cylinder

धवला टीका में क्षेत्र गणित के सिलसिले में तीन प्रकार के मान का उल्लेख है:—

(i) सूत्राङ्गुल : Linear measure

(ii) प्रतराङ्गुल : Square measure

(iii) घनाङ्गुल : Cubic measures

इन सबकी चर्चा अगले लेख में की जायगी।

कविवर सूरचंद्र और उनका साहित्य

[ले०—श्रीयुत बा० अग्रचन्द्र नाहटा, बीकानेर]

जैन साहित्याकाश में समय २ पर अनेक तेजस्वी नत्नों का उदय हुआ, जिनके आविर्भाव से अंधेरी रात्रि में प्रकाश की किरणें फैली। प्राचीन इतिहास के तथाविध अन्वेषण के अभाव में हम उनकी गौरव गाथा भूल-से बैठे हैं। भ० महावीर के शासन में गत द्वाई हजार वर्षों में हजारों प्रतिभासम्पन्न विद्वान हो गये हैं, जिनमें से कइयों ने तो अपनी वाणी द्वारा तत्कालीन जनता के ही नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया पर बहुत से ऐसे भी विद्वान हुए जो हमारे लिये विशिष्ट साहित्य संपत्ति विरासत के रूप में छोड़ गये हैं जिससे आनेवाली जनता को भी प्रकाश व प्रेरणा मिलती रहे। खेद के साथ कहना पड़ता है कि उनके उत्तराधिकारियों ने जैसी चाहिये, उस साहित्य की सुरक्षा नहीं की। कुछ तो राजनैतिक व विषम परिस्थिति वश, कुछ हमारी उपेक्षावश बहुत से विशिष्ट कवि व उनकी रचनाएँ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो चुकी हैं। आश्चर्य है कि इतने पर भी हमारी आँखें नहीं खुलीं। मध्यकालीन मुसलमानी साम्राज्य के समय में जबकि देश के अन्यधर्मावलम्बियों को बहुत अधिक क्षति उठानी पड़ी, जैनों ने बड़ी दूरदर्शिता से अपने शिल्पस्थापत्य व साहित्य की अधिकाधिक रक्षा ही नहीं की पर उस विषम व तावरण में भी उसकी हृद्धि की। पर इधर सौ डेढ़ सौ वर्षों में (गत कई शताब्दियों में जो हानि उठानी पड़ी उससे भी अधिक) अज्ञानता उदासीनता व स्वार्थवश बहुत क्षति उठानी पड़ी। सैकड़ों अनमोल ग्रन्थ कूड़े करकट में डाल दिये गये, उतने ही वर्षों और सर्दों से चिपक कर नष्ट हो गये, दीमक आदि जन्तुओं ने भी उनके विनाश में कसर नहीं रखी, इधर उन रत्नों के महत्त्व को न जानने के कारण अति अल्प पैसों में उन्हें हलवाई, पसारी व फेरी वालों के हाथों में बेच डले गये, जिन्होंने उन्हें फाड़ फाड़ कर पुड़ियों बांधी। कितने ही पत्रों को रद्दी समझ कूटे के काम में लेकर पटड़ी पूठे डब्बे-डावड़े आदि चीजों के बनाने में काम ले लिये गये। संक्षेप में विधर्मों व लुटेरों द्वारा इतने नहीं लूटे गये, जितने अपनी अज्ञानता, उदासीनता व तुच्छ स्वार्थ के कारण बरबाद हुए। इस प्रकार हजारों अनमोल रत्नों से हम हाथ धो बैठे।

अव्ययनशील व अन्वेषण प्रेमी विद्वानों से यह छिगा नहीं है कि सैकड़ों ग्रन्थों के रचे जाने का पता व उद्धारण हम परवर्ती ग्रन्थों में पाते हैं व पुरानी सूत्रियों में नाम मिलते हैं उनका वर्तमान भंडारों में अब कहीं पता ही नहीं चलता। कई ग्रन्थों की प्रतियाँ अधूरी व चूटित रूप में मिल रही हैं, पूरी नहीं मिलती। बहुत बार तो सखेद आश्चर्य होता है कि जिन ग्रन्थों की प्रतियाँ आज से पचीस, पचास या सौ दो सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थीं, अब नहीं मिलती। श्रीमद् यशोविजय उपाध्या-

यादि जैसे विशिष्ट ग्रन्थकारों के बीसों ग्रन्थ इन २५० वर्षों में लुप्त हो गये व त्रुटित रूप से मिलते हैं^१। कतिपय ग्रन्थों की प्रतियां तो अब भी विद्यमान हानों की संभावना है पर जितने भी ज्ञान-भंडार बच पाये हैं उनकी भी जैसी चाहिये सार-संभाल नहीं है। कई संग्रहालयों के तो सूचीपत्र ही नहीं बने, कई व्यक्तिगत हैं जिन्हें देखने का भी किसीने कष्ट नहीं उठाया या अधिकारियों ने योग्य व्यक्तियों को देखने का मौका ही नहीं दिया। इसी प्रकार बहुत से स्थानों के भंडार अभी अज्ञात व्यवस्था में पड़े हैं कई प्रसिद्ध भंडारों में भी कई बंडल त्रुटित व फुटकर पत्रादि के बिना सूची के यों ही पड़े हैं जिनके अवलोकन से बहुत सी नवीन सामग्री व अल्प ग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। जैन इतिहास की अनेक ज्ञातव्य बातें उन खंडहर व कूटले में यों ही पड़ी रहती है। इधर २० वर्ष के अन्वेषण से इन पंक्तियों के लेखक का यही निजी अनुभव है। श्रीकानेर में ४०-५० हजार हस्तलिखित प्रतियों का महान् संग्रह होने पर भी २० वर्ष पूर्व जब हमने अन्वेषण का कार्य आरंभ किया था बड़ी ही अव्यवस्था थी। हमारी जानकारी में भी हजारों प्रतियां यहाँ से बाहर चली गईं, हजारों कूड़े-करकट में पड़ी हुईं पाई गईं, कई संग्रहालयों के सूची-पत्र नहीं थे, कइयों के थे तो नाममात्र के। उस परिस्थिति से इन पंक्तियों के लेखक को बड़ा असन्तोष हुआ और कई वर्षों तक घोर परिश्रम करके ३० हजार प्रतियों की विवरणात्मक सूची बनाई। 'कूड़े' में पड़े हुए व कोड़ियों के मूल्य बिकने वाले ग्रन्थों को संग्रह किया गया। फलतः १५ हजार प्रतियों का संग्रह हो गया जिनमें सहस्राधिक ऐसे ग्रन्थों की उपलब्धि हुई है, जिनके अस्तित्व का अन्यत्र कहीं भी पता नहीं चज्ञता। विभिन्न ग्रन्थों व लेखों में जिनका परिचय समय २ पर करवाया जा रहा है वे सैकड़ों ग्रन्थों का विवरण (आदिअंत सहित परिचय) लिखा हुआ तैयार है जिनके प्रकाशन की व्यवस्था चालू है। हमारे गौरवपूर्ण साहित्य के अन्वेषण के प्रति विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने के लिये प्रासंगिक रूप में थोड़ा सा निवेदन कर देने के अनन्तर अपने मूल विषय पर आता हूँ।

सत्रहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध श्रावक कवि ऋषभदास ने अपने पूर्ववर्ती व समकालीन कवियों का उल्लेख करते हुए "सुमाधु हंस समयो सूरचंद्र" शब्दों द्वारा सूरचंद्र नामक महाकवि का स्मरण किया है। स्व० मोहनलाल दनीचंद्र देमाई ने सूरचंद्र शब्द के टिप्पण में लिखा^२ था कि—

"सूरचंद्र—आ नाम ना कविनी कोई कृति प्राप्त थती नथी सूरहंस नामनो कवि छे जुआ एज० (जै० गु० क०) पृ० १३२, सूचंद्र एटले देवचंद्र एम होय तो देवचंद्र ऋषभदास ना समकालीन हता जुआ एजवृ पृ० ५७६-८१"

वेशाई जी का उपयुक्त निर्देश संतोषप्रद नहीं लगने व खरतर गच्छीय सूरचंद्र के उसी समय

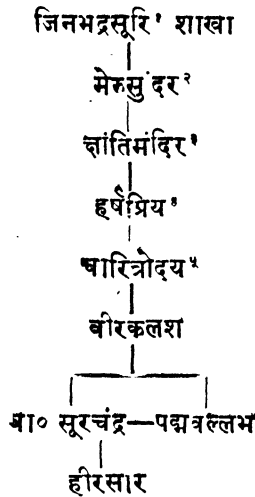
१ जैन स्तोत्र संशोध भा० १ प्रस्तावना पृ० ६८

२ आर्षाद काव्यमहोदधि भा० ८ पृ० ३६ (कवि परिचय में)

में होने से हमने ऋषभदास उल्लिखित सूरचंद्र के ही सूरचंद्र होना संभव है ऐसा अनुमान अपने युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि ग्रन्थ में किया था पर उनकी कृतियाँ प्रचुर संख्या में न मिलने से निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता—यह भी सूचित कर दिया गया था। इन्हीं कुञ्ज वपों के अन्वेषण द्वारा सूरचंद्र की कतिपय रचनाएँ और मिलीं। संख्या में अधिक न होने पर भी वे सभी विशिष्ट होने से उक्त संभावना को पुष्टि मिली है अतः प्राप्त रचनाओं का परिचय प्रस्तुत लेख में दिया जा रहा है।

कवि-परिचय

कवि के जन्म स्थान, संवत्, माता-पिता व वंश के सम्बन्ध में कुञ्ज भी जानकारी प्राप्त नहीं है। प्राप्त रचनाओं में शृंगार रसमाला सं० १६५६ की हाने से व उसकी भाषा राजस्थानी होने से आपका जन्म एवं दीक्षा का समय १७ वीं शती का पूर्वार्द्ध व जन्मस्थान मारवाड़ ज्ञात होता है। गुरुवंश-परम्परा कवि के जैनतत्त्वसारानुसार इस प्रकार है—



१ कविवर सूरचंद्र ने यद्यपि जिनभद्रसूरि से अपना (शाखा रूप) सम्बन्ध स्थापित किया है पर अन्य साधनों से वे जिनदत्तसूरि शाखा के ज्ञात होते हैं। जिनभद्रसूरि के समय में तो मेरुसुंदर के गुरु रत्न-मूर्ति जी के गुरु वा० शीलचंद्र जी थे जिन्होंने जिनभद्रसूरि जी को आगमादि का अध्ययन करवाया था। देखें—हमारा युगप्रधान जिनदत्तसूरि ग्रन्थ पृ० ६६

२ आप बड़े अच्छे बालावबोध-भाषा टीकाओं के रचयिता थे। देखें हमारा उक्त जिनदत्तसूरि ग्रन्थ पृ० ७०

३ जैन तत्त्वसार के तीनों संस्करणों (गुजराती) हिन्दी व स्वप्नोक्त टीका वाले, में कवि का वंशवृक्ष देते हुए ज्ञातिमंदिर जी का नाम विशेषण समझ कर छद्म दिया है यह अनुकरणजनितभूल ही प्रतीत होती है हर्षप्रिय जी ने शील-इकतीसी में इन्हें अपना गुरु लिखा है—

“श्री ज्ञान्तिमंदिर गुरु प्रसादह, हर्षप्रिय पाठक भगवत् ॥३१॥”

कवि की प्राप्त रचनाओं में चातुर्मासिक व्याख्यान भाषा का रचनाकाल जैन-गूर्जर-कविओं भाग ३ पृ० १६०६ के अनुसार सं० १६६४ है यदि यह संवत् प्रति लेखन का न होकर ठीक ग्रंथ निर्माण का ही है तो यह कवि की प्राप्त कृतियों में अन्तिम कही जा सकती है।

शिष्य-परिवार

कवि ने अपने शिष्य हीरसार का उल्लेख सं० १६७६ में रचित जैनतत्त्वसार में किया है। अन्य शिष्य हीर उदय प्रमोद रचित चित्रमंभूति चौडालिया (सं० १७१६ जेमलमेर में रचित) उल्लेख है।

रचनाएँ

संस्कृत—

१ जैनतत्त्वसार सटीक—(ग्रं० ४१००) रचनाकाल सं० १६७६ आश्विन शुक्ला १५ बुधवार के दिन अमरसर! में पद्मवल्ज्जम के सहाय से रचित है। यह ग्रंथ अपने नामके अनुसार जैन तत्त्वों के सार को बड़ी सूरी के साथ स्पष्ट करता है?।

४ आपके रचित शाश्वत सर्व जिन पंचाशिवा गा० ५२ (र० सं० १५७३ कांभाव) तथा शोलङ्करीसो (प्रारंभ के कई पद अप्राप्त) हमारे संग्रह में उपलब्ध हैं।

५ जैन तत्त्वसार के गुजराती एवं सटीक सं-करण में हर्षप्रिय से हर्ष अर प्रिय नामक दो व्यक्ति तथा चारिख उदय शब्द से चारिख और उदय दो भिन्न व्यक्ति होना माना है पर वास्तव में हर्षप्रिय और चारिनोदय एक-एक व्यक्ति का ही नाम है।

१ ग्रन्थ के रचनास्थल अमरसर को श्री कान्तिविजय जी महाराज ने पंजाबवर्ती अमृतसर बतलाया था, पर वह ठीक नहीं था। अतः हमने अमरसर स्थान के निर्णयकर एक लेख जैन सत्य प्रकाश में प्रकाशित किया जिसके अनुसार अमरसर पंजाब का अमृतसर न होकर शेखावाटी का अमरसर निश्चित किया था।

२ ग्रंथ को अन्तिम प्रशस्ति के अनुसार क्लिप्त शैवमतानुयायी के जीव और कर्म के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर उत्तर रूप में इस ग्रंथ को रचना हुई है। विद्वान ग्रंथकार ने इस ग्रंथ का—

अपर नाम या विशेषण जीव कर्म विचार एवं सूरचंद्र मन स्थिरीकार दिया है। ग्रन्थ में प्रभोतर के रूप में बड़े साल एवं छंदर ढंग से जीव कर्म सम्बंध, ईश्वरकर्तृत्व, प्रतिमापूजनादि पर विचार किया है प्रस्तुत ग्रन्थ को उपयोगिता के सम्बंध में ग्रन्थ सम्पादकों ने लिखा है:—

“उपरोक्त ग्रंथ भी छिपे हुए रत्नों में से एक है उसका जितना ज्यादा प्रचार उतना ही तत्त्वज्ञान का ज्यादा प्रचार यह निर्विवाद है। (हिंदी आधुति)

‘आपथं मां कृतां पोताना अनुभव ना व्यवहारु दृष्ट्यां पटला बधा आप्या छे के तेथी तेमनी अप्रतिम व्यवहार दक्षता सिद्ध थाय छे। आवा व्यवहारु दृष्ट्यांत अन्यल जोवामां आवता न थी।

प्रस्तुत ग्रंथ की उपलब्धि सं० १६६३ में प्र० कान्तिविजय जी को हुई थी आपकी प्रेरणा से वैद्यराज मानलाल सुब्रह्मण्य के गुजराती अनुवाद सहै जैन आत्मानंद सभा, भावनगर से सं० १६६६ में सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ तदनंतर जिनदत्तसूरि ब्रह्मवर्षाश्रम पालोतान से गुजराती अनुवाद की २ आवृत्तियाँ व हिंदी की एक आवृत्ति प्रकाशित हो चुकी हैं।

सं० १६६७ में श्री वर्द्धमान सत्य नीति हर्षसूरि जैन गृथमाला, अहमदाबाद से इसका सटीक संस्करण प्रकाशित हुआ है।

३ पञ्चतीर्थ स्तव—यह रचना बहुत ही कवित्व एवं विद्वत्तापूर्ण है। स्थानीय बृहत् शानभंडार में इसकी अपूर्ण प्रति प्राप्त है जिसमें प्रथम ऋग्भदेव स्तव—रूपकालंकारमय २३ श्लोकों में, फिर वर्द्धमान स्तव (पंचम) त्रिचालंकार मय ६७ पद्यों में है। तृतीय श्रीपार्श्वनाथ स्तव के ३ पद्य, प्रति के ६ वें पत्र में लिखे जाने के पश्चात् आगे के पत्र न मिलने से कृति अपूर्ण रह गयी है। पाठकों से अनुरोध कि कहीं इस महत्वपूर्ण काव्य की पूर्ण प्रति मिले तो हमें अवश्य सूचित करें।

आदि:—

॥६०॥ श्रीमद्विघ्नच्छिदे नमः ॥अर्हम्॥

लक्ष्मी लक्ष्मोपलक्ष्यान् विदलितदुरितावपंचतीर्थ्यात्पपादान्
नत्वा तत्वाभिसत्त्वान् सुभगयुगवरान् जैनचंद्रान् वितन्द्रान्
कुर्वे तेषामपूर्वगुणकणभगान् लेशतोऽहं यथाचित्
येषामेवातिशेषात् सुगम कतिपयालंकृति श्लेषचित्रैः ॥१॥

अन्तः—

एवं नाभि सुतः स्तुतः कृतिनतः कुर्याच्छिद्यो रूपका—
लंकारै सुखकार एष सततं शत्रुं जयालङ्कृतिः
चारित्रोद्य वाचकानुगतिना श्री पंचतीर्थीस्तवः ।
प्रस्तावे वर वीरकुम्भगणिना शिष्येण सूरेन्दुना ॥२३॥

इति पंचतीर्थीस्तव प्रस्तावे श्रीमारुदेव स्तवः सम्पूर्णाः, अलंकाराधिकारे रूपकालंकारेण केश-
वेशवर्णन इति । श्रीरस्तुः ॥ [पत्र ३]

द्वितीय चित्राधिकार प्रस्ताव

आदि—यत्पादद्वैतभक्तैः समलभत फलस्वीयं जात्याधिपत्यं

नित्यं सिंहोभियाण्या पतित इति यतोऽष्टापदस्यद्विमूर्त्तिः

अन्यूनं न्यूनमेषोतिदधनुपमं स्थामजेतामपि ध्या-

त्वा तं स्तोमि भक्तोपकृति कृत रसं वर्द्धमानं सु चित्रैः ॥१॥

बीच में काव्य एक व्यंजन, द्विव्यंजन, त्रिव्यंजन, चतुर्व्यंजन, ऋष्यव्यंजन, तालव्यंजन, मूर्द्धन्य-
व्यंजनं, दन्त्यव्यंजन, ओष्ठव्यंजनं, शर्शव्यंजन, अंतस्थव्यंजन, ऊष्मव्यंजन, त्यक्तवर्ग्य-
व्यञ्जन, गोमूत्रकाद्वयं, गोमूत्रिकाविशेषचित्रं, अष्टदलकमलयमलम्, खड्गाधिवन्धचित्रम्,
अष्टारकचक्रबंधचित्रम्, नागपाशबंधमंधानकचतुर्दलकमलचित्रम्, वलयाकार चित्रमस्यैकस्य
काव्यस्य द्वात्रिंशत्काव्यानि जायते, येन पल्लवंधबंधचित्रम्, चाटितवाणधनुर्वंधचित्रम्, मुरज-
बन्धचित्रम्, अर्द्धभ्रमचित्रम्, सर्वतोभद्रचित्रम्, तुरगपदचित्रं, द्वितीयमुरजबंधभेदकोष्टकसम-
पंक्तिवर्णः, मुरजबन्धविशेषचित्रम्, पादगदतप्रत्यागतम्, अर्द्धगतप्रत्यागतं, सर्वगतप्रत्यागत,

मात्राव्युत्कव्यंजनव्युने, अनुस्वारव्युत्कः, वर्णव्युत्कः, नंदिनीछंद, स्वधर, क्रिगाद्रगूढं, प्रतिपत्क्रिगागूढं, कर्तृकर्मगूढं, करणसम्प्रदानगूढ, असादानसंबन्धगूढ, अधिकरणगूढ, पूर्ण-त्रिपाद्यामंतगादगूढं, पूर्वाद्धं च पूर्वाद्धं गूढग्रनंतरपूर्व श्लोकपूर्वक्रिगादि, पूर्व त्रिगादीगामेव लुना पूर्वश्लोक पूर्व त्रिगादेचात्स्यपूर्णत्रिपादगुण, पूर्वश्लोकगूढं, श्लोकद्वयगूढ, पंचनामर छंदो बद्धे सरलपाठनैव श्लोकद्वये गूढं, पट्दी, संख्यागूढं तत्रमूलं चतुःषष्टि शेषाश्चत्वारः, संख्यागूढं तत्र नयति मूलं शेषा एकविंशति—

अन्तः—

एवं चित्रभृतैः स्तुतोस्तु सुखदः श्रीपंचतीर्थीस्तवः
प्रस्तावेऽजिनवर्द्धमानवृषभो भक्तांगिनां यो मया
चारित्रोदयशिष्यत्रीकलशानां शैलकेणक्षमी
क्षोणीभृत्क्षमलक्षशिक्षित नतिर्यः सूरचन्द्रर्षिणा ॥६७॥

इति श्री पंचतीर्थीस्तवप्रस्तावे श्रीवर्द्धमान स्तवः पंचमः इति चित्राधिकारः ।

इसके पश्चात् ३ पद्य और हैं जिनमें से पहले में फलवर्द्धि पार्व स्तव है फिर प्रति अपूर्ण होने से वृत्तित है । प्रस्तुतः प्रति श्रीकानेर के बृहद्ज्ञानभंडार के श्री महिमाभक्ति भण्डार में है । प्रति तत्कालीन सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई है जिसकी पत्र संख्या ९ है । प्रत्येक पृष्ठ में ११ पंक्तियाँ एवं प्रति पंक्ति में ४८ के लगभग अक्षर हैं । हाँसिये में कहीं २ संस्कृत टिप्पण-पर्याय लिखे हुए हैं ।

३ अजित शांति स्तव—१४ पद्यात्मक अजितनाथ स्तव के अंतर्गत अनुष्टुप छंद के १३ वृत्तों में श्री शांतिनाथ स्तव गर्भित है जो अना रचना कौशल और अप्रतिम वैशिष्ट्य रखती है प्रस्तुत कृति इसके परिशिष्ट में दे दी गयी है ।

४ अष्टार्था श्लोकवृत्ति—३२ व्यंजनाक्षर वाले एक श्लोक के ८ अर्थ वाली प्रस्तुत वृत्ति की रचना स० १६७७ में श्री फलवर्द्धि पार्वनाथ के प्रसाद से की है । इसकी प्रतिलिपि बड़े उपाश्रय में तथा एक प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है ।

५ पंचवर्ग परिहार-स्तव सटीक—इसकी प्रति जीरा के भण्डार में प्राप्त है ।

राजस्थानी भाषा—

१ जिनसिंहसूरि रास—६५ पद्यवाले प्रस्तुत रास में जिनसिंहसूरि का प्रारम्भ से आचार्य पदोत्सव तक का परिचय है । इसकी प्रति सं० १६६८ में लिखित उपलब्ध होने से रचना (स० १६५० से ६८ के मध्य की) इससे पूर्व की सुनिश्चित है ।

२ शृंगार रसमाला—गा० ४१ सं० १६५६ वैशाखसुदि ३ को नागौर में रचित है ।

३ बर्ष फलाफल ज्योतिष सभाय गा० ३६

४ जिनदत्तसूरि गीत—१७ पद्यों में गुरुदेव की सुन्दर शब्दों में स्तवना की गयी है। हमारे यु० जिनदत्तसूरि ग्रंथ के परिशिष्ट में यह प्रकाशित है।

५ फलौधी पार्वस्नवन गा० ५

गद्य ग्रन्थ--

१ चौमासी व्याख्यान—इसकी प्रति स्थानीय श्रीजयचन्द्रजी यति के भण्डार में भी है पर उसमें रचनाकाल नहीं दिया गया है जब कि २२० देसाई के जैन गु० क० भा० ३ पृ० १६०६ में सं० १६६४ लिखा है। मेरे ग्याल मे उक्त समय प्रति के लेवन का संभव है पर निश्चित तो प्रति के अवलोकन से ही कड़ा जा सकता है।

श्रीअजितशान्तिस्तवनम्

विश्वप्रभुसेनमहीसनार्थ सुवंशजं पंकजडत्त्वहारं ।

श्रीभास्करं श्रीअजितं च भूयः आनन्दकंदं त्वं चिरे ण्णतार्यं ॥१॥

जनाशुधीशं करमंशुकांतिः वंदे महाशान्तिमहं सदा यं

सुरासुररुद्रमापनराह्यधीशः संसेवितं श्रीसुमनः प्रभुं च ॥२॥युग्मम्

वर्ष्यस्वर्णसवर्णरुक् समगुणक्षेत्रं रसारम्यको ।

जन्मानंतसमुद्रसज्जतरणिः सारंगरंगाकरः ॥

दुःकर्मालिपिप्रवारकतमः संहारताकारिक—

स्त्राणं मां कर्हणास्पदं ह्यजितराट् सूरौवतात्तामसात् ॥३॥

मिथ्यात्वद्रुमभंगवारणनिभं रंगेणभव्यप्रदं ।

सन्नित्यं सुखभंगिभद्रविनिकाथं संनुतं संततं ॥युग्मम्

मोहाद्रिस्वरूकं शिवं खरनिभच्छेदक्षमं वज्रसात्

दंताभोगविधिं वरं नमः नमः श्रीबन्धुरं चाजितम् ॥४॥

नैश्वप्राधान्य सेद्धः सुगुणनिकरखानिर्जिनोर्नदि विद्या

सच्छ्रीशान्तिः सलीलः सदुपशमधनीनालयः पात्वपायात्

सद्ध्यानो हर्षकारः समगुणवसतिर्वर्जिता ज्ञानभारो—

नुन्न क्रोधारिवर्गः प्रदित्तभवनिवासाकरः श्रीजिनेशः ॥५॥

अच्छाच्छात्मा चिराञ्च प्रथितमहिसमाख्योत्करः सादरोघो-

दारं स्कन्नोदरीशोतिदर करिहरीशोदशाश्वप्रचार

मंदारद्रुममल्लिस्मितसुमेकलिकाजातिमुख्यैपयोजैः

श्रीदेवाः पूजयंति प्रजितगदमदसुक्रमः सोस्तु लक्ष्म्यैः ॥६॥

ध्यातो देवाधिपैः ससह्यहृदयधरोदामसो व्याधिवारा
द्विश्वप्रष्टोरसेनोधनदनुजनृपांच्योहि योगप्रराजं
यस्य ध्यानात्समेत्र क्षयमहितगणायांति रोगालिनाशी-
दुष्टा स्तादर्या दिवोग्रागरलवदुरगाः सोऽचिरात्यातुनंदी ॥७॥

दत्तोभास्वन्मनः पा अतुलबलकलौयुद्धमुक्तः सशुष्मा—
भव्यान् भद्रैकपात्रं गतभवभयौघ प्रगाढः ससातः
श्रेयः श्रेयसुकेलीसदनुपमनिवासानुकारो विभोगो-
रद्यात्प्राणी गुणीश कमलमुखकलो शोचनः सोऽजितेशः ॥८॥

नित्यं सच्चन्द्रचंगोद्विरिपु नतपदः का महाचन्द्रकायः
सर्वमद्रं सुकीर्त्तिः करिकरसुकरो रातुशंकृज्जनानां
विद्याशालबिधकारः समय नय धनोमानरिक्तोल्लमारः
प्राज्योजो मारकोग्रयो मुनिजनसुमनः पुंगवः शान्तिदोऽसौ ॥९॥

नृणां नाथो जिनोचर्यो दलितकलिमलः साधु जीयाच्चिरं यो
गोप्ता विश्वस्य सार्वस्त्रिजगदवनकृज्जन्मनानाधिनीशी
निः संतापः सशीघ्रशमयमनिरतो हे सवर्णाभ देहो
वर्यः पापं हरोतीह भुविकृततनूमन्मतांघो नितांतः ॥१०॥

अहोनिस्तारको सा वयद् इह भवांभोधितो लब्धसंधेः
स्फूर्जत्सम्पत्तिकार्युद्धरतु भविजनान् काम्प्ररूपोजितेशः
साधु प्रापयब्ज बोध प्रियतरतरणिः सारणिः सारसंपद्
बल्ली वृद्धौ समंताज्जितरवजलधिः सेवधिः सौख्यराशोः ॥११॥

सातत्यं पाहि पाहि प्रवर गुणजिनाधीशसंसारवाद्धि
मध्यान्तिः शोध्यनेतः प्रभव विसरहासत्स्मरप्राणहंतः
संसक्तयुष्मदंद्दिप्रवरजलरुहापातिन मां जिनेश
सौभाग्यप्रष्टभाग्यप्रथनदत्तमसां संहरापन्नपापः ॥१२॥

कल्याणप्रत्यकायछविरशुभहरः संततं विग्रहच्छित्
सौवीवाचं प्रयच्छः प्रशमतवीकरी चवं जनाधारदेवः
नित्यं सं प्रार्थयेह जयनिचय करांशुप्रभो हि ध्रुवं मे
एतदुबंध शान्ति प्रदगत क जिनेशोत्तिदायं व प्राप्तः ॥१३॥

एवं स प्रातु वो वाञ्छितमिह नियतं सर्वदा सूरचन्द्रो
जा विश्वेशोतुनावभ सविनयनयं सोवभक्तप्रभुयं
सश्रेयाः श्रेयसे षड्विधुमितभगवत्स्तोत्रमिश्रस्तवेन
श्री चारित्रोदयां हृदयकंज मधुकृत सूरचंद्रो वशीशः ॥१४॥

इति श्रीखरतरगच्छेश श्रीजिनभद्रसुरसंतानीय श्रीचारित्रोदय वाचकशिष्यसूरचंद्रवाचकचित्त
श्रीशान्तिनाथत्रयोदशश्लोकवद्वत्तवर्गमित श्रीअजितजिनराजस्ववः किष्किन्धायां कृतमिदम् ।
उपर्युक्त स्तोत्र के अन्तर्गत निम्न चिन्हित अक्षरवाक्यों को जोड़ने ने श्री शान्तिनाथ स्तव
होता है । जो यहां दिया है:—

श्री शान्तिनाथ स्तव

विश्वसेन महीनाथं, वंशपंकजभास्करं
आचिरेयं जनाधीशं वन्दे शान्तिमहं सदा ॥१॥
सुरासुरनराधीशः सेवितं सुमनः प्रभुं
स्वर्णवर्णसमक्षेत्रं साम्य सदृश सागरम् ॥२॥
कर्मारिवारसंहारकारिणं करुणास्पदं
मिथ्यात्त्वद्रुमभंगेभ सन्निभं भविकानुतः ॥३॥ युग्मम्
मोहाद्रिशिखरच्छेद बभ्रभोगिवंबन्धुरं
नैश्वसेनिर्जिनो नंयाच्छ्रीशान्तिसमतालयः ॥४॥
पापायासदरः सर्वज्ञानभानुदिवाकरः
अचिराख्योदरोदारं दरोदरहरीश्वरः ॥५॥
मंदारमल्लिकाजातिर्योजैः पूजितक्रमः
देवाधिपैः सदा सेव्याद्विश्वसेननृपाङ्गजं ॥६॥
पथस्य ध्यानतत्समे याति रोगास्तादर्यादिवोरगाः
सोऽचिरा नंदनः पातु युष्मान् भवभयौघतः ॥७॥
श्रेयः केलिनिवासाभो गुणीकमललोचनः
सञ्चन्द्रचन्द्रिकाचंद्र समकीर्त्तिं करोतु शं ॥८॥
विशालनयनो मारमारको मुनिपुंगवः
शान्तिनाथो जिनो जीयाच्चिरंजगज्जनाधिपः ॥९॥
शीघ्रं शमय हे देव पापं भुवि तनूभृतां
निस्तारय भवाभोधेः स्फूर्जत्सम्पत्तिकारकः ॥१०॥

पाहि पाहि जिनाधीशसंसारवाद्धिमध्यतः
 भवत्स्मरणसंसक्तं युष्मदं हि प्रपाति न ॥११॥
 सौभाग्यभाग्यसम्पन्न कल्याणछविविग्रहः
 वाचंयम जनाधार नित्यं जय प्रभो ध्रुवं ॥१२॥
 एवं शांतिजिनेशो यं पातु वो वांछितं सदा
 सूरचन्द्रो तुनावाभ यं सोवश्रेयसेवशी ॥१३॥

रूप और कर्म — एक तुलनात्मक वैज्ञानिक विवेचन ।

[लेखक :—श्रीयुत अनन्त प्रसाद जैन B Sc. (Eng.)]

विजलीवाले यन्त्र भिन्न भिन्न कार्य अगनी वनावट की विभिन्नता, छुंटाई-बड़ाई, रूप, आकार, अंदरूनी अंग प्रत्यंग का गठन एव हर एक छोटे-मोटे विभेद के अनुसार ही संपादन करते हैं। विद्युत शक्ति वा विजली का प्रवाह सब में एक ही तरह का होता है। केवल वनावट की विभिन्नता के कारण ही धारा, प्रवाह एवं व्यवहार अलग-अलग विभिन्नता लिए हुए होते हैं। हर एक मोलेक्यूल (molecule) का गुण, अंग प्रकृति या प्रभाव सब कुछ उसकी आंतरिक संगठन एवं वनावट के ऊपर निर्भर करते हैं। किसी भी वस्तु के किसी मौलीक्यूल के अंदर इलेक्ट्रन (electron), प्रोटन (Proton) और न्यूट्रन (Neutron) परमाणुओं की कमवेश संख्या एवं पारस्परिक मिलावट, स्थिति, भंग अथवा संगठन एक विशेष निश्चित रूप में ही होते हैं। इनमें से किसी एक में भी फर्क पड़ जाना से या जरा भी इधर उधर होने से उस मौलीक्यूल के गुण अस्तर, और प्रकृति सब में तार्दली आ जाती है। वह मौलीक्यूल उम वस्तु का मौलीक्यूल न रह कर दूसरी वस्तु के मौलीक्यूल में परिवर्तित हो जाता है। मौलीक्यूल का परिवर्तन होना वस्तु का परिवर्तन होना ही है। किसी वस्तु का वाह्याकार मौलीक्यूलों का एक महान समुदाय, संगठन या एकत्रीकरण है। मौलीक्यूल ही किसी वस्तु का छोटा से छोटा वह अविभाज्य भाग है, जिसमें वस्तु के सारे गुण पूर्णरूप से विद्यमान रहते हैं। ये छोटे छोटे मौलीक्यूल मिल कर पिण्डरूप हो किसी वस्तु का और उसके रूप का निर्माण करते हैं। मौलीक्यूल को जैन शास्त्रों में “वर्गणा” नाम दिया गया है। मौलीक्यूलों का ही गुण और प्रभाव के अनुसार विभिन्न वर्गों में विभक्त करने से “वर्गणा” कहा गया है। एटम (मूलस्कंध, या मूलसंघ Atom) भी एक प्रारम्भिक प्रकार का वर्गणा ही है। इलेक्ट्रन, प्रोटन और न्यूट्रन इत्यादि का जो एटम या मौलीक्यूल का मूलन या निर्माण करते हैं उन्हें हम अंगरेजी में “electric particles” और हिन्दी में “विद्युतकण” कह सकते हैं। इन्हीं विद्युतकणों का “परमाणु” भी कहते हैं और जैन शास्त्रों में इनका एकमात्र नाम “पुद्गल” रखा गया है। इन “पुद्गलों” के मिलने से “वर्गणाएं” बनती हैं। एक वर्गणा के अन्दर विभिन्न पुद्गलों की संख्या, उनका स्थान, उनकी आपसी दूरी एवं संगठन आदि सब कुछ निश्चित होता है। इन्हीं की सामंता के ऊपर वस्तुओं के गुणों की समानता एवं विषमता के ऊपर वस्तुओं की विषमता निर्भर रहती है। किसी भी वर्गणा के अन्दर किसी भी उपरोक्त कथित व्यंग में किसी एक में भी जरा भी धेर फेर होने से वर्गणा में

परिवर्तन होकर उसके गुण, प्रभाव, रूप, प्रकृति (properties, characteristics and nature) सब में परिवर्तन हो जाता है और वस्तु बदल कर दूसरी वस्तु हो जाती है। यह बात, स्थिति और क्रम आधुनिक रसायन विज्ञान (chemistry) द्वारा पूर्णरूप से सिद्ध, स्थिति एवं दिग्दर्शा हो चुकी है एवं गेज ही व्यवहार तथा क्रिया प्रक्रियाओं में देखने से आता है।

हर एक क्रिस्टलके रूप, गुण वगैरह उनकी वर्गणाओं की बनावट के ऊपर ही निर्भर करते हैं। क्रिस्टल ही क्यों, संसार की सारी वस्तुओं के रूप और गुणादिक की विभिन्नता का कारण भी उनकी बनानेवाले मौलिकपूलों—वर्गणाओं की बनावट की विभिन्नता ही है। संसार में जिनने प्रकार, किस्म या तरह की वस्तुएँ हैं उतनी ही संख्या वर्गणाओं के प्रकारों की भी हैं। ये असंख्य, अनगणित और अनंत हैं।

किमी भी जीव का शरीर अनंत प्रकार की वर्गणाओं की अनन्यतन संख्याओं का सम्मिलित संगठन या समुदाय या संग्रह है। मानव का शरीर तो मनुष्य अधिक विभिन्न होने से इसको बनाने वाली “वर्गणाओं” (classified molecules) की विविधता मनुष्य अधिक और संख्यातीत है। किसी वस्तु की आन्तरिक बनावट के ऊपर ही उमका रूप, गुण और चाल चलन निर्भर रहता है। मनुष्य शरीर के लिए भी यह बात उतनी ही दृढ़ता एवं मनुष्यता के साथ लगू है जिनको कि किमी दूसरी वेज्ञान वस्तु (chemical substance) के साथ। विज्ञानी के यन्त्रों का जिक्र ऊपर किया गया है। स्टील या भाप से चलने वाले यन्त्रों और मशीनों के साथ भी यही बात है। यदि किसी पानी से नरे घड़े में एक छेदा छेदा क्रिया जाय तो पानी पतली धार में एक छेद से ही निकलेगा। छेद यदि बड़ा कर दिया जाय तो धार मोटी हो जायगी और यदि कई छेद कर दिए जायं तो उनके अनुसार ही मोटी पतली पानी की धाराएँ उतनी ही संख्या में निकलेंगी। किसी छेद में ऐसी “टोटी” लगा दें जिससे टेढ़ी या दूर तक जाने वाली या किमी भी दूसरी तरह की धारा जैसी चाहें निकलती हो तो यह उस टोटी की बनावट और घड़े में युक्त करने के तरीके के ऊपर निर्भर करती है, इत्यादि। यदि एक मनुष्य को किमी जानवर की खाल में इस तरह बन्द कर दिया जाय कि उसके हाथ पैर खाल के हाथ पैर की जगहों में हों तो उस मनुष्य की चाल-अरनी न रह कर उस जानवर की चाल की ही समानता करेगी, जिसकी खाल होगी। एक बैल का शरीर ऐसा है कि सजीव होने पर वह एक खाम तरह के ही कर्म कर सकता है, दूसरे तरह के नहीं। यही बात दूसरे जानवरो या जीवों के साथ भी है। एक पत्नी के पंख यदि कमजोर हैं तो वह अधिक नहीं उड़ सकता है। जिस व्यक्ति की बाहे मजबूत होगी वह अधिक बांभ उठा सकता है बनिस्वत उस मनुष्य के जिसकी बाहें कमजोर होगी। मनुष्य की हरएक शारीरिक क्रिया उसके अवयवों की बनावट के उपर ही निर्भर करती है। जिस अवयव या अंग या भाग का जैसा संगठन होगा उस अवयव द्वारा उसी अनुसार कार्य होगा। एक लंगड़े से किसी शुद्ध पैर वाले के समान

सीधा चलना नहीं हो सकता। जिस अंग में कमी होगी उसका असर उस अंग के संचालन और क्रिया कलाप पर पूर्ण रूप से दृष्टिगोचर होगा। ये अंग क्या हैं? ये सभी “वर्गणाओं” के समूह द्वारा ही निर्मित हैं—वर्गणाओं का संगठन जैसा हुआ इनकी बनावट, रूप और गुण-कर्म में भी वैसी ही विशेषता आगई। यह बात अन्यथा कैसे हो सकती है? कमजोरपना वा सशक्तपना इत्यादि भी वर्गणाओं की बनावट के अनुसार ही होते हैं, कम-वेश या जैसे भी हों। यहां तो केवल दो एक जानवरों का दृष्टान्त दिया—किनी भी जीववारी का शरीर उसको क्रियाओं और चाल-ढाल (movements) को सीमित कर देता है। एक और उदाहरण लीजिए—थोड़ी देर के लिए यदि मान लिया जाय कि किसी घोड़े के मुद्दें शरीर में किसी मानव की आत्मा का संचार किसी प्रकार कर दिया गया-तो क्या वह पुनः जी उठने पर घोड़े के कार्य या कर्म ही करेगा कि मनुष्य के? उत्तर एकरुदम सीधा है कि उसके शरीर की बनावट और गठन ही ऐसे हैं कि वह मानवोचित कुछ कर ही नहीं सकता, उससे तो केवल घोड़े के ही कर्म होंगे। यदि थोड़ी देर के लिए यह भी मान लिया जाय कि जो मनुष्य जीव उस में घुसा उसका मन एवं बुद्धि भी ज्यों की त्यों है तब भी केवल समझदारी में कुछ विशेषता आ सकती है पर अंगों का दलन-चलन या उनसे होने वाले काम तो वे ही होंगे जो उस घोड़े के शरीर द्वारा संभव हैं। यही उदाहरण एक कुत्ते, बिल्ली, किसी पत्नी, छोटे कीट पतंग या पेड़ पौधे सभी के साथ इसी तरह उपयुक्त रूप में उनकी गतियों की सीमा को, समान शक्ति वाली आत्मा के होते हुए भी शरीर की बनावट द्वारा ही सीमित और बंधी हुई सिद्ध करता है।

मनुष्य शरीर में भी अघयवों की बनावट तथा मन, बुद्धि इत्यादि की वर्गणा-निर्मित रूपरेखा के ऊपर ही किसी भी व्यक्ति के कार्य संपादन की शक्ति, योग्यता, क्षमता एवं तौर-तरीका या उस अघयव और अंगोपांग के हलन-चलन निर्भर करते हैं। किन्हीं भी दो व्यक्ति की भीतरी या बाहरी समानता उनकी वर्गणाओं के संगठन की सामानता के कारण ही है। कोई दो मानव जितने जितने एक दूसरे के समान होंगे उनकी हर एक बातें, कार्य-कलाप, आचार व्यवहार इत्यादि सब उसी परिमाण में समान या असमान होंगे। बाहरी रूप और आकृति अंदरूनी बनावटों से भिन्न नहीं। सब एक दूसरे के फलस्वरूप एक दूसरे में “गुण-गुणी” की तरह एक हैं। इसमें अपवाद (exception) की गुंजाइश नहीं। प्रकृति के नियमों या कार्यों में अपवाद नहीं होते; वहां तो सब कुछ स्वाभाविक और निश्चित रूप से ही घटित होता है।

शरीर को बनानेवाली “वर्गणाओं” के अतिरिक्त “मन” (mind) को बनानेवाली “वर्गणाएं” भी अलग होती हैं और उनकी अपनी विशेषताएँ और गुण भी अपने विशेष तौर के होते हैं। इन “मनोवर्गणाओं” की बनावट के अनुसार ही “मानव-मन” की हरकतें, मनोदेश में हलन चलन या मन की हर एक बातें, विचार या काम होते हैं। “पुद्गल” तो निर्जिव है

और पुद्गल की रचना भी निर्जीव ही है। स्वयं विजली के यन्त्रों की तरह ये रचनाएं कुछ नहीं कर सकतीं, जबकि उनमें विद्युत्प्रवाह या जीवन न हो। विद्युत्यन्त्रों में और मानव शरीर में भेद केवल यह है कि इन यन्त्रों का निर्माण करके उनमें विजली का प्रवाह जारी किया जाता है जबकि मानव शरीर में आत्मा या जीवनी शक्ति और शरीर साथ ही साथ आरंभ से ही रहते हैं और शरीर का परिवर्तन सर्वदा साथ साथ ही होता रहता है। हास या हृद्धि भी साथ ही साथ होती है। इससे हम दोनों को अलग अलग अनुभूत नहीं कर पाते। केवल मृत्यु के समय ही ऐसा लगता है कि सारे शरीर की बनावट ज्यों की त्यों होते हुए भी जांचालू शक्ति थी वह अब नहीं रही। जैसे विजली के चलते यन्त्र से विजली का आवागमन हटा लिया जाय तो वह यन्त्र एक दम कार्य बंद कर देगा। फिर भी विजली का यन्त्र स्थिर या स्थायी दीखता है जबकि हाड़-मांस का बना शरीर तुरंत सड़ने लगने लगता है। इन हाड़ मांस को निर्माण करने वाली वर्गणाओं का असर एवं गुण ही ऐसा है जिसके कारण यह सब होता है। हाड़ मांस ही क्यों, निर्जीव धातुओं और रसायन (chemicals) के साथ भी ऐसी कितनी वस्तुएं हैं जो जल्दी नष्ट होनेवाली (perishable) होती हैं और कुछ काफी स्थायी। मानव शरीर जिन धातुओं और रसायनों से बना है उनकी बनावट ऐसी है कि वायु (atmosphere) की वर्गणाओं के साथ मिल कर जीवन रहने पर उनमें परिवर्तन चालू रहता है जब कि जीवन रहित हो जाने पर वे ही ऐसी वस्तुओं में परिणत हो जाती हैं जिन्हें हम दुर्गन्धिमय या सड़ा गला कहते हैं। पर होता सब कुछ वर्गणाओं की बनावट, आपसी क्रिया-प्रक्रिया एवं गुण इत्यादि के कारण ही है। यह सब कुछ स्वाभाविक रूप से अपने आप ही आप-सी क्रिया-प्रक्रिया द्वारा होता है।

मनुष्य का “मन” और “शरीर” ही मनुष्य के स्वभाव को निर्मित या निश्चित करते हैं। मन की गति और हलन-चलन एवं शरीर की गति और हलन-चलन के द्वारा ही मनुष्य का आचार, व्यवहार, क्रियाकलाप, चाल चलन, कार्यक्रम, अच्छाई-बुराई, साधुता-दुष्टता, शांतता तीव्रता, धैर्यता, अव्यवस्थितता, क्रोध, क्षमा, वैर-मेल, हंसी-दुख, प्रसन्नता-अवसाद, मिष्टता-कटुता इत्यादि सब कुछ बनते या होते हैं। मन एवं शरीर की गति और हलन-चलन उनको निर्माण करनेवाली वर्गणाओं के संगठन और वर्गणानिर्मित रूपरेखा पर ही निर्भर करते हैं।

संसार में जितने मनुष्य हैं उनके स्वभाव, बोलचाल, आचार व्यवहार, मानसिक संचरण, क्रियाकलाप और उनका सब कुछ एक दूसरे से भिन्न हैं। मनुष्य-जो कुछ जब भी करता है वह वर्गणाओं की बनाई रूप रेखा की विशेषता द्वारा सीमित एवं बद्ध जीवनी शक्ति द्वारा संचालित होता हुआ ही करता है। एक मनुष्य का रूप, शक्ति सूरत, सुन्दरता-कुरूपता, स्वस्थता, स्वभाव की अच्छाई, बुराई इत्यादि सब कुछ उसके शरीर और मन को निर्माण करने वाली वर्गणाओं द्वारा निर्मित और एक खास तरह का ही होता है। कोई मनुष्य जो कुछ भी करता है उसके अतिरिक्त

वह दूसरा कर ही नहीं सकता। सांप के शरीर की वर्गणाओं का निर्माण ही ऐसा है कि जो कुछ भोजन करेगा उसमें से विप भी अवश्य तैयार होगा। गाय जो कुछ खायगी उसमें से दूध भी अवश्य तैयार होगा। शरीर और मन का अन्योन्याश्रय संबन्ध है। गाय जब तक बच्चे वाली रहती है तभी तक दूध देगी है। बाद में वही भोजन उसके अन्दर जाने पर भी दूध नहीं उत्पन्न करता। सक्का परिवर्तन होता रहता है। न्वा-पान द्वारा या प्रकारा किरणों द्वारा या श्वासेच्छ्वास इत्यादि द्वारा बाहर से वर्गणाओं का समूह हमारे शरीर के अन्दर जाता रहता है वहां विद्यमान वर्गणाओं से मिल विच्छुद्ध कर क्रिया-प्रक्रिया द्वारा सब कुछ बनता बदलता रहता है। अतः मनुष्य का स्वभाव, रीति नीति या बात व्यवहार बदलने के लिए उसको बनाने वाली वर्गणाओं में परिवर्तन आवश्यक है।

किमी मनुष्य का प्रभाव, व्यक्तित्व, और स्वभाव की विचित्रता सब कुछ वर्गणाओं की बनावट पर ही अवलम्बित होने से उसके शरीर की बनावट, रूप रेखा या सब कुछ उसका निश्चित और अभिन्न रूप से संबन्धित है।

हर वस्तु या शरीर से अगणित रूप में अज्ञप्त प्रवाह पुद्गलों का निकलना रहता है जो एक दूसरे के शरीर में घुस कर आपस में एक दूसरे पर प्रभाव डालता रहता है। ऐसी वर्गणाएं भी निकलती हैं जिनकी शकल सूरत हूबहू उसी तरह की होती है जिस वस्तु या देह से वे निकलती हैं जब ये ही वर्गणाएं हमारे नेत्रों में घूमती हैं तो वहां अपनी प्रतिच्छाया से किसी वस्तु या सत्य या शरीर की रूप-रेखा रंग बगैरह का आभास कराती हैं। प्रतिधियों का ज्ञान भी इसी तरह होता है। हर एक मानव शरीर से उस मानव की आकृति की वर्गणाएं केवल रूप रेखा ही नहीं बनाती बल्कि उस मानव के गुण स्वभाव को भी लिए रहती हैं, जिनका असर बाहरी संसार पर उसी अनुसार पड़ता है। सत्पुरुष का भला और निम्नकर्म का निम्न। इतना ही नहीं हम जैसा जिस वस्तु या शरीर या प्रतिच्छवि का ध्यान करते हैं हमारे अन्दर वैसी ही उसी अनुरूप वर्गणाएं निर्मित होती हैं जो बाहर भी निकलती हैं और अपने अन्दर भी प्रभाव डालती हैं—शुभ दर्शन या प्रच्छे लोंगों और वस्तुओं की मूर्तियों या छवि चित्र देखना और ध्यान करना शुभोत्कारक है।

इतना ही नहीं जब कोई व्यक्ति किसी विशेष वस्तु या व्यक्ति के रूप का ध्यान करता है तो वर्गणाओं का उसी रूप में निर्माण होकर हमारे अन्दर उन रूपाकृतियों का भान कराता है। प्रेत या भूत बाधा भी इसी क्रिया (phenomena) के फल स्वरूप है। जब किसी डर, भय या आशंका इत्यादि के कारण एक जबरदस्त भावना किसी व्यक्ति के मन के अन्दर सहसा या समय के साथ बैठते-बैठते बैठ जाती है तब वह उसी रूप का दर्शन और ध्यान इतनी एकाग्रता एवं मजबूती से करने लगता है कि वर्गणात्मक रूपों का निर्माण स्वयं उसके शरीर की गठन को एक दूसरे रूप के शरीर के समान चारों तरफ से घेर और जकड़ लेते हैं। यह वर्गणात्मक रचना दृश्य नहीं

होने से हम उस शरीर को वा उसके प्रभाव को देख नहीं पाते हैं। पर चूंकि उस व्यक्ति के शरीर में आत्मज्योति-जीवनी-रहती है इससे यह ऊपर से ढकने वाला शरीर क्रियाशील हो जाता है। दुष्ट या बुरे भावों से दुष्ट कर्मों या बुरी आकृतियों एवं शुभभावनाओं से शुभ आकृतियों का निर्माण हो कर उनका कार्य या असर इस शरीर के अंगों को उसी विशेष प्रभाव में इस तरह प्रचालित करता है कि दोनों के सम्मिलित क्रिया-कलाप जिन्हें हम उस व्यक्ति की स्वाभाविक क्रियाओं से भिन्न पाते हैं; और तब कहा जाता है कि उस व्यक्ति के ऊपर भूत बाधा या किसी गुण शक्ति का प्रभाव हो गया है। ऐसी हालत में मन की एकाग्रता या तीव्र भावों की प्रबलता को तोड़ने या बाधा देने से लाभ देखा जाता है। इससे यह भी सप्रति होता है कि वर्गणा निर्मित ऐसे शरीर भी हो सकते हैं जो हमारी आंखों से अदृश्य, प्रबल या गुप्त रहें; पारदर्शक वस्तुओं की बनावट के समान दिखालाई न दें फिर भी उनमें आत्मा हो, जीवन हो और वे सचमुच इसी लोक में या कहीं भी घूमते फिरते और जीवित हों उनकी अवस्थिति (existence) हो जैनशास्त्रों में भी ऐसे व्यन्तर देवों का होना कहा गया है। आधुनिक समय में एक गोल मेज के चारों तरफ तीन चार पुरुष बैठ कर किसी मृतात्मा के रूप का ध्यान करते हैं तब उस मृतात्मा का जीव उन चारों में से किसी एक पर आया हुआ कहा जाता है जब वह उस मृतात्मा के सरीखे काम करने या बातें करने लगता है। यह मृतात्मा स्वयं नहीं आती यह तो उसकी रूपाकृति का एकाग्रध्यान करने से वर्गणात्मक रूप का निर्माण हो जाता है जो किसी खास व्यक्ति पर अधिक प्रभावकारी होने से प्रत्यक्ष फल प्रदर्शित करता है—जैसा ऊपर कह चुके हैं—वैसे शरीर एवं रूपका जो कर्म होना चाहिए वही वह व्यक्ति अपने अंदर विद्यमान जीवन शक्ति के सहारे करने लगता है। यही इस विद्या का गूढ़ रहस्य है—

पुद्गल की बनावट तो निर्जीव है। इस शरीर में जो कुछ भी संज्ञान और चेतना पूर्ण हलन-चलन या अनुभव होते हैं या क्रियाएं होती हैं वे सब आत्मा की विद्यमानता के फल स्वरूप ही हैं। आत्मा की चेतना और पुद्गल का रूपी शरीर दोनों के मिलने से ही सारे "कार्य कलाप" होते हैं। जीव की अवस्थिति के वगैर कुछ नहीं हो सकता। प्रेत बाधा या भूत बाधा पितृ भावनात्मक रूपों का निर्माण वर्गणाओं के संगठन द्वारा करती है वह भी उस व्यक्ति में जीवनी या उसके असली शरीर में रहने के कारण ही प्रभाव करती है। निर्जीव में यह बात नहीं हो सकती।

मानव शरीर के अंदर जितनी वर्गणाएँ हैं उन्हें प्रधानतः तीन भागों में विभक्त किया गया है। "कर्मण्यवर्गणा", "तैजस वर्गणा" एवं "औदारिक वर्गणा"। पुद्गल के स्क्न्वों को विभिन्न वर्गों (classes) और श्रेणियों में विभक्त कर देने के कारण ही "वर्गणा" नामकरण हुआ। मनुष्य का हर एक कार्य, व्यवहार, आचरण इन वर्गणाओं की अलग अलग बनावटों द्वारा ही निर्मित एवं परिचालित होता है। किसी एक कर्म को उत्पन्न करने या क्रियाशील बनाने वाली वर्गणाएँ

अनादिकाल से अब तक न जाने कब निर्मित या इकट्ठी हुई थीं कहना कठिन है। अनादिकाल से अबतक इनका आदान प्रदान एवं एक दूसरे के साथ क्रिया प्रक्रिया भीतर तथा बाहर से और जाने वाले पुद्गल संघों के साथ होती ही आती है। “मनोवर्गणाओं” का पुंजीभूत विशिष्ट आकार प्रारंभ ही “मन” है उसकी क्रियाएं भी अव्यवस्थित न होकर निश्चित फलरूप ही होती हैं। मनुष्य का स्वभाव तो फिर निश्चित एवं सीमित होने से अच्छा या बुरा अपने आप वर्गणाओं के प्रभाव में चतृता रहता है।

मानव जन्म एक विविष्ट योनि में, किसी विशेष स्थान में और किसी खास व्यक्ति के ही यहां होना भी इन वर्गणाओं की ही करामात का ज्वलन्त उदाहरण है। कहने का तात्पर्य यह कि संसार में या विश्व में जो कुछ बनता विगड़ता, नया उत्पादन, हेरफेर, जन्म मृत्यु, सृष्टि, पालन-पोषण, विनाश इत्यादि जिन्हें लोग किसी कर्ता का कर्तृत्व मानते हैं वह सब स्वतः ही स्वाभाविक गति एवं नियमित रूप में इन पुद्गलों या पुद्गल संघों के मिलने बिल्लुङ्गने इत्यादि से ही होता रहता है। सारा विश्व एक अभिन्न, अविनाशी, शास्वत, सत्य एवं संपूर्ण इकाई है-इसका कोई भाग अलग नहीं—सबका असर सब पर अलुण्ण रूप से अवश्य पड़ता है। भिन्नता द्वेष-विद्वेष इत्यादि के विचार हनिकारक एवं मूलतः भ्रमपूर्ण हैं। कोई व्यक्ति, समाज या देश अलग अलग सच्चा सुख और स्थायी शान्ति स्थापित नहीं कर सकते न पा ही सकते हैं। यह अवस्था तो आखिर विश्व को एक समझ कर उचित व्यवस्था द्वारा कुछ करने से ही उलब्ध हो सकती है। जैतियों को भी आपसी विग्रह की भावनाएं एवं नीच ऊंच के विचार त्याग कर संसारोत्थान में सहयोग देना ही हर तरह उनके तथा संसार के कल्याण का दाता हो सकता है।

वस्तु-स्वरूप पर अनेकान्ततमक ध्यान रखना ही जैतपता है। सच्चा धर्म वही है जो मानव मानव में विभेद न करे। आत्मा सभी का शुद्ध और शरीर सभी का पुद्गलमय एक सा ही पवित्र या अपवित्र जैसा समझा जाता है। कोई ऊंचा नहीं, कोई नीचा नहीं—कोई भी न जन्म से पवित्र है न अपवित्र। अतः शुद्ध, अशुद्ध, छूना अछूना के भेदभाव त्याग कर हर एक को समान देखना तथा व्यवहार करना ही जैन धर्म का मूलमंत्र तथा प्राण है। “समता-वाद”, -“समदर्शीभाव”, ही असल जैनत्व है। यही मनुष्यत्व भी है इसका आचरण ही जैन धर्म का आचरण है। अच्छा बुरा स्वभाव तो पुद्गलनिर्मित वर्गणाओं द्वारा ही परिचालित होने से दोषी कोई नहीं; हां इन वर्गणाओं की बनावट में तबदीली लाने के लिए शुद्ध भाव, अच्छे कर्म एवं उपयुक्त शिक्षा, संस्कृति और समान मुविधा की आवश्यकता सर्वप्रथम है। अहिंसा का पालन भी समानाचरण और समभाव या समता द्वारा ही हो सकता है अन्यथा तो प्रमाद और

देखें—“सनेकांत” वर्ष १० क्रि.पू. ४-५ में प्रकाशित मेरा लेख “जीवन और विश्व के परि-
वर्तनों का रहस्य।

दूसरों को न चे गिरा रहने को मजबूर करने या गिरा रखने के कारण उनके द्वारा किए गए बुरे कर्मों और पापों का जिम्मेदार ऐसा करने वाला व्यक्ति स्वयं है। परिस्थितियों से मजबूर विवश एवं बेकाबू होकर कोई दुखी पाप करने का वाध्य होता है तो उपको कैसे दोषी कहा जा सकता है। उसे उचित साधन, सुविधा एवं सहयोग देकर अच्छा या योग्य बनाना यह धर्म, समाज तथा देश और संसार के विज्ञान एवं समर्थ और प्रभाव रखने वाले सभी समझदार व्यक्तियों का कर्तव्य है। ऐसा न कर हम धर्म से च्युत तो होते ही हैं मनुष्यता से भी वंचित होते हैं। ऐसा करके ही हम पुण्यार्थ तो सिद्ध करते ही हैं अग्ना और लोक का सच्चा कल्याण करते हुए अपनी सच्ची उन्नति करते हैं और संसार की उन्नति होने से पुनः अपनी भी दोहरी उन्नति होती है। यही अग्ना असली स्वार्थ है और यही परमार्थ भी। यही कर हम सुख एवं परम सुख को सवमुच पा सकते हैं। आज विश्व में चारों तरफ जो विडम्बनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं वे इसी कारण हैं कि वस्तु के असल स्वरूप, प्रकृति और गुण के ज्ञान का प्रकाश बहुत कम रह गया है। जहां है, वहां भी प्रमाद के कारण उलटी प्रवृत्ति ही अधिक दीखती है। निम्न स्वार्थ को ही लोग अग्ना स्वार्थ समझते हैं। रुग्ण ही सब कुछ समझ लिया गया है। इन सबका निराकरण एवं निर्मल वस्तु समाव के ज्ञान की प्राप्ति जैन सिद्धान्तों में वर्णित जीव और पुद्गल तथा दूसरे सहायक द्रव्यों के रूप और क्रिया प्रक्रिया के मनन और ग्रहण तथा व्यापक प्रचार द्वारा ही हो सकता है। संसार में अहिंसा का प्रचार और स्थायी शान्ति तथा सर्वत्र सच्चे सुख की स्थापना भी इसी सच्चे ज्ञान द्वारा संभव है। क्या हरएक जैन मात्रका कर्तव्य यह नहीं है कि यथाशक्ति तन-मन-धन द्वारा इससे अग्ना सच्चा कल्याण स्वरूप समझकर सारे भेदभाव दूरकर संयमित, संतुलित और एकत्रित उद्योग में अपने को लगा दे? धनियों को अपने धन का सबसे उचित उपयोग करने का दूसरा कोई अवसर इनसे बढ़कर नहीं आ सकता—न विद्वानों को अपनी विद्या का ही। घमंड और लज्जा छोड़कर इस परम पावन और परम आवश्यक कार्य में शीघ्रतिशघ्र जुट जाना, लग जाना, संलग्न हो जाना ही समय की माँग और परमहितकारी है।

मनुष्य प्रकृति वर्गणाओं से उत्पन्न होती है और उन्हीं के प्रभाव में परिचालित रहती है। उसमें परिवर्तन लाने के लिये दृढ़ निष्ठा और भावनाओं का कार्यरूप में परिणत करने से ही कुछ सुधार की आशा हो सकती है। किसी कार्य का असर तुरंत न होकर उपयुक्त समय पर ही होता है। तुरंत असर या फल या प्रभाव न दिखलायी देने से निराश होने की जरूरत नहीं। कार्य करने पर वर्गणाओं की बनावट में हर जगह परिवर्तन होकर अपने आप उपयुक्त फल देगा। हाँ कर्म और उद्योग एवं प्रयत्न का आरम्भ अभी से कर देना; यदि अबतक न किया हो तो, आवश्यक है। आशा है कि मानवता के हितचिन्तक, अपने सच्चे स्वार्थ की सच्ची सिद्धि के बाधक और लोक कल्याण के इच्छुक इधर अवश्य ध्यान देंगे।

आत्मा तो सर्वदा एक समान शुद्ध है। कर्म तो शरीर का गुण है। हाँ, यह कर्म आत्मा के विद्यमान रहने से जीवनी शक्ति के प्रभाव के अन्तर्गत ही होता है। आत्मा भी अकेला कर्म नहीं करता और पुद्गल भी अकेला अचेतन कर्म नहीं कर सकता। वर्गणाओं में आदान प्रदान होकर, तबदीलियों होकर तज्जन्य प्रभाव द्वारा ही शारीरिक या मानसिक क्रिया कलाप होते हैं। कर्मों को विशिष्ट और अच्छा बनाने के लिये उचित सुविधाएँ और परिस्थितियों का होना संसार में अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा और वर्गणाओं का समूह यह शरीर न नीच है न ऊँच, न अपवित्र है न पवित्र। हमारी अपनी उन्नति, धर्म और समाज की उन्नति एवं देश और संसार की उन्नति कर्मों को अच्छा बनाने से ही हो सकती है। इसके लिये हर एक को सहायता एवं सहयोग तथा सदानुभूतिपूर्वक ऐसे साधन उपलब्ध करने चाहिये जिससे वह अच्छी संगति, अच्छे भाव एवं शुभ दर्शन प्राप्त कर अपने आत्मा को बाँधनेवाली वर्गणाओं की वनावट और संगठन में समुचित परिवर्तन ला सके। हर एक का अनुग्रह प्रभाव हर एक दूसरे व्यक्ति पर पूर्णरूप से पड़ता है। अपनी पूर्ण उन्नति के लिये अपने चांगों तरफ के सभी लोगों की उन्नति आवश्यक है। हम अकेले शारीरिक मानसिक शुद्धि की सफलता में हजारवाँ भाग भी नहीं प्राप्त कर सकते। वर्गणाओं का निःसरण और प्रवेश हर एक शरीर से दूसरे शरीर में हाँता रहता है। रूप, आकृतियों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। भावनाओं और कर्मों का फिर कहना ही क्या। किसीको दोष न देकर सबको समान अवसर दें यही सच्चा धर्म है और है अनेकान्तात्मक सत्य और अहिंसा का पालन भी। जैन कर्मवाद का बहुत कुछ स्पष्टीकरण इस विवेचन से हो जाता है। वास्तव में जैनाचार्यों की कर्मवाद सम्बन्धी प्रक्रिया नितान्त वैज्ञानिक और मौलिक है। द्रव्य और भावकर्म के स्वरूप, और कार्यों का विवेचन विज्ञान प्रणाली पर आश्रित है। कर्मों का रासायनिक मिश्रण, उससे उत्पन्न शक्ति तथा फल किस आधार पर आश्रित हैं, इसका निरूपण हो चुका है।



मुनिवंशाभ्युदय--ऐतिहासिक काव्य

[ले०—श्री १०८ आचार्य देशभूषण महाराज]

मुनिवंशाभ्युदय ऐतिहासिक रचना है। दिगम्बर जैन साहित्य में राजावलिकथा और मुनिवंशाभ्युदय दोनों ही रचनाएँ कन्नड भाषा में प्रमाणिक मानी जाती हैं। उपलब्ध ग्रन्थ में पाँच सन्धियाँ हैं। प्रथम सन्धि में १६२ पद्य हैं। प्रथम पद्य से लेकर ६६ वें पद्य तक देवता स्तोत्र, चिक्कदेव राजा की स्तुति, राजा के लक्षण, मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था, राज्यव्यवस्था के उपादान एवं राजनीति का सामान्य वर्णन किया गया है। ६७ वें पद्य से ७९ पद्य तक मन्त्री के लक्षण, गुण, दोष एवं दायित्व का निरूपण किया गया है। ८० वें पद्य से लेकर सन्धि के अन्त तक देश, दुर्ग एवं सैन्य रक्षण के उपाय और आवश्यकता पर जोर देते हुए चिक्कदेवराजा की राज्यव्यवस्था का दिग्दर्शन कराया है। इस सन्धि में राजा चिक्कदेव का राजनीतिक दृष्टि से इतिवृत्त दिया गया है। यद्यपि वर्णन शैली काव्यात्मक है, फिर भी कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों की व्यंजना अपने ढंग से की है।

इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का आरम्भ द्वितीय सन्धि से हुआ है। इस सन्धि के द्वितीय-तृतीय पद्य में चिक्कदेव राजा के गुणों का निरूपण करते हुए इस राजा की वंशावली का प्रतिपादन किया गया है। चौथे पद्य में बताया गया है कि कवि को राजा के साथ किस प्रकार मित्रता प्राप्त हुई और कैसे उसे सत्य इतिहास प्रकट करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। ५ वें पद्य से लेकर ३६ वें पद्य तक बताया गया है कि चिक्कदेव राजा के वंशवालों ने मैसूर में राज्य किस प्रकार किया। इनके पूर्ववंशज चामराय बडेय मैसूर से चलकर शासन निरीक्षण के लिये श्रवणबेलगोल आये और दक्षिण आचार्यों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ की। ३७ वें पद्य से ४७ पद्य तक बताया गया है कि बोम्मन नाम के कविने राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि इस वंश के चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य जगदेव नाम के तेलंग देश के राजा के विरोध के कारण भल्लातकीपुर के राजा भैरवदेव के यहाँ हैं।

राजा ने चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य को वापस बुलाने की आज्ञा दी और वह वहाँ की शासन व्यवस्था को व्यवस्थित कर श्रीरंगपुर पट्टण में लौट आया। एक समय राजदरवार में मन्त्रवाद का प्रसंग उत्पन्न होने पर पद्म पंडित और पद्मण्ण सेट्टि के परामर्श के अनुसार चारुकीर्त्ति पंडिताचार्य को सम्मान पूर्वक बुलाया। चारुकीर्त्ति की चिद्धता, त्याग और गुणों से मुग्ध होकर राजा ने क्षेत्र, ग्रामादिक भेंट देकर श्रवण-

बेल्लोल में उन्हें रहने को बाध्य किया। सुव्यवस्था के लिये इस स्थान की सीमा निर्धारित कर दी तथा उक्त आचार्य से निर्भय होकर रहने के लिये अनुरोध किया। इन चारुकीर्ति के पश्चात् इस गद्दी पर विमलाचार्य का पट्टाभिषेक हुआ। इसके अनन्तर इस सन्धि में चामराय बडेय के पश्चात् चिक्कराज देव के जन्म होने तक, बीच के सभी राजाओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह परिचय ऐतिहासिक है, पौराणिक नहीं। चिक्कदेव राजा की 'शृंगार कर्णाटक चक्रवर्ती' उपाधि तथा विरुदावली का निरूपण लगभग २० पद्यों में किया गया है। इस वर्णन में कविने अपनी कवि प्रतिभा का परिचय भी दिया है, साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना भी की है।

इस सन्धि में आगे बताया गया है कि चारुकीर्ति योगीन्द्र नाम आचार्य का क्यो पड़ा तथा श्रवणवेल्लोल में उनके साथ विरोध उत्पन्न होने का कारण क्या था? चिक्कदेव राज ने चारुकीर्ति आचार्य के श्रवणवेल्लोलस्थ विरोध का शमन किस बुद्धिमत्ता से किया तथा उन्हें सर्वदा के लिये श्रवणवेल्लोल में किस प्रकार स्थिर कर दिया। आगे इस सन्धि में श्री महावीरस्वामी के अनन्तर चारुकीर्ति पंडिताचार्य तक समस्त आचार्यों के वंशों के सम्बन्ध में प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की है।

तृतीय सन्धि के प्रारम्भ में भरत क्षेत्र तथा काल भेद का वर्णन विस्तार पूर्वक लगभग ५० पद्यों में किया गया है। २४ वें तीर्थंकर भगवान् महावीर के संक्षिप्त परिचय के अनन्तर तीन केवली, पाँच श्रुतकेवली, ग्यारह दश पूर्वधारी, चार आचारांगधारी के नामों का उल्लेख संक्षिप्त परिचय के साथ किया है। इस सन्धि में संघ स्थापना के इतिहास पर भी प्रकाश डाला गया है। श्रीदत्त, शिवदत्त योगी, अरुदत्त मुनि और अर्हद्वल्याचार्य के सम्बन्ध में २० पद्यों में अनेक ज्ञातव्य बातें बतायीं गयी हैं। संघ भेद के कारण का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि एक समय अर्हद्वल्याचार्य विहार करते हुए उज्जैनी में पहुँचे, इनके साथ सोलह हजार मुनियों का संघ था। जब वर्षायोग का समय आया तो आचार्य असमञ्जस में पड़ गये। सोचने लगे कि इतने मुनियों को एक साथ लेकर रहना संभव नहीं हो सकेगा, अतः सकुशल वर्षायोग की समाप्ति तथा विभिन्न स्थानों में धर्म प्रचार हो सके इसलिये उन्होंने तीन-तीन हजार मुनियों का संघ बनाकर तथा एक-एक आचार्य को संघ का अधिपति बनाकर चारों दिशाओं की ओर भेज दिया। आचार्य ने स्वयं अपने साथ चार हजार मुनियों को लेकर उज्जैनी में वर्षायोग धारण किया।

चारों दिशाओं में भेजे गये मुनि वर्षायोग बिताकर आचार्य श्री के समक्ष उपस्थित हुए। आचार्य महाराज ने पूछा कि क्या सभी मुनि आगये? संघाधिपतियों ने उत्तर

दिया कि हाँ, हमारा संघ आ गया। हम अपने-अपने संघ सहित उपस्थित हो गये। इस उत्तर को सुनकर अर्हद्वली आचार्य ने विचार किया कि अब इस पञ्चम काल में मुनियों का संघ एक नहीं रह सकेगा, अतः पूर्व दिशा में वर्षायोग करनेवाले मुनियों के संघ का नाम प्राची संघ या सेनवृक्ष के नीचे ध्यान करने के कारण सेनसंघ रखा। दक्षिण दिशा में वर्षायोग धारण करनेवाले मुनियों के संघ का नाम दक्षिणाचार्य संघ या नन्दिवृक्ष के नीचे ध्यान करने के कारण नन्दिसंघ रखा। उत्तर दिशा में वर्षायोग करनेवालों मुनियों के संघ का नाम उदीची-संघ अथवा शिव नाम की गुफा में वर्षा योग धारण करने के कारण शिव संघ रखा इत प्रकार चारों संघों की स्थापना की गयी।

चौथी सन्धि के प्रारम्भ में मंगलाचरण के उपरान्त अर्हद्वली आचार्य और उनके शिष्यों की सन्तोषवृत्ति का वर्णन है। ३ रे पद्य में बताया गया है कि एक दिन आचार्य ने अपने अभिनव संघ को पृथक्-पृथक् दिशा और देशों में विहार करने का आदेश दिया। गुरु के आदेश के अनुसार चारों संघाति आचार्यों ने गुरु-चरणों में नमोऽस्तु कर प्रस्थान किया। ५-६ वें पद्य में बताया गया है कि नन्दिसंघ के आचार्य तीन हजार मुनियों के साथ विहार करते हुए श्रवणवेलगोल स्थान में आये। ये इस नगर में चिक्कगर पहाड़ पर अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ के चरणों के समीप नमस्कार कर बैठ गये। समस्त मुनियों का संघ यहीं आत्मचिंतन करने में लीन हो गया। इसी बीच सम्राट् चन्द्रगुप्त अनेक वायों के साथ अन्तरीक्ष भगवान पार्श्वनाथके दर्शन के लिये आये। जिनेन्द्र भगवान के दर्शन कर मुनिसंघ को नमस्कार किया तथा अपनी जिज्ञासा को शान्त करने के लिये आचार्य श्री से प्रश्न किया कि महाराज यह मूर्ति अधर में क्यों विराजमान है? भूमि का स्पर्श क्यों नहीं करती है? इसकी महिमा क्या है? कृपाकर समस्त बातें बतलाने का कष्ट करें।

आचार्य—मुनिसुव्रत नाथ तीर्थकर के तीर्थकाल में महाप्रतापी महाराज रामचन्द्र हुए। सीताहरण के अनन्तर महाराज रामचन्द्र ने अपने भाई लक्ष्मण के साथ लंका पर आक्रमण किया। राम रावण को परास्तकर सीता के साथ अयोध्या को लौटे। लंका में महाराज राम को 'गोमट बिम्ब' और महाराणी सीता को 'पार्श्वनाथ बिम्ब' बहुत ही मनोज्ञ और रुचिकर प्रतीत हुए अतः उन दोनों को साथ लेकर वे चले। रास्ते में बेलगोल स्थान को सुन्दर और भव्य देखकर वहीं कुछ दिन के लिये ठहर गये। महाराज रामचन्द्र ने गोमट बिम्ब को विन्ध्यगिरि पर और महारानी सीता देवी ने 'पार्श्वनाथ बिम्ब' को चिक्कगिरि पहाड़ पर स्थापित कर पूजा की। कुछ दिन रहने के उपरान्त जब

महाराज रामचन्द्र जी ने वहाँ से प्रस्थान किया और वे गोम्मत विम्ब को उठाने लगे तो वह उठ नहीं सका, वहीं स्थिर हो गया। इधर पार्श्वनाथ विम्ब को भी जब सीतादेवी ने उठाया तो, वह भी अधर में ही रह गया, जिससे उसी दिन से इसका नाम अन्तराल पार्श्वनाथ या अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पड़ गया। इन दोनों विम्बों को लंका में रावण मन्दोदरी सहित पूजा किया करता था।

भगवान नेमिनाथ तीर्थकर के तीर्थकाल में एक दिन भ्रमण करते हुए अर्जुन और भीम विन्ध्यगिरि पर आये। यहाँ विशाल काय गोम्मत स्वामी के विम्ब को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और जिन दर्शन कर अपने को धन्य माना। पहाड़ पर निरावरण मूर्त्ति को खड़ी देखकर अर्जुन सोचने लगा कि यह मूर्त्ति इस प्रकार निरावरण रह कर सुरक्षित नहीं रह सकेगी। शीत, आतप और वर्षा के कारण इसमें विकार आने की संभावना है अतएव इसकी सुरक्षा का प्रबन्ध करना नितान्त आवश्यक है। उन दोनों भाइयों से सलाह कर उस विशाल मूर्त्ति की रक्षा के लिये यह तय किया कि इसे पथर की विशाल चट्टानों से ढक देना चाहिये। अपनी इस सलाह के अनुसार भीम ने बड़ी-बड़ी चट्टानों को लाकर गम्मतस्वामी के विम्ब को ढक दिया।

यह महाराज चन्द्रगुप्त आचार्य के इस कथन को सुनकर बहुत प्रभावित हुए। उनके मन में इस मूर्त्ति के उद्धार की भावना जाग्रत हुई। चन्द्रगुप्त ने पहाड़ पर एक मन्दिर का निर्माण कराया तथा आचार्य महाराज का उद्देशःमृत पात किया। धर्मोपदेश को सुनकर चन्द्रगुप्त के मन में अत्यन्त विरक्ति उत्पन्न हुई और दक्षिणाचार्य के चरणों में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। आचार्य महाराज ने चन्द्रगुप्त के मस्तक पर पीछी रखकर आशीर्वाद दिया। चन्द्रगुप्त गोम्मत स्वामी की मूर्त्ति का उद्धार तो नहीं कर सका, किन्तु अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ की मूर्त्ति को अपने बनाये मन्दिर में स्थापित कर प्रतिष्ठित किया। दक्षिणाचार्य भद्रबाहु मुनि ही थे। इनके चरणों में नमोऽस्तु कर तीन सौ राजकुमारों के साथ चन्द्रगुप्त ने दीक्षा ग्रहण की। इस सन्धि में आगे नवीन राजकुमारों और चन्द्रगुप्त मुनि की तपस्याओं का वर्णन किया गया है। भद्रबाहु स्वामी ने अपना निकट समय जानकर चन्द्रगुप्त को दक्षिणाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित किया और वह स्वयं समाधि ग्रहण कर आत्मकल्याण में लग गये। इससे आगे चन्द्रगुप्त की योग्यता, ज्ञान, तपश्चर्या आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इन्हें सिद्धान्त शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान था, इनकी कीर्त्ति सर्वत्र व्याप्त थी। पट्टाचार्य हो चन्द्रगुप्त ग्राम, नगर, खेत, कर्बट, पत्तन, आदि में धर्मोपदेश देते हुए विहार करने लगे।

पाँचवीं सन्धि के प्रारम्भ में मंगलाचरण करने के उपरान्त बताया गया है कि चन्द्रगुप्त नन्दिसंघ के चार हजार मुनियों के अधिपति हो अपना पट्ट पद्मनन्दि आचार्य को दे आत्मशोधन में प्रवृत्त हुए। कुछ काल के अनन्तर देवसंघ और शिवसंघ में योग्य पट्टाधीशों के न होने के कारण ये दोनों संघ भी नन्दिसंघ में मिल गये और इन तीनों के एकीकरण का नाम पश्चिमोत्तर संघ (पश्चिम + उत्तर + दक्षिण) पड़ा। इस सन्धि में आगे बताया गया है कि अर्हद्बल्याचार्य, गृद्धपिच्छाचार्य, उमास्वामि पदाचार्य पद्मनन्दि पद्मनन्दि मुनिवर और कुन्दकुन्दाचार्य ये पाँच नाम पद्मनन्दि आचार्य के हैं। पश्चिमोत्तर संघ के अधिपति ये ही आचार्य हुए थे। ५४ वें पद्य से ६९ वें पद्य तक बताया गया है कि पद्मनन्दि आचार्य ने अपना पट्ट वीरनन्दी आचार्य को दिया। वीरनन्दि आचार्य ने चन्द्रप्रभकाव्य, लिखा है।

इस सन्धि के ७९ वें पद्य में चन्द्रप्रभ काव्य के विषय का वर्णन है तथा वीर नन्दी आचार्यके सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला गया है। वीरनन्दी ने अपना पद गोलाचार्य को दिया। गोलाचार्य ने अपना पद मर्हाकाका लग्नाचार्य को दिया। इन्होंने पद्मनन्दी सिद्धान्त चक्रवर्ती को दिया। पद्मनन्दा सिद्धान्त चक्रवर्ती ६००० मुनियों के संघ के अधिपति थे। इस संघ में एक मुनि शाकटायन नाम के थे, जिन्होंने शब्दानुशासन नाम का व्याकरण ग्रन्थ लिखा तथा अपने नाम पर इस ग्रन्थ का नाम भी शाकटायन रखा। इस ग्रन्थ पर अमोघवृत्ति नाम की महत्त्वपूर्ण टीका लिखी। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र को व्यवस्थित शाकटायन मुनि ने किया। कालान्तर में पद्मनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती अपना पद इन्हीं शाकटायनचार्य को देकर आत्मशोधन में लीन हुए। यह सकल शास्त्र पारंगत हो कर ७००० मुनियों के मध्य में चन्द्रमा के समान शोभित होते थे। इनके तत्त्वावधान में मुनि संघ ने अनेक देशों में विहार कर जैनधर्म का प्रचार किया। इसके पश्चात् इस संघ में कुतभूषण मुनि, देवनन्दा व्रती, भट्ट अकलंक देव और प्रभाचन्द्र मुनि ये चार प्रभावक आचार्य हुए। इन चारों में सबसे अधिक प्रभावक कुतभूषण हुए, जिससे संघ का प्रमुख कार्यभार आपके ही ऊपर आकर पड़ा। अवशेष तीनों आचार्य भी प्रभावनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित हो जैनधर्म का प्रभावना करते रहे।

इस सन्धि के ११५ वें पद्य में बताया गया है कि देवनन्दीव्रती ने पद्मावती देवी की साधना की तथा रसायन आदि अनेक विद्याओं की सिद्धि प्राप्त की। ११६ वें पद्य में कहा गया है कि प्रभाचन्द्र मुनि ने ज्वालामालिनी देवी की साधना कर अनुपम ख्याति प्राप्ति की तथा नाना प्रकार से जैनधर्म का प्रभावना कर धर्म को उन्नत बनाया।

११७ वें पद्य में बताया गया है कि भट्टकलंक देव ने कुसुमांजलि यज्ञि का साधन कर जैनधर्म का उद्योतन किया। इसके आगे के पद्यों में इन चारों आचार्यों का उपसंहार रूप से वर्णन है। यह ग्रन्थ पूरा नहीं है, क्योंकि ग्रन्थकर्ता ने अर्द्धवली से लेकर चारुकीर्ति आचार्य तक समस्त आचार्यों की वंशावली का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की थी; किन्तु अकलंक देव के अनन्तर वंशावली नहीं दी गयी है। अतएव यह सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ अधूरा है। इसकी पूरी प्रति जहाँ हो, वहाँ के अधिकारियों को सूचना देने की कृपा करनी चाहिये।

इस ग्रन्थ का वर्णन शैली काव्यात्मक है। आचार्यों की पट्टावली में भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ अन्तर है। कवि चिदानन्द ने इसमें आचार्यों के इतिहास के साथ मैसूर के राजवंश का भी इतिहास दिया है। चिक्कदेवराय तथा इसके पूर्व वंशजों का निरूपण भी इस ग्रन्थ में किया गया है। श्रवणवेलगोलस्थ गोम्मटस्वामी की प्रतिमा का इतिहास मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक है। इतिहास इस बात का साक्ष्य है कि गोम्मट स्वामी की उक्त मूर्ति की प्रतिष्ठा चामुण्डराय ने की थी, परन्तु चामुण्डराय को भी यह प्राचीन मूर्ति ही उपलब्ध हुई थी। उसने वाणों के द्वारा केवल चट्टानों को मूर्ति पर से हटा दिया था। जब मूर्ति प्रकट हो गयी, तब उसकी मातेश्वरी दर्शन कर, बहुत प्रसन्न हुई। क्योंकि चामुण्डराय अपनी माता के आग्रह से पोदनपुर के गोम्मटस्वामी के दर्शन करने जा रहा था। पोदनपुर में भरत चक्रवर्ती ने ५२५ धनुष प्रमाण एक खड्गसन प्रतिमा स्थापित की थी। समयानुसार इस मूर्ति का दर्शन जन साधारण के लिये असंभव हो गया था। केवल मुनिजन ही मन्त्रबल से उस मूर्ति का दर्शन कर सकते थे। चामुण्डराय ने अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा यह जानकर कि इस स्थान पर गोम्मट स्वामी की मूर्ति है, वाण चलाया जिससे भीम द्वारा एकरित चट्टान खण्ड अलग हो गये और मूर्ति का साक्षात्कार होने लगा।

श्रवणवेलगोल प्राचीन काल से कला, साहित्य और धर्मप्रचार की दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान रहा है। जैन संस्कृति की लगभग ढाई हजार वर्षों की गौरव गाथा इस स्थान पर सुरक्षित है। यहाँ के विशाल, रमणीक और दिव्य मन्दिर, प्राचीन गुफाएँ, अनुपम मूर्तियाँ एवं उत्कीर्णित शिलालेख इस स्थान की महत्ता प्रकट करते हैं। अग्रणीत ऋषि-मुनियों ने यहाँ तपस्या कर अपनी अन्तरात्मा को पवित्र किया था, अनेक यात्रियों ने श्रद्धा से प्रेरित हो इस पवित्र स्थान के दर्शन कर अपने जन्म को सफल समझा था। श्रवणवेलगोल शब्द का अर्थ ही, 'जैन-मुनियों का धवल सरोवर' है। महाराज रामचन्द्र, अर्जुन, भीम आदि ने इस स्थान पर रहकर साधना की थी। लंका से लौटते

समय रामचन्द्रजी यहाँ २५ दिन तक रहे, उसी समय यह गो.ममटस्वामी की मूर्ति यहाँ स्थापित हुई। इस मूर्ति की ऊँचाई १७ फीट बताया जाती है। सम्राट् मारसिंह, सम्राट् इन्द्र, सम्राट् राजमल्ल, वीरवर चामुण्डराय, दण्डाधिप गंगराज, मन्त्रिप्रवर हुल्ल आदि नरपुंगवों का सम्वन्ध श्रृणवेल्गोल से रहा है। इस प्रकार इस काव्य ग्रन्थ में श्रृणवेल्गोल का इतिहास दिया है। कवि ने अपने समय से पूर्व की बातों को जनश्रुति के आधार पर न लिखकर ऐतिहासिक तथ्यों के साथ समन्वय करते हुए लिखा है। काव्यात्मक वर्णन में इतिहास की गन्ध सर्वत्र वर्तमान है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्तियों के रदते हुए भी ऐतिहासिक दृग्गज्जना तिरोहित या धूमिल नहीं होने पायी है। इस रचना की सबसे बड़ा विशेषता तथ्यनिरूपण की सरसता है। रस और भाव को अल्लुण्ण रखते हुए भी तथ्य प्रतिपादन में कमी नहीं आने पायी है।



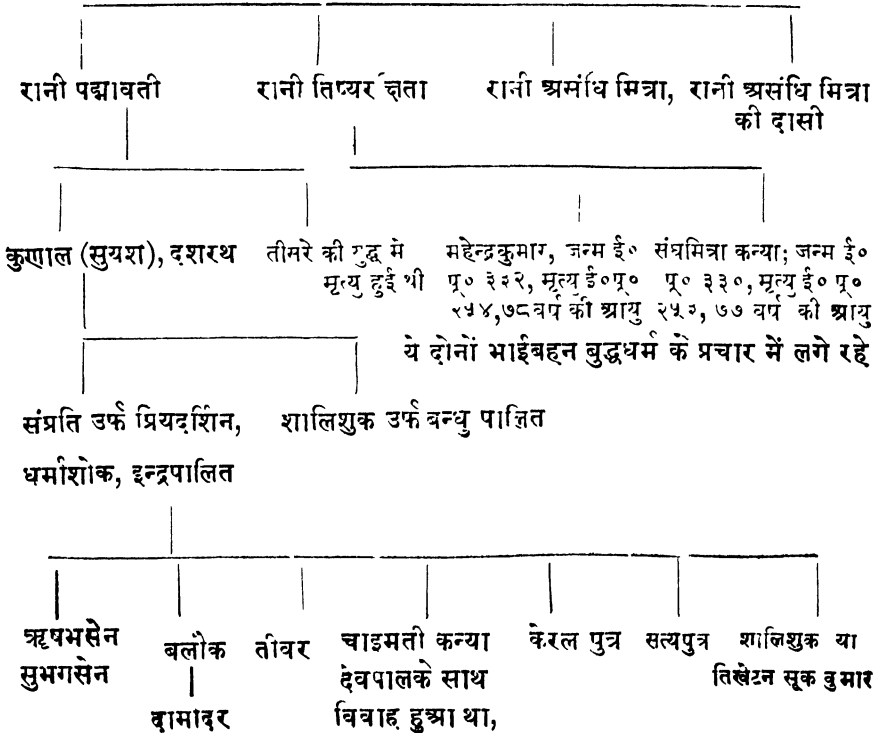
सम्राट् सम्प्रति और उसकी कृतियाँ

[ले. — श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्ञानिपाचार्य, साहित्यज्ञ]

जैन सिद्धान्त-भास्कर भाग १६ क्रि.पू. २ में सम्राट् सम्प्रति के परिचय और महत्ता के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। मौर्य साम्राज्य की वंशावली इतिहास के आधार पर इस प्रकार है।

चन्द्रगुप्त ने ई० पू० ३२२ से २९८ ई० पू० अर्थात् २४ वर्ष राज्य किया, इसके पश्चात् इसका पुत्र विन्दुसार राज्यासीन हुआ, इसने ई० पू० २९८ से ई० पू० २७२ तक अर्थात् २६ वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् इसके पुत्र अशोकवर्द्धन ने राज्यभार ग्रहण किया। इसने ई० पू० २७२ से ई० पू० २३२ तक अर्थात् ४० वर्ष राज्य किया। अशोक के उत्तराधिकारियों की वंशावली निम्न है।

अशोक



कुछ ऐतिहासिक विद्वान् सम्प्रति का उत्तराधिकारी शालिशुक को मानते हैं। इसने ई० पू० २०७ से ई० पू० २०६ तक अर्थात् एक वर्ष राज्य किया था। शालिशुक का पुत्र देववर्मा हुआ, इसने ई० पू० २०६ से ई० पू० १९२ अर्थात् ७ वर्ष राज्य किया। इसके दो पुत्र हुए शतधनुष और वृहद्रथ। शतधनुष ने ई० पू० १९८ से ई० पू० १९१ तक अर्थात् ८ वर्ष राज्य किया तथा वृहद्रथ ने ई० पू० १९१ से ई० पू० १-४ तक अर्थात् ७ वर्ष राज्य किया। इसके पश्चात् इस वंश का योग्य राज्यशासक के न होने से राज्य समाप्त हो गया।

हिन्दू पुराणों में कुणाल का शासन काल ई० पू० २३२ से ई० पू० २२४ तक अर्थात् ८ वर्ष तक माना गया है। परन्तु जैन और बौद्ध साहित्य में अन्धा होने के कारण कुणाल को शासक नहीं माना। वास्तविक बात यह है कि पुराणों में अशोक तक तो मौर्य वंशावली एक रूप में मिलती है, पर इसके बाद की वंशावली में परस्पर मत भिन्नता है। विष्णु पुराण और भगवत पुराण में अशोक के उत्तराधिकारी का नाम 'सुयश' है; किन्तु उसी स्थान पर वायु पुराण में 'कुणाल' और ब्रह्माण्डपुराण में कुशल है। सुयश, कुणाल या कुशल के पीछे विष्णुपुराण में 'दशरथ' का नाम है एवं वायु और ब्रह्माण्डपुराण में वन्धुपालित का नाम मिलता है। भागवतकार इसी स्थान पर 'संयत' नाम लिखते हैं। मत्स्य पुराण में अशोक का उत्तराधिकारी 'सप्तति' (सम्प्रति) बताया है। पुराणकारों की इस मत भिन्नता के आधार पर यही कहा जा सकता है कि अशोक के पिछले मौर्य राजाओं की वंशावली की पुराणकारों को यथार्थ जानकारी नहीं थी। मत्स्यपुराण के कथन का समर्थन जैन और बौद्ध साहित्य से होता है, अतः अशोक का उत्तराधिकारी सम्प्रति को ही मानना उचित है। मत्स्यपुराण में बताया है—

षट्त्रिंशत्तु समा राजा, भविताऽशोक एव च ।

सम्प्रति (सम्प्रति) दर्शवर्षाणि, तस्य नप्ता भविष्यति ॥

राजा दशरथोऽष्टौ तु, तस्य पुत्रो भविष्यति ।

—मत्स्यपुराण अध्याय २७२ श्लो० २३-२४

बौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदान के २९ वें अवदान में जो वृत्तान्त आया है, उससे प्रकट है कि अशोक की बीमारी के समय अशोक का पौत्र युवराज सम्प्रति पाटलीपुत्र में था और अशोक की मृत्यु के उपरान्त उसका वहीं राज्यभिषेक हुआ।

१—“अत्रि च राधगुप्त, अयं मे मनोरथो बभूव कोटीशतं भगवच्छासने दास्यामीति, स च मेऽभिप्रायो न परिपूर्णः । ततो राजाऽशोकेन चत्वारः कोटयः परिपूरयिष्यामीति हिरण्यं सुवर्णं कुर्कुटारामं प्रेषयितुमारब्धः ।

अवदान कल्पलता में जेमेन्द्र ने भी सम्पदी (सम्प्रति) को अशोक का पौत्र और उत्तराधिकारी माना है। इसने लिखा है—

तत्पौत्रः संपदी नाम, लोभान्धस्तस्य शासनम् ।

दानपुण्यप्रवृत्तस्य, कोषाध्यक्षैरवारयत् ॥८॥

दाने निषिद्धे पौत्रेण, संघाय पृथ्वीपतिः ।

भैषज्यामलकस्यार्धं, ददौ सवस्वतां गतम् ॥९॥

—बोधिसत्त्वावदानकल्पलता पल्लव ७४ पु० ५६७

तस्मिंश्च समये कुनालस्य सपदी नाम पुत्रो युवराज्ये प्रवर्तते । तस्यामात्यैरभिहितं—कुमार ! अशोको राजा स्वल्पकालावस्थायी इदं च द्रव्यं कुर्कुटारामं प्रेषयते कोशवलिनश्च राजानो निवारयितव्यः । यावत् कुमारेण भांडागारिकः प्रतिपिद्धाः । यदा राज्ञोऽशांकस्याप्रतिपिद्धाः (?) तस्य सुवर्णभाजने आहारमुपनाम्यते, भुक्त्वा तानि सुवर्णभाजनानि कुर्कुटारामं प्रेषयति । अथ राजाऽशोक, सश्रुदुर्दिननयनवदनोऽमात्यानुवाच दाक्षिण्यात् अनृतं हि किं कथय, भ्रष्टाधिगज्या वयम्, शेषं त्वामलकार्धमित्यर्वासतं यत्र प्रभुत्वं मम । ऐश्वर्यं धिगनार्यमुद्धतनदीतायप्रवेशोपमम, मर्त्येन्द्रस्य ममापि यत् प्रतिभयं दारिद्र्यमभ्यागतम् ॥

अर्थात्— राजा अशांक को बौद्धसंघ को सौ करोड़ सुवर्णदान देने की इच्छा हुई और उसने दान देना शुरू किया । ३६ वर्ष में उसने ६६ करोड़ सुवर्ण तो दे दिया, पर अभी ४ करोड़ देना बाकी था, तब वह बीमार पड़ गया, जिदगी का भरोसा न समझकर उसने अवशेष चार करोड़ का चुका देने के लिये खजाने से कुर्कुटाराम मे भिक्षुओं के लिये द्रव्य भेजना शुरू किया । मन्त्रियों ने कुनाल पुत्र संपदी से कहा—राजन् राजा अशांक अब थोड़े दिन ही रहनेवाला है, राजाओं का खजाना बल है, अतः कुर्कुटाराम जो द्रव्य भेजा जा रहा है, उसे रोकना चाहिये । मन्त्रियों की सलाह से युवराज संपदी ने काशाध्यक्ष को धन देने से रोक दिया । इस पर अशोक ने अपने भोजन करने के सोने, चाँदी और अन्य धातुओं के पात्रों का भी दान कर दिया अब राजा के पास आधा आंवाला शेष रह गया । उसने मन्त्रियों और प्रजागण को एकत्रित कर कहा—बताओ इस समय पृथ्वी में सत्ताधारी कौन है ? सभी ने एक स्वर से कहा—आपही ईश्वर सत्ताधारी राजा हैं । अशोक—तुम दाक्षिण्य से भूट क्यों बोलते हो ? इस समय हमारा प्रभुत्व अर्धामलक पर है । इतना कह कर अशोक ने उसे भी पास के एक व्यक्ति द्वारा कुर्कुटाराम संघ के पास भेज दिया । संघ ने ग्रूपमें मिलाकर आपस में बांट लिया । राजा अशोक ने अन्तिम समय में राधगुप्त अमात्य के समक्ष चार करोड़ स्वर्णदान के बदले में समस्त पृथ्वी का दान कर दिया । अशोक की मृत्यु के उपरान्त अमात्यों ने संघ में ४ करोड़ सुवर्ण देकर पृथ्वी का लुड़ाया और वाद में संपदी का राज्याभिषेक किया गया ।

—दिव्यावदान २६

जैन और बौद्ध साहित्य में कुणाल का अन्धा होना बताया गया है। विमाता के विद्वेष के कारण कुणाल को अपने नेत्रों से हाथ धोना पड़ा था। दिव्यावदान और अवदान कल्पलता में लिखा है कि कुणाल की आँखें बड़ी सुन्दर थीं, जिमसे उसकी सुन्दर आँखों पर मोहित होकर अशोक की रानी तिष्यरक्षिता ने उससे अनुगित प्रार्थना की, किन्तु कुणाल ने उसे स्वीकार नहीं किया। अपना अपमान समझकर रानी अत्यन्त असन्तुष्ट हुई और अवसर मिलने पर बदला लेने की बात तय करली। एक बार राजा अशोक बीमार पड़ा था, वैद्यों ने नाना प्रकार से चिकित्सा की, किन्तु कुछ लाभ नहीं हुआ। तिष्यरक्षिता ने अपनी चतुराई और परिचर्या से सम्राट् अशोक को निरोग कर लिया। प्रसन्न होकर महाराज अशोक ने उसे सात दिन का राज्य दिया। राज्य प्राप्त कर तिष्यरक्षिता ने तक्षशिला * के अधिकारी वर्ग के पास आज्ञापत्र भेजा कि कुणाल हमारे कुल का कलंक है, अतः इसकी आँखें निकाल ली जायें। फलतः कुणाल को आज्ञा प्राप्त कर स्वयं अन्धा होना पड़ा।

जैन ग्रन्थों में बताया है कि विद्याध्ययन के समय ही अवन्ति में कुणाल को विमाता तिष्यरक्षिता के पद्म्यन्त्र के कारण अन्धा होना पड़ा था *। कुणाल ने अपनी बुद्धिमत्ता से अपने पुत्र सम्प्रति को अशोक से राज्य दिलवा दिया था। सम्प्रति के सम्बन्ध में जैन लेखकों में दो मत प्रचलित हैं। प्रथम मत बृहत्कल्पचूर्ण कल्पकिरण-वली, परिशिष्टपत्र आदि का है *। इस मत के अनुसार कुणाल ने सम्प्रति की उत्पत्ति के अनन्तर अशोक से उसके लिये राज्य मांगा; अशोक ने उसी समय राज्य दे दिया। दूसरा मत निशीथ चूर्ण का है, * इसके अनुसार सम्प्रति को कुमार भुक्ति में उज्जयिनी का राज्य मिला था।

इतिहासकारोंने जो कुणाल का राज्यकाल वर्णन बताया है तथा उसे अवन्ति या तक्षशिला का शासक लिखा है; जैन और बौद्ध मान्यता के अनुसार भी इस कथन को

१—जैन ग्रन्थों में कुणाल को अवन्ति में अन्धा किया गया बताया है, किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में तक्षशिला में। इन दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि प्राचीन भारत में अवन्ति और तक्षशिला एक ही नगरी थी। बौद्ध साहित्य में अवन्ति के ही अर्थ में तक्षशिला का प्रयोग हुआ है। वैजयन्ति कोश में बताया भी है—“अवन्ती स्यात्तक्षशिला” —वैजयन्ती

२—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १६/किरण २ पृ० ११५

३—कि काहिसि अंधश्रो रजेण कुणालो भणति—मम पुत्रोत्थि संपती नाम कुमारे, दिन्नं रज्जं—बृहत्कल्पचूर्ण २२

+ + तस्य मुनः कुणा जस्तन्नन्दनास्त्रिखण्डमांका संप्रति नामा भूपतिः अभूत्, सच जातमात्र एव पितामहदत्तराज्यः। —कल्याकरणावली १६५

४—उज्जैणी से कुमारभोक्ती दिग्गा—निशीथचूर्ण

एक प्रकार से ठीक कहा जा सकता है। संभवतः अन्धा होने के पूर्व कुणाल अवन्ति का युवराज था, अतः यहाँ का शासन भार कुणाल के हाथों में रहा हो। अन्धा होने के पश्चात् उसने अपने पिता अशोक से इसीलिये अपने पुत्र के लिये राज्य की याचन की थी कि अन्धा होने के कारण उसके हाथ से गया हुआ उज्जयिनी का राज्य-भार उसके पुत्र को मिल जाय। क्योंकि महाराज अशोक ने कुणाल के अन्धा होने के अनन्तर अपने दूसरे राजकुमार को अवन्ति का शासक बना दिया था। तथा कुणाल की गुजर-बसर के लिये एक-दो गाँव दे दिये थे। इस प्रकार की विभिन्न असमंजस कारक परिस्थिति में कुणाल को या उसके पुत्र सम्प्रति को अवन्ति का शासन मिलना जरा कठिन था; इसीलिये बुद्धिमान कुणाल ने तरकीब सोच कर राजा को वचन बढ़कर अधिकार प्राप्त किया।

मेरे इस कथन का अभिप्राय यह है कि अशोक के पश्चात् कुणाल ने शासन नहीं किया; किन्तु उनकी जीवित अवस्था में कुछ दिनों तक युवराज पद का भार कुणाल के ऊपर रहा था। अवन्ति में अमात्यों की परिपद् की सहायता से कुणाल ने राज्य कार्य किया था। अशोक की मृत्यु के पूर्व सम्प्रति युवराज पद पर आसीन था तथा अवशेष चार करोड़ सुवर्णदान, जिसे अशोक खजाने से कुर्कुटाराम पहुँचाना चाहता था, सम्प्रति ने रूकवा दिया था। युवराजकाल में सम्प्रति अवन्ति का शासक भी था। आर्य सुहृत्ति से सम्प्रति ने युवराजकाल में ही जैनधर्म की दीक्षा ली थी, इसी कारण जैन लेखकों ने उसे दीक्षा के समय युवराज या अवन्ति शासक लिखा है। दिव्यावदान और अवदान कल्पलतावृत्ति नामक बौद्ध ग्रन्थों में स्पष्ट बताया गया है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध संघ में चार करोड़ स्वर्ण दे कर सम्प्रति राज्यासन पर प्रतिष्ठित हुआ था। इसने अशोक के दान को रोक दिया था, इसलिये बौद्धलेखकों ने इसकी निन्दा की है, इसे लोभी, मदान्ध आदि कहा है।

१—परितपिना उज्जैणी अरण्यस दिग्गा—कल्पचूर्णि

२—गङ्गाभुभाररुचिरं चतुर्भुगशि-वेलाविलामवसनां मलयावतंसाम् ।

दच्चाडखिलां वसुमतीं स समाममाद, पुण्यं प्रमाणकलनारहितं हिताय ॥

प्रख्यात परण्वति कोटिसुवर्णदाने, याते दिव नरपतावथ तस्य पौत्रः ।

शोषेण मन्त्रिवचसा ज्जित्तिमाजहार, स्पष्टकथी कनककोटिचतुष्टयेन ॥

× × × अवदान कल्प ल० प० ७४ श्लो० ११-१२

एष गङ्गोऽशोकस्य मनोरथो वभूव कांठिशतं भगवच्छामने दानं दास्यामीति तेन परण्वति-कोटयो दत्ता यावद् राज्ञा प्रतिपिद्धाः, तदभिप्रायेण राज्ञा पृथिवी संघे दत्ता यावदमाल्यैश्चतस्राः कोटयो भगवच्छामने दत्त्वा पृथिवीं निष्क्रीय संपदी राज्ये प्रतिष्ठापितः । — दिव्यावदान २६

अशोक की मृत्यु के उपरान्त सम्प्रति ने पाटलीपुत्र के भिन्दासन पर स्थित हो अपनी राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ किया। उसने युवराजकाल में ही काठियावाड़ और दक्षिणापथ को स्वाधीन कर लिया था। विशीथचूर्णि में बताया गया है—“तेण सुद्ध-चिसया अंवा दमिजा य अंब्रिया” इसी सम्बन्ध में कलमचूर्णिकार ने लिखा है—“ताहे तेण संपडणा उज्जेणीआई कउं दक्खिणावहो सवो तत्थ टिएण वि अज्जाचितो” अर्थात् उस सम्प्रति नरेश ने समस्त दक्षिणापथ को स्वाधीन कर लिया था। इस प्रकार पश्चिम और दक्षिण भारत राज्याभिषेक होने के पहले ही युवराज अवस्था में सम्प्रति के आधीन थे। पूर्वीय भारत मगध के रज्यभिन्दासन पर अभिषिक्त होने के पश्चात् सम्प्रति के अधिकार में आया।

मुनिश्री कल्याण विजय जी ने ‘वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना’ नामक पुस्तक में अनुमान किया है कि सम्प्रति के पूर्व पूर्वीय भारत का कुछ भाग अशोक के द्वितीय पुत्र दशरथ के आधीन था। कुणाल के अन्धा होने के उपरान्त जब तक अर्वाक्ष का शासन सम्प्रति को नहीं मिला, तब तक अशोक का यही द्वितीय पुत्र दशरथ अर्वाक्ष का शासक रहा होगा। मुनि जी के इस अनुमान की पुष्टि दशरथ के नाम के उपलब्ध शिलालेखों से भी हो जाती है।

सम्प्रति ने अपने राज्य में अपनी कीर्ति को स्थायी रखने के लिये शिलालेख और स्तम्भ लेख खुदवाये तथा अनेक स्तूपों का निर्माण कर जनता का कल्याण किया। यह इतना निरभिमानी था कि इसने अपना पूरा नाम किसी भी शिलालेख या स्तम्भ लेख में उल्कीर्णित नहीं कराया। केवल महाराज प्रियदर्शन के नाम से सभी लेख खुदवाये हैं। भ्रमवश लोगों ने अशोक को प्रियदर्शन मान लिया है, जिससे सम्प्रति की सारी कृतियाँ आज अशोक की मानी जाने लगी हैं। अशोक के नाम के जितने शिलालेख प्रचलित हैं, उनमें दो-तीन को छोड़ शेष सभी सम्प्रति के हैं। सम्प्रतिने अपने प्रिय अहिंसा धर्म के प्रचार के लिये जैनमान्यता के अनुसार धर्माज्ञाप प्रचलित की हैं। महाराज सम्प्रति ने प्रमुख चौदह शिलालेखों को तीर्थकरों के निर्वाण स्थान, अपने कुटुम्बियों के मृत्यु स्थान और अपने जन्म स्थान पर खुदवाया है। उसका विश्वास था कि निर्वाणस्थान पर यात्रा के लिये आनेवाले यात्री इन धर्माज्ञाओं से लाभ उठायेंगे तथा संसार से विरक्त हो, अपना कल्याण करेंगे।

जैन सम्प्रदाय के २४ तीर्थकरों में से श्री ऋषभनाथ ने अष्टापद पर्वत से, नेमिनाथ ने गिरनार पर्वत से, वासुपूज्य स्वामी ने चम्पापुर के समीपवर्ती पर्वत से, महावीर स्वामी ने पावापुरी से और शेष घास तीर्थकरों ने श्री सम्भेदशिखर (पार्श्वनाथ हिल) से

निर्वाण लाभ किया है। सम्प्रति ने इन निर्वाण स्थानों पर तथा अपने जन्म स्थान भात्रू-विराट एवं अपने ऋषियों के समाधिस्थानों पर शिलालेख खुदवाये हैं। इसने अपना प्रिय चिन्ह हाथी प्रत्येक शिलालेख में अङ्कित कराया है। हाथी के प्रिय होने का कारण यह है कि प्रत्येक तीर्थंकर की माता के सोलह स्त्रियों में श्वेत हाथी प्रथम म्वप्र है। जैनग्रन्थों में यह भी बताया गया है कि सम्प्रति के जन्म के पूर्व इसकी माता ने भी श्वेत हाथी का स्त्रप्र देखा था, अतः इसे हाथी का चिन्ह अत्यन्त प्रिय रहा। अशोक के नाम से प्रचलित चोदह शिलालेख सम्प्रति के ही हैं। वर्णन निम्न प्रकार है।

१—कालसी (शिलालेख, हाथी खुदा हुआ है)—आदिनाथ (ऋषभ नाथ) तीर्थंकर का मोक्ष स्थान अष्टापद पर्वत बताया है। प्राचीन काल का अष्टापद तो देवों ने नष्ट कर दिया है। सम्राट् प्रियदर्शन के समय में कालसी ^१ ही अष्टापद माना जाता था; अतएव इसकी तलहटी में शिलालेख सम्राट् प्रियदर्शन ने खुदवाया।

२—जूनागढ़ (गिरनार जी, शिलालेख और हाथी उत्काणित है)—बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ का मोक्ष स्थान गिरनार पर्वत बताया गया है। प्राचीन पर्वत की तलहटी धीरे-धीरे हटकर वर्तमान गिरनार पर्वत के स्थान पर पहुंच गया है। सम्राट् प्रियदर्शन के समय यह तलहटी उसी स्थान पर थी, जिस पर यह शिलालेख अङ्कित है। हमारे इस कथन की पुष्टि सुदर्शन तालाब की प्रशस्ति से भी होती है। इसमें बताया गया है कि यह तालाब गिरनार पर्वत की तलहटी में बनवाया गया था। परन्तु आज यह गिरनार से दूर पड़ता है ^२।

धौली ^३ (शिलालेख, स्थूल हाथी अङ्कित है)—जैनागम में बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि श्री सम्मेश्वर (पार्श्वनाथ ढिल) को माना गया है। सम्राट् प्रिय-

१—यह स्थान मयुक प्रदेश के देशगढ़ जिले में लगभग उट्टमील दक्षिण की ओर जमुना और टोंग के संगम पर है। हाथी का मूर्ति के नीचे 'गजतमो' लिखा है।

२—गिरनार जी की तलहटी में सुदर्शन नामका तालाब है, इसके पुनरुद्धार सम्मन्धी शिलालेख का पीटर्न साहय ने अनुवाद करने हुए कहा है कि इस तालाब का प्रथम सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में विष्णुगुप्त ने बनवाया था। इसके पश्चात् इसके चारों ओर की दीवारों सम्राट् अशोक के समय में तुयम नामक सत्त धानी ने पहली बार सुधारवायी थी। तत्पश्चात् दूसरी बार पुनरुद्धार प्रियदर्शिन के समय में हुआ। इस कथन में चन्द्रगुप्त, अशोक और प्रियदर्शिन इन तीनों शासकों के नाम आये हैं। अतएव अशोक और प्रियदर्शिन ये दो निम्न व्यक्ति हैं। प्रियदर्शिन सम्प्रति ही था, जैनागम में इस नाम से इसका उल्लेख किया गया है।

—जैनसिद्धन्त भास्कर भाग १६ किरण २ पृ० ११६, तथा भायनगर के संस्कृत, प्राकृत शिलालेख पृ० २०

३—यह स्थान आनकन पुरी जिले में भुवनेश्वर से मान मील दक्षिण धौली नामक गाँव के पास अश्वत्थामा पहाड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। एक चट्टान पर १६ प्रशापन खुदे हैं। हाथी

दर्शन के समय में पार्श्वनाथ हिल की तलहटी धौली-के निकट थी। इसी कारण सम्राट् ने इस पवित्र क्षेत्र की तलहटी में शिलालेख खुदवाया था। इस शिलालेख के पास स्थूल हाथी की मूर्ति अङ्कित की गयी है, जो इस बात को प्रकट करती है कि सम्राट् इस स्थान को अन्य स्थानों की अपेक्षा विशेष पवित्र समझता था; क्योंकि इस पर्वत पर से बीस तीर्थंकरों ने निर्वाण लाभ किया है। प्राचीनकाल में खण्डगिरि, उदयगिरि सम्मेदशिखर पर्वत के ही अन्तर्गत थे। खण्डगिरि नाम स्वयं इस बात का द्योतक है कि पहाड़ के खण्डित हो जाने के कारण ही यह नाम पड़ा है। महाराज खारवेल के समय में सम्मेदशिखर पर्वत की श्रेणियाँ खण्डगिरि, उदय गिरि तक थीं। कलिंग नृपति खारवेलने खण्डगिरि हाथी गुंफा का शिलालेख इसी कारण खुदवाया था कि वह इसे सम्मेदशिखर पर्वत का भाग मानता था।

४ रूपनाथ ' (लघु शिलालेख)— बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की निर्वाण भूमि चम्पापुरी के आस-पास का कोई पर्वत था। इस चम्पापुरी को महाराज कुणिक ने ई० पू० ५२४ में बसाया था। यह चम्पानगरी रूपनाथ और भरहुत के बीच में थी। चम्पानगरी के निकट के पर्वत की तलहटी रूपनाथ में ही थी। यद्यपि इस स्थान पर के लेख अस्पष्ट हैं तथा हाथी का चिन्ह भी मिट गया प्रतीत होता है।

५ पावापुरी— यह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाणभूमि है। जिस प्रकार अन्य तीर्थंकरों ने पर्वत के ऊपर ध्यानरूढ़ हो निर्वाण लाभ किया था, उस प्रकार भगवान् महावीर ने नहीं। इन्होंने निर्जन सुरम्य वन के मध्य पद्म-सरोवर से युक्त पावापुरी के स्थल भाग से शुद्ध ध्यान द्वारा निर्वाण लाभ किया है। इस स्थान पर कोई पहाड़ न होने के कारण सम्राट् सम्प्रति शिलालेख नहीं खुदवा सका है।

६-७ शाहवाज ' गढ़ी और मानसेरा ' —ये दोनों स्थान इनके वंश के लोगों के सामने की आशी मूर्ति करके बनायी गयी है। छठे प्रज्ञापन के अन्त में 'सितो' शब्द भी आया है।

१—आजकल रूपनाथ मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले में माना जाता है, प्राचीन चम्पापुरी रूपनाथ और भरहुत के मध्य में थी तथा वासुपूज्य स्वामी का निर्वाण भी इसी चम्पापुरी के निकटवाली पहाड़ी से हुआ था।

२—यह गाँव पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त के पेशावर जिले की युमुकनई तहसील में है। इसके पास एक चट्टान पर चौदह प्रज्ञापनाएँ उत्कीर्णित हैं। यह पहाड़ी पेशावर से ४० मील उत्तर-पूर्व है।

३—यह पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के हजारा जिले में अबटाबाद नगर से १५ मील उत्तर की ओर है।

के मृत्यु स्थान हैं। सम्राट् विन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र पंजाब के विद्रोह को शान्त करने गया था। उपद्रवकारियों ने शाहबाज गढ़ी में इसकी हत्या कर दी थी। सम्राट् सम्प्रति ने इसी कारण शाहबाज गढ़ी में शिलालेख अङ्कित कराया। मानसेरा सम्राट् अशोक के छोटे भाई का मृत्यु स्थान है, वह भी किसी उपद्रव को शान्त करने गया था।

८—भाब्रू^१ विराट्—यह राजा प्रियदर्शिन का जन्म स्थान है। जन्मस्थान के प्रेम से प्रेरित होकर प्रियदर्शिन ने इस स्थान पर शिलालेख अङ्कित कराया था।

९—सासाराम^२—यह सम्राट् अशोक का मृत्यु स्थान है। यहाँ पर पाषाण खण्डों पर शिलालेख अङ्कित कराया गया है इस लेख में वीरनिर्वाण संवत् २५६ दिया गया है तथा इस समय प्रियदर्शिन की अवस्था २२। वर्ष की बतायी गयी है।

१०—मास्कि^३—महाराज अशाक के भाई तिष्य और कुमार कुणाल के समान अवन्ति में रहनेवाले माधवसिंह का यह मरण स्थान है। इसी कारण यहाँ पर शिलालेख अंकित कराया है।

११, १२, १३—सिद्ध^४ गिरि, ब्रह्मगिरि^५ और चित्तल^६ दुर्ग—महाराज चन्द्रगुप्त, भद्रबाहु स्वामी और कान्त मुनिराज के समाधि-मरणों की स्मृति के लिये इन स्थानों में लेख अंकित कराये हैं। यहाँ उन तीनों की मूर्तियाँ भी वर्तमान हैं।

१४ सोपारा^७—इस स्थान पर, भी किसी मुनि की समाधि हुई है। यहाँ पर चन्द्रगुप्त के साथ में विहार करनेवाले क्षेमकर नामक मुनि के समाधि प्रहण करने का उल्लेख भी मिलता है, अतः इस स्थान पर प्रियदर्शिन ने शिलालेख अंकित कराया था।

सम्राट् प्रियदर्शिन ने जनता में धर्म प्रचार के लिये शिलालेखों के अतिरिक्त स्तम्भ और स्तूप भी स्थापित किये तथा स्तम्भों के उपर सिंह की मूर्ति अंकित कर स्तम्भ-लेख उत्कीर्ण कराये। जिस प्रकार इसने पर्वतों की शिलाओं पर शिलालेखों के लिये

१—यह स्थान जयपुर राज्य में है। जिस पत्थर पर यह शिलालेख उत्कीर्ण है, वह आजकल कलकत्ते की बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के भवन में प्रिसेप की मूर्ति के सामने सुरक्षित है।

२—विहार के शाहाबाद जिले में है।

३—यह स्थान निजाम राज्य के रायचूर जिले में है।

४—यह स्थान उत्तर मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले में है।

५—उत्तर मैसूर के चित्तलदुर्ग जिले में यह आजकल है।

६—यह मैसूर राज्य में है।

७—यह बम्बई के पास धाना जिले में है।

निर्वाण स्थान, समाधि स्थान एवं अपने जन्म स्थान को पसन्द किया था उसी प्रकार स्तम्भों के लिये अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के तप स्थान और उपसर्ग स्थानों को पसन्द किया। स्तम्भ लेखों में यह निश्चय करना कठिन है कि सम्राट् सम्प्रति के स्तम्भ कौन-कौन हैं; क्योंकि महाराज अशोक ने भी ८४०० स्तम्भों का निर्माण किया था अतः सम्राट् सम्प्रति और सम्राट् अशोक इन दोनों के स्तम्भों का मिश्रण हो गया है। फिर भी इतना सुनिश्चित है कि जिन स्तम्भों पर सिंह की मूर्ति है, वे सभी स्तम्भ सम्राट् सम्प्रति के हैं। इसने अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के लाँछन सिंह की मूर्ति को स्तम्भों पर स्थापित किया था। इसका अभिप्राय यह था कि सामान्य जनता भी वीरप्रभु का स्मरण उनके लाँछन सिंह को देखकर कर सके।

श्री डा० त्रिभुवनदास जी ने स्तूपों के निर्माण का कारण बताया है कि भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण के अनन्तर उनके पट्टधर आचार्य या अन्य प्रमुख जैनधर्म के प्रचारक श्रावक, जिन्होंने समाधिमरण धारण किया था; के अग्नि संस्कार करके उत्पन्न हुए भस्म को सुरक्षित रखने के लिये इन स्तूपों का निर्माण सम्राट् सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शन ने कराया था। इसी कारण इन स्तूपों को भस्म करण्डक कहा गया है। अथवा यह भी संभव है कि महावीर के अनन्तर हुए जैनाचार्यों के समाधि स्थान पर उनकी भस्म को सुरक्षित रखने के लिये स्तूपों का निर्माण कराया गया हो। सेरा अनुमान है कि चौबीस तीर्थंकरों के पञ्चकल्याणक स्थानों पर सम्प्रति ने स्तूपों का निर्माण कराया था। यद्यपि मेरे अनुमान की पुष्टि अन्य प्रमाणों से नहीं होती है फिर भी अब तक जो स्तूपों के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं, उनसे उक्त अनुमान को पर्याप्त बल मिलता है।

वर्तमान राजमुद्रा

वर्तमान राजमुद्रा, जिसे भारत सरकार ने अशोक की मुद्रा मानकर स्वीकार किया है, वास्तव में सम्राट् सम्प्रति की है। सम्राट् सम्प्रति उर्फ प्रियदर्शन ने सारनाथ में जो स्तम्भ खड़ा किया था, उसपर तीन सिंहों की मूर्तियाँ, सिंहों के नीचे धर्मचक्र यथा इसके दाईं, बाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्तियाँ अंकित करायी हैं। इस मुद्रा के सभी प्रतीकों का जैन संस्कृति से सम्बन्ध है। सिंह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का लाँछन था, अतः अन्तिम तीर्थंकर की स्मृति की लिये सिंह की मूर्ति को अपनाया था। जैनाम्नाय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र्य ये तीन रत्न माने जाते हैं, इन तीनों का उपदेश भगवान् महावीर ने दिया था अतः तीन सिंहों की मूर्तियाँ रखीं। इन मूर्तियों का सन्निवेश भी जैन संस्कृति के प्रतीकों के अनुसार किया गया है। बीचवाला सिंह सम्यग्दर्शन का प्रतीक है तथा अगल-

बगल के सिंह, जिनका चिरुद्ध दिशाओं की ओर मुख है; सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रतीक हैं ।

धर्मचक्र के दाईं, बाईं ओर रहनेवाले बैल और घोड़े का सम्बन्ध जैनप्रतीकों से है। बैल इस काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का लांछन है तथा घोड़ा तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ का लांछन है; सम्राट् सम्प्रति ने द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ के चिन्ह हाथी का प्रयोग इसलिये नहीं किया कि उसने शिलालेखों में हाथी का प्रयोग किया था। अतः प्रथम और तृतीय तीर्थंकर के चिन्हों को अंकित कर अपनी धर्म-भावना का परिचय दिया।

धर्मचक्र को बौद्ध संस्कृति से प्रभावित इतिहासकार बौद्धाम्नाय की मौलिक देन मानते हैं, परन्तु वास्तविकता कुछ और है। यह जैन प्रतीक है, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तक्षशिला में इसका प्रवर्तन किया था। यदि यह बौद्ध परम्परा का प्रतीक होता तो प्राचीन पाली साहित्य में इसको अवश्य महत्वपूर्ण स्थान मिलता। प्राचीन जैनागम में जो कि निश्चय बौद्धागम से प्राचीन हैं, धर्मचक्र का उल्लेख मिलता है तथा योजन प्रमाण सुविस्तृत सर्वरत्नमय धर्मचक्र की पूजा किये जाने का कथन वर्तमान है। धर्मचक्र प्राचीन जैन मूर्तियों पर भी अंकित मिलता है। कुषाणकाल से लेकर मध्य काल तक की जैन प्रतिमाओं के नीचे धर्मचक्र का चिन्ह अवश्य रहा है। मुगल काल में धातु प्रतिमाएँ भी छोटी बनने लगी थीं, जिससे इस सांस्कृतिक चिन्ह को प्रतिमा निर्माता भूल गये। पटना म्यूजिम में एक धातु का सुन्दर धर्मचक्र वर्तमान है, जो सातवीं आठवीं शताब्दी का है। आरा के श्री आदिनाथ जिनालय, धनुपुरा में श्याम-वर्ण की प्रतिमा के नीचे धर्मचक्र अंकित है। जैन पुराणों में बताया गया है कि प्रत्येक तीर्थंकर के समवशरण के दरवाजे पर सर्वतोभद्र यत्न धर्मचक्र अपने सिर पर लिये खड़ा रहता था। अतः यह निश्चित है कि धर्मचक्र जैन संस्कृति का प्रतीक है।

अतएव वर्तमान राजमुद्रा का जैन संस्कृति से सम्बन्ध है। बौद्ध संस्कृति से खींचतान कर कोई भले ही सम्बन्ध जोड़ने का उपक्रम करे, किन्तु तथ्य यही है कि सम्राट् सम्प्रति ने इस मुद्रा को स्तम्भ पर अंकित कराया था। गणतन्त्र भारत ने इस मुद्रा को अशोक मुद्रा के नाम से स्वीकार किया है; पर वास्तविक इतिहास को अवगत कर इसे जैनमान्यता मिलनी चाहिये।

विविध-विषय

[ले०—श्रीयुत वा० कामता प्रसाद जैन एम० आर० ए० एस्०, डी० एल०]

१— “श्रीमच्छंकरदिग्विजय” में जैन उल्लेख

आठवीं शताब्दि में वैदिकपरम्परा के अभ्युत्थान का श्रेय दक्षिण भारत के श्री शङ्कराचार्य को प्राप्त है। उन्होंने अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक-ज्ञान-प्रदान करने के साथ ही उनको वर्णाश्रम-धर्म का कट्टर पक्षपाती बनाया था। श्रमण परम्परा की उदारवृत्ति के लिये वह एक विनोवी थी। श्री शङ्कराचार्य ने अपने मत का प्रचार करने के लिये भारत के भिन्न-भिन्न भागों का दौरा किया था और विविध मत-मतान्तरों के धर्माचार्यों से शास्त्रार्थ भी किये थे। उनके इन दौरों और शास्त्रार्थों का विवरण “श्रीमच्छंकरदिग्विजय” नामक ग्रन्थ में श्री विद्यारण्यस्वामि नामक ग्रंथकर्त्ता ने संकलित किया है। हमारे सम्मुख उसकी ‘आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क २२’ नामक आवृत्ति उपस्थित है। इसमें धनपति सूरि की टीका भी दी गई है, इसके अन्तर्गत हमको दो स्थलों पर जैनधर्म विषयक उल्लेख मिले हैं। पहले ही आन्ध्र-कर्णाटकादि देशों में वाद करते हुये जब वह उज्जैन पहुंचते हैं तो वहां किसी कौपीन मात्र धारी क्षपणक से उनका वाद होता है। टीकाकार इस घटना को निम्न प्रकार चित्रित करता है :—

“कौपीन मात्रसंधारी जैनस्तु तत आगतः ।

मलेन विदग्धसर्वाङ्गः सदाऽर्हन्नम इत्यसौ ॥७४॥१५॥

उच्च-न्नमकृच्चोचैः शून्याङ्कः शून्यपुण्ड्रः ।

विन्दुपुण्ड्रमेतश्च शिष्यैः सर्वगयंकरः ॥७५॥

पिशाचवत्समागत्य प्राह श्री शंकरं गुरुम् ।

जिनोदेवोऽस्ति सर्वेषां मुक्तिदः प्राणिनां हृदि ॥७६॥

जीवात्मना स्थितः सोऽतिज्ञानमात्रेण सर्वदा ।

मुक्तत्वात्तस्य देहस्य पतातु समनन्तरम् ॥७७॥

जीवः शुद्धः सदैवास्ति मलपिण्डस्तु देहकः ।

स्नानादि कर्मणा नैव शुद्धिं याति कदाचन ॥७८॥

तस्मात्स्नानादिकं नैव प्रकृत्यं वृथा यतः ।

इत्युक्तोऽसौ जगादेदं मैवं भो जैनदुर्मते ॥७९॥

जीवस्य देहत्रितयं हि विद्यते स्थूलश्च सूक्ष्मश्च तथैव कारणम् ।

तेषां क्रमाज्जातु लयो भवेद्यदा स्यात्सच्चिदानन्दवपुस्तदा स्वयम् ॥८०॥

भिन्नोऽहमीशादिति धीरविद्या बद्धस्तयाऽभेदधिया विमुक्तः ।

एवं विमोक्षस्य सुदुर्लभस्य देहस्य पातान्न सभासि संभवः ॥८१॥

एवं श्रुत्वा शिष्ययुक्तः स जैनो भाषानेपाद्यैर्विमुक्तो गुरुणाम् ।

नित्यं धान्याकर्षणे संयुतः पयाभ्याद्यैरेष जातरे वणिग्वै ॥८२॥

इस प्रकरण में कोई मौलिक सैद्धान्तिक चर्चा का आभास नहीं मिलता, बल्कि जैन साधुओं के स्नानादि बाह्य क्रियाओं पर आक्षेप किये हैं; जो निस्सार हैं। गङ्गा-यमुना में प्रतिदिन स्नान करने से किसी की मुक्ति कैसे संभव है? किन्तु उपरोक्त अंश में इसी कारण जैनों को पद-पद पर कोसा गया है! यह भी लिखा है कि इस समय जैनी रूपये कमाने में मस्त हो जाने के कारण निरे बनिये हो गए हैं।

दूसरा स्थल बाह्लिका प्रदेश में आर्हत-समागम-प्रसंग का निम्न प्रकार उल्लेख है :—

“प्रतिपद्य तु बाह्लिकान्मदृषौ विनयिभ्यः प्रविवृण्वति स्वभाष्यम् ।

अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः समये केचिदथाऽऽर्हताभिधाने ॥१४२॥

ननु जीवमजीवमासवं च श्रिनवत्संवरनिर्जरौ च बन्धः ।

अपि मोक्ष उपैषि सप्तसंख्यान्न पदार्थान्कथमेव सप्तभङ्ग्या ॥११३॥इत्यादि

टीकाकार ने बाह्लीक प्रदेश के उन आर्हत (जैनों) को ‘विवसनं समये प्रवीणः’ लिखा है, जिससे उनका दिगम्बर जैन होना सिद्ध है। (सत्यार्हतसंज्ञके विवसनसमये प्रवीणाः) इस प्रकरण में टीकाकार ने जैनों के सात तत्व, नौ पदार्थ और सप्तभङ्गी नयों का उल्लेख किया है और उनका निर्सन अपने ढंग से करने के लिए असफल प्रयास किया है। सप्तभंगि-नय-ज्ञान को समझने में वह नितान्त असमर्थ रहा है। जैन विद्वानों ने इनका समुचित उत्तर लिखा है। अतः यहाँ कुछ लिखना व्यर्थ है। इन दो स्थलों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में जैनों सम्बन्धी और कोई उल्लेख नहीं है। कोसल के जैन राजा सुधन्वा को शङ्कर ने अपने मत में दीक्षित किया हो, ऐसा उल्लेख भी नहीं है। उज्जैन और बाल्हीक प्रदेशों में जैनों का प्राबल्य था, यह इससे स्पष्ट है।

२ गुणमाला-चउपई ।

जैन सिद्धान्त भवन, आरा के हस्तलिखित ग्रन्थ १५८ संख्यक को अवलोकन करने का सुअवसर हमें भवन के अध्यक्ष मित्रवर पं० नेमिचन्द्र शास्त्री के सौजन्य से प्राप्त हुआ। इस ग्रन्थ का नाम ‘गुणमाला-चउपई’ है और इसे कवि खेमचन्द्र जी ने रचा था। यह बात ग्रन्थ के अन्त में लिखे गए निम्नाङ्कित पुष्पिका वाक्य से स्पष्ट है :—

“इति श्री तपगच्छ मध्ये चन्द्रमाषायां (चन्द्रगम्वायां) पंडित मुक्तिचंद्र
तत् शिष्य पंडित श्री धेमचन्द्र विरचिनायां गुणमाला-चौपई सम्पूर्णं ।
संवत् १७८८ वर्षे मिति चैत्रसुदि ५ दिन त्रत कुमना लिपिकृतं श्रीमालपुर मध्ये ।
श्रीरस्तुः कल्याणमस्तुः ।”

इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रस्तुत प्रति को यति कुशल ने चैत्र सुदी ५ संवत् १७८८ में श्रीमालपुर में लिखा था। इस प्रकार यह प्रति लगभग २२० वर्ष पुरानी है। यद्यपि इसमें गज-सिंह-गुणमाल का प्राचीन आख्यान दिया गया है, परन्तु कविने उसमें अपने समय के समाज, सम्प्रदाय और राज्य का भी चित्रण किया है। कवि जम्बूद्वीप में २५॥ आर्य देशों का उल्लेख करता है—शेष सभी अनार्य देश थे। (आरिजदेश साढापचवीस, तिहां रहै धरमतराल अधीस। अवर सहु अनारिज देश। तिहां नहिं धरमतणौ लवलेस ॥२॥,) वह लिखता है कि पूर्वदेश में १२ योजन विस्तार की गोरखपुरी नामक नगरी थी, जिसमें ८४ जातियों के लोग रहते थे। उनमें ३२ जातियां जुदी और पूर्ण थीं। खेद है, कवि ने इनके नाम नहीं लिखे हैं। नगर में जैनों और शैवों के मंदिर थे तथा बड़े २ हाट बाजार थे। सब लोग धर्मात्मा थे। इस गोरखपुरी में अरिमर्दन राना राज्य करता था, जिसकी कनकावती रानी की कोख से गजसिंह नामक राजकुमार का जन्म हुआ था। उसकी शिक्षा का आरम्भ ‘ऊँ नमः सिद्ध’ अनुरूप बारह खड़ी से हुआ था। वह जैनधर्म का श्रद्धालु था। राजा रानी ने पुत्र का विवाह किया और राज्यभार उसको सौंप कर स्वयं चारित्र्य पालने के लिये वनवासी हो गये। गोरखपुरी में सेठ-कन्या गुणमाला के रूप पर मोहित होकर गजसिंह ने उसके साथ विवाह किया था। इससे स्पष्ट है कि उस समय क्षत्रिय-वैश्यादि जातियों में परस्पर विजातीय विवाह होते थे। कारण यह गजसिंह गुणमाला से रूठ गये। गुणमाला अकेली रहने लगी। एक विद्याधर ने उसे शीलधर्म से डिगाना चाहा, परन्तु गुणमाला अपने धर्म पर दृढ़ रही। विद्याधर ने प्रसन्न होकर कतिपय विद्यायें गुणमाला को भेंट कीं। उधर गजसिंह उससे सशङ्क रहने लगा। वह किसी सिद्ध-पुरुष की तलाश में रहा और यंत्र-मंत्र के चक्र में पड़ गया। देवी, भैरव, यज्ञ को बलि देने को उद्यत हुआ। मंत्रवादी योगी अबधूत ने अपनी करतूत से उसको मोह लिया। इस वर्णन में तत्कालीन तांत्रिकों और गुरु गोरखनाथ के योगियों के कार्यों का परिचय मिलता है। उधर एक जोगिन के द्वारा गुणमाला की परीक्षा कराई गई। गुणमाला शील शिरोमणि थी—किसी का उसके आगे कुछ भी न चली। गजसिंह और गुणमाला सप्रेम रहने लगे। एक दिन एक विद्याधरी गजसिंह को हरले गई और उसीका पति

गुणमाला को उठा ले आया। दोनों ने दोनों को वासनानुरक्त बनाने के असफल प्रयत्न किये। गजसिंह भी स्वदार संतोषव्रत में दृढ़ रहे और गुणमाला तो अपने शील के लिए प्रसिद्ध थी ही—संकट के समय भी वह दृढ़ रही। परिणामतः उसकी रक्षा हुई। गजसिंह भी उससे आकर मिल गये। जो मानव अपने पर विश्वास रखता है, उसके संकट काल में उसका धर्म सहायक बनाता ही है। सिद्धाचल तीर्थ की वंदना का वर्णन विशद किया गया है। पुत्र प्राप्ति के लिए धर्म की आराधना को ही श्रेष्ठ उपाय बताया गया है। अन्त में उनके एक सुंदर पुत्र हुआ जिसे घोड़े पर चढ़कर चौगान खेलने का बहुत शौक था। एक दिन रत्नशेखर मुनि से उसने भी स्वदार संतोष व्रत ग्रहण किया और परिग्रह का परिमाण भी कर लिया। विदर्भनगर की राजकुमारी गांधारी आदि राजपुत्रियों से उसका विवाह किया गया। वह भी शीघ्रव्रत पालने में सावधान था। उस समय समाज में शोल मर्यादा स्त्री और पुरुषों के लिये समान रूप में व्यवहार्य थी, अन्त में गजसिंह और गुणमाला ने धर्मघोषमुनि से दीक्षा ले तप तपा। इस रचना में कविने धर्म के निरूपण के साथ सामाजिक परिस्थिति और साहित्य की सरसता का सुन्दर चित्रण किया है। इसे उन्होंने संवत् १७६१ में टोंक नगर में रचा था।

३ क्या शक और कुषाण आदि राज्यों में ब्राह्मण धर्म का नाश किया गया था ?

स्व० म० म० श्री काशीप्रसाद जी जायसवाल सहश उच्चकोटि के इतिहासज्ञ विद्वान का मत था कि शक और कुषाण राजाओं के शासनकाल में ब्राह्मण धर्म के साथ बहुत अत्याचार किया गया था। अपने 'भारतीय इतिहास' (History of India, 150 A. D.—350. A. D. pp. 45-48) में उन्होंने यही लिखा है। पहली बात तो उन्होंने यह लिखी है कि इस काल के पुरातत्व में ऐसे हिन्दू अवशेषों का अभाव है, जिनसे यह सिद्ध हो कि उस समय हिन्दू पूजा (Orthodox Worship) का प्रचलन था; जब कि 'मत्स्य-पुराण' से स्पष्ट है कि उस समय हिन्दू मन्दिर और मूर्तियां बनायी गयी थीं। अतः उन हिन्दू मन्दिरादि को शकों और कुषाणों ने नष्ट किया होगा। इसकी पुष्टि में वह यह भी लिखते हैं कि जैन और बौद्ध कला में अप्सरा और गजलक्ष्मी का समावेश हिन्दुओं से लेकर किया गया। किन्तु अप्सरा और गजलक्ष्मी का प्रचलन तो इस काल के पहले से भारतीय कला में होता आ रहा था। जैन शास्त्रों में स्वर्गों के वर्णन में देवाङ्गनाओं और अप्सराओं का वर्णन मिलता ही है—जब वह जैनों के शास्त्रीय विधान का मौलिक अंश है, तब यह कैसे संभव है कि उन्होंने इसकी नकल हिन्दुओं की अप्सराओं और गजलक्ष्मी से की होगी ? जैनों में श्री, ह्री, धृति, लक्ष्मी नामक चार देवियां शाश्वत

मानी गई हैं। इस काल में कुषाण-पूर्व काल के हिन्दू मन्दिरों के न मिलने के कारण यह अनुमान करना भी कुछ जंचता नहीं कि उनको कुषाणों और शकों ने नष्ट किया होगा। निस्संदेह जायसवाल जी की विद्वता और गवेषणा आदरणीय है; परन्तु इस प्रकरण में उन्होंने जो प्रमाण उरस्थित किये हैं, वे निर्णयात्मक नहीं प्रतीत होते। अल्ब्रेहनी ने शक-अत्याचार का जो उल्लेख किया है, वह साधारण हे और सुना हुआ। 'गर्गसंहिता' में शकराज को लोभी, पापी परन्तु बलवान लिखा है तथा यह भी लिखा है कि असंख्य क्रूर शकों ने जनता को दुश्चरित्र बनाया था। गुणाध्व ने अलजना लिखा है कि इन स्लेच्छनों ने ब्राह्मणों को नष्ट किया और उनके यज्ञयाग क्रियाओं में बाधाएँ उपस्थित कीं। वे तापस कन्याओं को उठा ले जाते थे! उनसे कोई बुरा कर्म बचा नहीं था। (कथा-सरित् १८) किन्तु इससे भी यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने ब्राह्मणों के मन्दिरादि नष्ट किये थे। 'महाभारत' (वनपर्व अ० १८८ और १९०) में सन् १५० से २०० ई० तक स्लेच्छराज्य होना लिखा है, जिसमें वर्णाश्रमी वैदिक धर्म का हास होगा। आंध्र, शक, पुलिन्द, यवन, काम्बोज, बाल्हीक और सूर आभीरों का शासनचक्र चलेगा। इस काल में वर्णाश्रमी जाति-पाति की उन्नता-नीचता का सर्वथा अभाव हो गया था; जैन और बौद्ध आचार्यों ने सभी मानवों की एक जाति घोषित की थी। आंध्र, शक, पुलिन्दादि राजा लोग जैन और बौद्ध धर्म में दीक्षित किये गये थे, जिसके कारण श्रमण परम्परा का उत्कर्ष हुआ था। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शकादि इतने नृशंस थे कि उन्होंने ब्राह्मणों को तलवार के घाट उतारा और उनके धर्मायतन नष्ट किये—जैन और बौद्ध धर्म अहिंसा का उपदेश देते रहे और शकादि उस उपदेश को मान्य करते थे। अतः शकादि का ब्राह्मणों के प्रति यही अत्याचार हुआ कि उन्होंने उनकी धार्मिक मान्यताओं को प्रश्रय ही नहीं, बल्कि उनको पनपने भी नहीं दिया। इसलिये ही 'महाभारत' में लिखा है कि सारा देश स्लेच्छ हो गया था। कुछ ऐसा विदित होता है कि प्रारम्भ में जैनों और बौद्धों ने इस स्लेच्छ समझे जानेवाले मानवों में अपने धर्म का प्रचार कर के श्रमण संस्कृति को आगे बढ़ाया था। उनकी इस सफलता को देखकर ब्राह्मणों ने भी करवट बदली और वर्णाश्रमधर्म की मान्यता को शिथिल करके शकादि को वैष्णव धर्म में दीक्षित किया था। शक, छत्रप आदि राजाओं के अभिलेखों से यह सिद्ध है कि वे ब्राह्मणों का आदर करते थे और उन्होंने ब्राह्मणों को दान दिया तथा मन्दिर बनवाये थे। नानाघाट का आंध्रवंश के राजा का लेख एक पक्ष के अवसर पर खुदबनाया गया था।

आंध्रों ने ब्राह्मणों को भी दान दिये थे। यवन (Indo-Greek) राजाओं में अधिकांश बौद्ध और जैन हो गये थे। मिनेण्डर नामक राजा अत्यन्त न्यायी और लोकप्रिय था। यवनराज ऐण्टिअल्किडस का राजदूत हेलिकत्रोदोर वैष्णवमतानुयायी हो गया था और उसने वेसनगर में विष्णुका गरुडध्वज बनवाया था। मि० विसेन्ट स्मिथ ने इन्डोग्रीक शासन के विषय में ठीक लिखा है कि “बजाय इसके कि भारतीय राजा और प्रजा हैलेनिक (ग्रीक = यवन) लोगों का अनुकरण करें, उस समय भारत में आनेवाले यवनों का, चाहे वे राजा हों या जनसाधारण, अवश्य ही हिन्दुत्व ग्रहण करने की ओर झुकाव रहता था।” (ओक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० १४२) यवनों के अनुरूप शक-छत्रप भी हिन्दुत्व से अछूते न थे—वे भी बौद्ध, जैन और ब्राह्मण धर्म के अनुयायी हुये थे। उनमें बौद्ध और जैन धर्म की ही विशेष मान्यता थी। कुषाण काल में तो जैनधर्म और बौद्धधर्म परमोत्कर्ष को प्राप्त हुए थे। नहपान और उसके जमाता ऋषभदत्त ने ब्राह्मणों को भी दान दिये थे। महात्तत्रप शोडास के राज्य-काल में मथुरा में वसु ने भ० वासुदेव का चतुःशाला मन्दिर और वेदिका बनवाई थी। कुषाण नृप विम के सिक्कों पर उसे स्पष्टतः ‘माहेस्वरस’ (शिवभक्त) लिखा है। इस वंशमें कनिष्क प्रसिद्ध और प्रभावशाली राजा हुआ। यद्यपि वह बौद्ध था, परन्तु उसके समय में जैन और वैदिकधर्मों की भी उन्नति हुई थी, जैसा कि इन धर्मों से सम्बन्धित प्राप्त अवशेषों से प्रकट होता है। वासुदेव नरेश तो स्वतः शैवधर्म के अनुयायी थे। इन ऐतिहासिक उल्लेखों को देखते हुये यह बात कुछ ठीक-सी नहीं जंचती कि यवन, शक, कुषाण आदि राजाओं के समय में ब्राह्मणों के प्रति घोर अत्याचार किया गया और उनके मन्दिर-मूर्तियां नष्ट की गयीं। अलवत्ता जैनधर्म और बौद्धधर्म का उत्कर्ष इस काल में विशेष होने के कारण वैदिकधर्म, राजधर्म नहीं रहा था। किसी भी उल्लेख से यह प्रकट नहीं होता कि इन राजाओं ने ब्राह्मणों पर अत्याचार करके हिन्दू मन्दिर नष्ट किये थे। विद्वानों को इस प्रसंग में और भी पुष्ट प्रमाण उपस्थित करना उचित है।

४ कतिपय जैन शिलालेख

स्व० कुमार देवेन्द्रप्रसाद जी के संग्रह में हमको निम्नलिखित शिलालेखों की प्रति-लिपियां उपलब्ध हुई हैं, जो उपयोगी जानकर यहाँ उपस्थित किये जाते हैं :—

(१) किशन गढ़ स्टेट के रूपनगर नामक स्थान से लगभग डेढ़ मील दूर अवस्थित तीन जैन देवलियों पर निम्नाङ्कित लेख पढ़े गये हैं :—

१ ‘संवत् १०७६ (?) ज्येष्ठ शुदि १२ श्री मेघमेनाचार्यस्य तस्य शिष्य, श्री विमल-सेन पंडितेन राधनां (भावनां ?) भावयित्वा दिवंगत । तस्मैयं निषिधिका ।।’

देवली के ऊपर एक तीर्थङ्कर मूर्ति अङ्कित है, जिसके नीचे सर्प चिन्ह बना हुआ है। लेख निम्न प्रकार है :—

२ “संवत् १०७६ पौष शुदि १२ श्री पद्ममेनाचार्य देवलोकं गतः ॥ चित्रनंदिना प्रतिष्ठेयं ।”

३ “संवत् १०३६ पौष वदि १ श्री पद्ममेनाचार्य देवलोकं गतः ॥ देवनंदिना प्रतिष्ठेयं ।”

एक अन्य शिलालेख इस प्रकार है :—

४ “स्वस्ती श्री महाराजाधिराज श्री वासुदेवराजः ॥ संवत् १२१६ म.ष.शुदि १३ सनि दिने नाहुमेल वज्रस गोत्र सीह सुतः रारोजल स्वर्ग गतः ॥ वेरुणाल ग्रामश्च ।”

विजोलिया (मेवाड़) का एक शिलालेख भी निम्न प्रकार उद्धृत किया है :—

“श्री गुरुभ्यो नमः । श्री मत्परमगंभीरं स्याद्वादमोषलाञ्छनं । जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनं ॥१॥ श्री वलात्कारगणे । सरस्वतीगच्छे । श्री महिसंघे । (?) कुन्द-कुन्दाचार्यन्वये भट्टारक श्री..... कीर्तिदेवा.....चन्द्रदेवास्तपट्टे भट्टारकश्रीरत्नकीर्ति-देवास्तपट्टे भट्टारक श्री.....देवास्तपट्टे भट्टारक श्री पद्मानंदि देवास्तपट्टे भट्टारक श्री भानुचन्द्र देवाः । कस्य तीर्थङ्करस्येव महिमा भुवनातिगः । रत्नकीर्तियतिस्तुत्यः स न के षाम... ..॥१॥अहंकार स्फारो भवदमित वे.....विवुषो लसत्कांतश्रेणी क्षपण निषनोक्चिद्युति चुरः । अचीती जैनेन्द्रे जनि रजनिनाथ प्रतिनिधिः प्रभाचन्द्रः सांद्रोदय शमितताय व्यतिकरः ॥२॥ श्रीमत्प्रभाचंद्र मुनीन्द्रपट्टे लब्धपतिष्ठः प्रतिभागरिष्ठः । विगुद्ध सिद्धांतरहस्य रत्नरत्नाकरो नंदतु पद्मनन्दी ।३॥ पद्मनदि मुणे पट्टे शुभचन्द्रो यतीश्वरः । तर्कादिक-विद्यासु गच्चं धारोस्ति सांपतं ॥४॥ पट्टे श्री यति पद्मनंदि विदुषश्चारित्र चूडामणिः सद्यास्या (?) मृतभ (?) घ कैरव कुलं तुष्टि परां नीतवान् । वाणीलब्ध..... षः प्रसाद महिमा श्रीमच्छुभे दुर्गुणी मिथ्याध्वात् विनाशनैक सुकरः स.....ष चिन्तामणिः ॥..... वई लोकविनय सिरि तस्याः शिन्तणी वाई चारित्रसिरि ॥ वाई चारित्र की शिन्तणी वाई आगमसिरि वाईश्वरि.....तस्या इयं निषेधिका आचंद्र तारकाक्षयं ॥ संवत् १४=३ वर्षे फ.लगुन शुदि ३ गुरौ ॥ शुभमस्तु ॥”

श्री शिलालेख से विजोलिया (मारवाड़) में १५ वीं शताब्दि तक दिगम्बर जैन-आर्यिकाओं की एक परम्परा का अस्तित्व प्रमाणित है। ऐसी ही एक आर्यिका का यह निषधिका लेख है।

साहित्य-समीक्षा

धवल टीका समन्वित पट् खण्डागम (वेदना खण्ड कृति अनुयोगद्वार) पुस्तक

९—सम्पादकः श्री डा० हीरालाल जैन एम० ए०, सहसम्पादकः श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री और श्री पं० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री; प्रकाशकः श्रीमन्त सेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन साहित्योद्धारक-खण्ड-कार्यालय, अमरावती (बरार); पृ० संख्या: १८+४५०; मूल्य : दस रुपये ।

इस पुस्तक में भगवान् पद्मदान-भूतबलि विरचित पट्खण्डागम के चतुर्थ खण्ड के कृति अनुयोग द्वार की प्ररूपणा है। इसके प्रारम्भ में सूत्रकार ने 'एमो जिणाणं', 'एमो ओहि जिणाणं' आदि ४४ सूत्रों में मंगल किया है। टीकाकार श्री वीरसेनाचार्य ने इन सूत्रों पर विम्वृत विवेचन लिखा है। इन ४४ मंगल सूत्रों में प्रसंगवश अविज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, आठ प्रकार के निमित्त, बुद्धि, तप, विक्रिया, ओपधि, रस, बल और अक्षीण इन सात ऋद्धियों का विस्तार पूर्वक प्ररूपण किया गया है। ४५ वें सूत्र में बतलाया गया है कि अप्रायणीय पूर्व की पञ्चम वस्तु के चतुर्थ प्राभृत का नाम कर्म प्रकृति है। इसमें कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति आदि २४ अनुयोग द्वार हैं। कृति के नाम कृति, स्थापना कृति, द्रव्यकृति, गणनकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति भेद हैं इन सात भेदों का इस अनुयोगद्वार में विस्तार पूर्वक वर्णन किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और अनुवाद के सम्बन्ध में दो-चार बातों पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा। 'उत्तरगुणिते तु धने' आदि करण गाथाओं का भाव स्पष्ट नहीं हुआ है तथा 'आदिं त्रिगुणं' के स्थान पर अर्थ की दृष्टि से 'आदि त्रिगुणात्' पाठ ठीक जंचता है। पृ० २१८ पर 'ज्येष्ठामूलात्परतो' तथा 'एवं क्रमावृद्ध्या' गाथाओं का अर्थ भी स्पष्ट नहीं हुआ है इन गाथाओं में 'शंकु' रीति से छाया का आनयन कर अनध्याय काल का प्रमाण निकाला गया है। इन त्रुटियों के होते हुए भी सम्पादन सुन्दर हुआ है। अनुवाद में जहाँ-तहाँ शब्दानुवाद न कर भावानुवाद ही किया गया है। इस कार्य में श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त-शास्त्री का सहयोग अब मिलने लगा है, यह अवगत कर अगले भागों के और भी सुन्दर बनने की आशा है। प्रत्येक साहित्य प्रेमी से अनुरोध है कि समस्त धवल ग्रन्थ को मंगाकर स्वाध्याय करे तथा प्रत्येक जैन मन्दिर और जैन पुस्तकालयों के संचालकों को तो इस ग्रन्थराज को अवश्य ही मंगाना चाहिये। छपाई-सफाई सुन्दर है।

श्रावकधर्म संग्रह — लेखक : स्व० मा० दरयावसिंह जी सोभिया; संपादक : पं० परमानन्द जैन शास्त्री; प्रकाशक : सस्ती ग्रन्थमाला नं० ७/३३ दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : ३००; मूल्य : सवा रुपया।

देहली में वीर सेवा मन्दिर के तत्त्वावधान में सस्ती ग्रन्थमाला स्थापित की गयी है। इस ग्रन्थमाला से अब तक सात-आठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वास्तव में जैन समाज के लिये यह सौभाग्य की बात है कि इस ग्रन्थमाला से छपे ग्रन्थ अत्यल्प मूल्य में दिये जा रहे हैं। साहित्य प्रचार और जनता में स्वाध्याय भावना जाग्रत करने के लिये ग्रन्थों का मूल्य अल्प रहना आवश्यक है। इस ग्रन्थमाला ने समाज की उक्त कमी को पूर्ति की है। प्रस्तुत ३०० पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य आज महंगाई के युग में सवा रुपया बहुत ही कम है।

यह ग्रन्थ श्रावकाचार का है। इसमें श्रावकों के मूलगुण, उत्तरगुण, दिनचर्या, प्रतिमाप, सूत्रपातक, मुनि के आहार की विधि, सत्तिप्ररूप से मुनि का आचार अठारह हजार शील के भेदादि बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। सोभिया जी ने प्रामाणिक जैनागम के ग्रन्थों के आधार पर इसका संग्रह किया है। हिन्दी भाषा में ग्रन्थ होने से साधारण हिन्दी भाषा जानने वाला भी इससे श्रावक धर्म के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें जान सकता है। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इससे लाभ उठाना चाहिये।

रत्नकरण्डश्रावकाचार टीका—टीकाकार: पं० सदासुखदास काशलीवाल; प्रकाशक : मन्त्री वीर-सेवा-मन्दिर, सस्ती-ग्रन्थ-माला दरियागंज, दिल्ली; पृष्ठ संख्या : २४+७६०, मूल्य, तीन रुपया।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र का आर्षग्रन्थ माना जाता है। श्री पं० सदासुखदास जी ने इस पर अपनी भाषा वचनिका लिखी है। यों तो इस टीका का प्रकाशन अब तक दो-तीन बार हो चुका है; किन्तु पुस्तकाकार रूपमें यह प्रथम प्रकाशन है। प्रारम्भ में श्री० पं० परमानन्द जी की प्रस्तावना है, आपने इसमें ग्रन्थ और ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। टीकाकार के जीवन और कार्यों के बारे में भी प्रस्तावना में प्रकाश डाला गया है। सम्पादन अच्छा हुआ है; छपाई-सफाई अच्छी है।

यदि वीर-सेवा-मन्दिर इस ग्रन्थ की भाषा को, जो कि पुरानी जयपुरी है, आधुनिक हिन्दी में परिवर्तित कर प्रकाशित करता तो सर्वसाधारण पाठक भी इससे अधिक

लाभ उठाते तथा जैनधर्म के गूढ़ तथ्यों को समझने में सुलभता होती। स्वाध्याय प्रेमियों को इस ग्रन्थमाला के सभी ग्रन्थ मंगाकर लाभ उठाना चाहिये।

जैनमहिला-शिक्षा-संग्रह — संग्राहक: पं० परमानन्द जैन शास्त्री, प्रकाशक: वीर-सेवा-मन्दिर, सस्ती ग्रन्थमाला, दरियागंज दिल्ली; पृष्ठ संख्या: २०२, मूल्य: एक रुपया।

यह ग्रन्थ स्त्रियोपयोगी है। इसमें स्त्री-पुरुष के कर्त्तव्य, दाम्पत्य प्रेम, सास-बहू का नैतिक कर्त्तव्य, देवरानी-जिठानो की प्रवृत्ति और कर्त्तव्य, सेवाकर्म और सदाचार, महिला कर्त्तव्य, स्त्रीशिक्षा, नारी दिनचर्या, मिथ्यात्व निषेध, सूतक-पातक, माता की शिक्षा आदि विषयों का निरूपण किया गया है। लेखक ने नारियों के लिये अनेक ज्ञातव्य बातें इसमें बतलायी हैं। चौका की क्रियाओं का निरूपण प्रत्येक जैन नारी के लिये जानना आवश्यक है।

पुस्तक की भाषा शिथिल और अपरिमार्जित है। भावों का चयन भी जहाँ-तहाँ अस्फुटरूप में हुआ है। शैली भी पुरानी संग्रहात्मक है। यदि आधुनिक शैली में इस पुस्तक का निर्माण किया जाता तो यह केवल जैन नारी समाज के लिये ही उपादेय नहीं होती, बल्कि समस्त भारतीय नारी समाज के लिये उपयोगी और पठनीय होती।

सुख की एक झलक (श्री १०५ जुलुक गणेशप्रसाद जी वर्णी के प्रवचनों का संग्रह)—संकलयिता: श्री कपूरचन्द जी जैन बी० ए०. वरैया, लखर; प्रकाशक: सस्ती ग्रन्थमाला ७३३ दरियागंज, दिल्ली, पृष्ठ संख्या: ५+१६६; मूल्य: दस आना।

पूज्य वर्णी जी जैन समाज की अनुपम विभूति हैं। आप अध्यात्म विद्या और तत्त्वज्ञान के पूर्ण रसिक हैं। जगत कल्याण की भावना से दिये गये आपके ये प्रवचन आज के पथ भ्रष्ट मानव समाज को सुख और शान्ति प्रदान करने वाले हैं। वर्तमान में भारतीय समाज के लिये ये प्रवचन नितान्त उपयोगी हैं। इस पुस्तक में जीवन की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियाँ, मोह की महत्ता, सम्यग्दृष्टि और उसकी प्रवृत्ति, ज्ञान की स्वच्छता, इन्द्रियों की विषय प्रभुता, शुद्ध चेतना के आलम्बन, सम्यग्दृष्टि का आत्म परिणाम, भेद विज्ञान की महिमा, आत्मा का ज्ञान स्वभाव, आत्मा का आवृत्त स्वरूप, आत्म-भावना, सच्चा पुरुषार्थ, परिग्रह ही पाप का कारण है, बंध का स्वरूप, त्याग का वास्तविक रूप, अहिंसा तत्त्व आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्रवचनों की शैली इतनी सरल और आशुबोध गम्य है कि साधारण पाठक भी भावों को आसानी से हृदयंगम कर सकता है। शास्त्र प्रवचन कर्त्ताओं और व्याख्यान दाताओं को भी इन प्रवचनों से बड़ा भारी लाभ होगा।

छपाई सफाई अच्छी है। प्रूफ में दो-चार अशुद्धियाँ रह गयी हैं। प्रत्येक स्वाध्याय प्रेमी को इस पुस्तक को मंगाकर लाभ उठाना चाहिये।

सभाष्य रत्न मंजूषा (छन्दो ग्रन्थ)—सम्पादक: प्राध्यापक हरि दामोदर, वेलणकर, विल्सन महाविद्यालय, मुम्बती; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या: ७५+७०; मूल्य: दो रुपये।

यह छन्द विषयक जैन ग्रन्थ है। आदि में सम्पादक की प्रस्तावना है, जिसमें ग्रन्थ के सम्बन्ध में पूरा प्रकाश डाला गया है। पिंगल छन्दशास्त्र के समान यह सूत्रों में लिखा गया है। इसमें आठ अध्याय हैं। सूत्रों पर जैनचार्य की टीका है। नैयायिक शैली की इस टीका से ग्रन्थ का विषय स्पष्ट हो जाता है। सम्पादक ने ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का पूर्ण यत्न किया है। जहाँ-तहाँ संशोधनात्मक टिप्पण भी दिये हैं। ग्रन्थ के अन्त में प्रत्येक अध्याय पर अप्रेजो भाषा में पृथक् पृथक् नोटस दिये हैं। यदि इन नोटसों का हिन्दी अनुवाद भी दे दिया जाता तो संस्कृत के विद्यार्थियों का ज्यादा उपकार होता; छन्द शास्त्र के प्रेमी एवं संस्कृत के ज्ञाताओं को इसे मंगाकर लाभ उठाना चाहिये। छपाई-सफाई-गेटप आदि सुन्दर हैं।

नाममाला सभाष्य - ग्रन्थकर्ता: धनञ्जय; भाष्यकार: अमरकीर्ति; संपादक: श्री पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी व्याकरणाचार्य, सप्ततीर्थ; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ काशी; पृष्ठ संख्या: १४ + १४०; मूल्य: ३।। रुपये।

महाकवि धनञ्जय ने २०० श्लोकों में ही संस्कृत के प्रमुख शब्दों का चयन कर सागर में सागर भर दिया है। शब्द से शब्दान्तर बनाने की विचित्र पद्धतियाँ भी दी हैं, जिससे यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा प्रेमियों के लिये नितान्त उपयोगी बन गया है। ज्ञानपीठ ने इस उपयोगी ग्रन्थ का अमरकीर्ति विरचित भाष्य प्रकाशित कर संस्कृत के विद्यार्थियों का बड़ा भारी उपकार किया है। प्रस्तुत संस्करण के आरम्भ में न्यायचार्य श्री पं० महेन्द्रकुमार जी की १४ पृष्ठों में प्रस्तावना है, जिसमें आपने महाकवि धनञ्जय के जीवन वृत्त और नाममाला भाष्य के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ को सर्वाङ्ग सुन्दर और उपयोगी बनाने के लिये सम्पादक ने टिप्पण दिये हैं; जिनसे शब्दों की व्युत्पत्ति का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। सम्पादन में पर्याप्त श्रम किया गया है, जिससे यह ग्रन्थ अत्यधिक पठनीय हो गया है। ग्रन्थ के अन्त में अनेकार्थ निघण्टु और एकाक्षरी नाममाला ग्रन्थ भी दिये गये हैं। शब्दानुक्रमणिकाएँ, जो कि

नाममाला और भाष्य पर दी गयी हैं, विशेष उपयोगी हैं। संस्कृत के प्रेमियों को इस महत्वपूर्ण कृति से लाभ उठाना चाहिये।

उज्वल प्रवचन (महासती उज्वल कुमारी जी के राष्ट्रीय महापुरुषों के सम्बन्ध में किये गये प्रवचन)—सम्पादक : रत्नकुमार जैन रत्नेश; प्रकाशक : मूलचन्द बड़जात्या भारत जैन महामण्डल वर्धा; प्रुष्टसंख्या : ८६; मूल्य : दस आना।

इस पुस्तक में भगवान् महावीर स्वामी, बुद्धदेव, मानवता प्रेमी बुद्ध और बापू, पुण्यश्लोक गाँधी जी, विवेकानन्द, महात्मा तिलक, रवीन्द्रनाथ टैगोर, यन्त्रपुत्र और गृहोद्योग, महात्मा गाँधी आदि ११ प्रवचन संकलित हैं। सती जाने असाम्प्रदायिक ढंग से महापुरुषों के सम्बन्ध में जानकारी की अनेक बातें इन प्रवचनों में बतलायी हैं। आपकी विचारशैली सुलभ है। विषय निरूपण की शैली भी अनूठी है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाकर पढ़ना चाहिये। छपाई-सफाई अच्छी है।

बुद्ध और महावीर तथा दो भाषण — लेखक: किशोरीलाल घ० मशरूवाला; अनुवादक : जमनालाल जैन; प्रकाशक: भारत जैन महामण्डल वर्धा;—पृष्ठ संख्या : १४८; मूल्य : एक रुपया।

इस छोटी-सी पुस्तिका में भगवान् महावीर और बुद्ध के जीवन वृत्त एवं उनके उद्देशों का प्रतिपादन किया गया है। भगवान् महावीर की जीवन गाथा में उनके विवाह करने का भी उल्लेख किया है, जो भ्रामक है। लेखक ने अज्ञानतावश विवाहवाली बात लिखदी है, पर न मल्लू अनुवादक ने पाद टिप्पण उसपर क्यों नहीं दिया? भगवान् महावीर आजन्म ब्रह्मचारी रहे; उन्होंने आपनी साधना द्वारा सच्चता प्राप्त कर संसार को कल्याणकारी उद्देश दिया था। वास्तव में जैनों के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध श्रमण संस्कृति के अमूल्य रत्न हैं। इन दोनों महापुरुषों ने श्रमण संस्कृति का पुरुस्थान और प्रचार कर जनसाधारण को जाग्रत किया था। लेखक का विचारशैली सयत और विवेक पूर्ण है। महावीर जयन्ती और पर्युषण पर्व के अवसर पर दिये गये मशरूवाला के दो भाषण भी इसमें संकलित हैं। इन दोनों भाषणों में अनेक जानकारी की बातें मौजूद हैं।

अनुवादक का शैली भी प्रशंसनीय है, पढ़ने में कहीं भी अनुवाद की ऊबड़-खाबड़ भूमि से नहीं जाना पड़ता है, बल्कि मूल ग्रन्थ की भाषा का आनन्द मिलता है। ऊपर का गेटप सुन्दर है, छपाई-सफाई अच्छी है।

कल्याण (हिन्दू संस्कृति-अंक) — सम्पादक: हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री; प्रकाशक: घनश्यामदास जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर; पृष्ठ संख्या: ६०४; मूल्य : ६।।) रुपये ।

कल्याण अपने धार्मिक विशेषाङ्कों के लिये प्रसिद्ध है। प्रतिवर्ष इसका विशेषांक किसी प्रमुख विषय पर निकलता है। इस वर्ष के हिन्दू संस्कृति अंक में विभिन्न सांस्कृतिक विषयों पर ३४४ निबन्ध, ६ कविताएँ, २ सुन्दरी चित्र, १७ तिरंगे चित्र और २२६ इकरंगे चित्र हैं। सुपाठ्य सामग्री का चयन सुन्दर किया गया है, एकत्र आर्य संस्कृति के सम्बन्ध में इतना मैटर अन्यत्र मिलना दुष्कर है। प्रायः सभी निबन्ध अधिकारी विद्वानों के द्वारा लिखे गये हैं। जैनाम्नाय के प्रथम तार्थकर भगवान् ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी की जो संचिप्र जीवन गाथाएं दी गयी हैं, वे भ्रामक और असत्य हैं। संपादकों ने इस सम्बन्ध में अपनी कुशलता का परिचय नहीं दिया। स्वामी श्री करपात्री जी का 'संस्कृति विमर्श', योगिराज अरविन्द का 'धर्म की सीमाएँ', श्री विनोवाजी भावे का 'हिन्दू कौन', विहार के राज्यपाल श्री माधव श्री हरि अणोका 'हिन्दू संस्कृति की महत्ता', उत्तरप्रदेश के शिक्षामन्त्री श्री सम्पूर्णानन्द जी का 'हिन्दू-संस्कृति का मूलाधार' आदि निबन्ध विशेष पठनीय हैं। सम्पादक द्वय का श्रम श्लाघनीय है, छपाई-सफाई अत्यन्त सुन्दर है; प्रत्येक संस्कृति प्रेमी को कल्याण का प्रादक बनकर उसकी पठनीय सामग्री से लाभ उठाना चाहिये।

—नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

केवलज्ञान प्रश्न चूडामणि (भाषानुवाद और विस्तृत विवेचन सहित) — सम्पादक: पं० नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य, न्यायतीर्थ आरा; प्रकाशक: भारतीय ज्ञान-पीठ काशी; पृष्ठ संख्या: १४+४०+१२८; मूल्य: चार रुपये ।

यह ज्योतिष विषयक ग्रन्थ है। प्रारम्भ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष पं० रामश्याम पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य का आदि वचन है। आपने इसमें प्रस्तुत ग्रन्थ के सफल सम्पादन की प्रशंसा की है। ग्रन्थमाला संपादक श्री० पं० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य के 'दो शब्द' शीर्षक में ग्रन्थमाला और ग्रन्थ का परिचय दिया है। सम्पादक की ४० पृष्ठों की भूमिका है, जिसमें आपने जैनज्योतिष, ग्रन्थ का विषय, ग्रन्थकर्ता का परिचय एवं जैन प्रश्न शास्त्र की अनेक ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के अन्त में कई उपयोगी परिशिष्ट दिये गये हैं, जिनमें जन्मपत्र बनाने, देखने की विधि, वैवाहिक गणना आदि उपयोगी बातें बतलायी गयी हैं। कलादेश कर्तने और जानने के लिये ग्रन्थ अच्छा है, सम्पादन अच्छा हुआ है, छपाई-सफाई,

गेटप आदि उत्तम हैं। ज्योतिष का परिज्ञान प्राप्त करने तथा व्यावहारिक बातों को जानने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। पाठकों को मंगाकर लाभ उठाना चाहिये।

—तारकेश्वर त्रिपाठी, ज्योतिषाचार्य

रत्नाकरशतक द्वितीय भाग—रचयिता : कवि रत्नाकर वर्णा; अनुवादक और

सम्पादक:—स्वस्ति श्री १०० आचार्य देशभूषण महाराज; सहायक सम्पादक: ज्योतिषाचार्य पं० नेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक : स्याद्धाद प्रकाशन मन्दिर आरा; पृष्ठ संख्या: १५+२७?; मूल्य : २॥) रुपया

कवि रत्नाकरवर्णा कन्नड़भाषा का श्रेष्ठ कवि माना जाता है। उसकी यह रचना भाव और भाषा की दृष्टि से अद्भुत है। श्री १०० आचार्य देशभूषण महाराज ने इसका अनुवाद और सम्पादन कर हिन्दीभाषा-भाषी जनता के लिये इसे सुलभ बना दिया है। इसका विवेचन आधुनिक शैली की खड़ी बोली में लिखा गया है। साधारण से साधारण व्यक्ति भी इसके स्वाध्याय से जनधर्म के गहन आध्यात्मिक सिद्धांतों को अवगत कर सकता है। छपाई-सफाई अच्छी है, गेटप सुन्दर है। स्वाध्याय प्रेमियों को इस ग्रन्थ से लाभ उठाना चाहिये।

—माधवराम न्यायतीर्थ

विश्व-शान्ति और जैन-धर्म—लेखक: पं० नेमिचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक: जुगलकिशोर जैन बी० एस-सी० जैनेन्द्र भवन आरा; पृष्ठ संख्या : ५० मूल्य : आठ आना

विश्व की आधुनिक समस्याओं को सुलभाने में जैन-धर्म के सिद्धान्त कदां तक व्यावहारिक, व्यापक, और स्थायी सफलता प्राप्त कर सकते हैं, यही इस छोट्टी-सी पुस्तक की रचना का ध्येय है। मानव जीवन के मुख्य तत्व, राग और द्वेष विकृत होकर संघर्ष और अधिकार-लिप्सा की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं जो अशान्ति के विभिन्न वातावरण उपस्थित करती हैं। शान्ति-स्थापन करने के प्रयत्न इसी भावना से प्रेरित होने के कारण असफल होते जा रहे हैं। जैन-दर्शन के सिद्धान्त प्रेम और सामंजस्य की भावना को प्रतिष्ठित कर विश्व शान्ति में बाधक बहुमुखी समस्याओं का व्यावहारिक समाधान करते हैं। विषय के प्रतिपादन में तर्कपूर्ण आदर्शवादी दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है। भाषा सरल, स्पष्ट और तथ्यपूर्ण है। विवेचन प्रणाली गंभीर होते हुए भी मनोरंजक है। छपाई-सफाई अच्छी है। पाठकों को पुस्तक मंगाकर पढ़नी चाहिये।

चन्द्रसेनकुमार जैन बी० एस० (ऑनर्स)

श्री जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा का कार्पिक विकरण

[ता० १-६-४६ से २१-५-५०]

जैन समाज की प्रमुख साहित्यिक संस्थाओं में श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा का नाम अग्रगण्य है। यह भवन ३६ वर्षों से जैन साहित्य और जैनधर्म की सेवा करता चला आ रहा है।

वीर संवत् २४७५ ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी से वीर संवत् २४७६ ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक रजिष्टर में ५१३३ व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। इधर जब से भारत स्वतन्त्र हुआ है, समाचार-पत्र पढ़नेवालों की संख्या बढ़ती जा रही है।

नगर के मध्य में भवन के रहने से पाठकों को भवन में समाचार-पत्र पढ़ने का अधिक अवसर मिलता है। समयानुसार भवन में दैनिक पत्र अधिक-से-अधिक संख्या में मगाये जा रहे हैं। कुछ महानुभाव समाचार-पत्र पढ़कर बिना हस्ताक्षर किये ही चल देते हैं। इनकी संख्या भी हस्ताक्षर करनेवालों से कहीं अधिक है।

त्रिंशत् दर्शकों में श्रीमान् पूज्य भगत प्यारेलाल जी, श्रीमान् बाबू दुर्गाप्रसाद जी श्रावगी कलकत्ता, श्री हरिश्चन्द्र मोदी गीरीडीह, श्री भगवानदास केसरी मुंगेर, श्रीजीव न्यायतीर्थ एम० ए०, प्रोफेसर कलकत्ता विश्वविद्यालय, श्री डाक्टर राजवली पाण्डेय एम० ए०, डी० लिट्० प्रोफेसर हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस, श्री० पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री बनारस, श्री० जगन्नाथ मिश्र, प्रोफेसर पटना विश्वविद्यालय, आदि गणमान्य व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपनी शुभ सम्मतियों द्वारा भवन की सुव्यवस्था और उसके संग्रह की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। श्री० प्रो० श्रीजीव ने अपनी शुभ सम्मति में लिखा है कि “हस्तलिखित पुस्तकों का एकत्र इतना समवाय मुझे अन्यत्र देखने को नहीं मिला। भारतीय संस्कृति और साहित्य के अन्वेषण के लिये यहाँ पर्याप्त सामग्री संकलित है। स्वतन्त्र देश के लिये इस प्रकार के समृद्धिशाली पुस्तकालय में आधुनिक साहित्य का भी यथेष्ट संग्रह होता रहा तो यह पुस्तकालय देश के अग्रणीय पुस्तकालयों में स्थान प्राप्त करेगा। मैंने यहाँ दो सप्ताह तक रहकर संस्कृत साहित्य का अन्वेषण किया तथा चित्रालंकार पर मुझे यहाँ पर्याप्त सामग्री मिली”।

प्रकाशन — भवन के इस विभाग में जैन-सिद्धान्त-भास्कर तथा जैन एन्टीक्वैरी का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। भास्कर उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता चला जा रहा है। इसकी मूल्यवान् ठोस सामग्री की अनेक अन्वेषक विद्वानों ने प्रशंसा की है तथा

भास्कर के कई महत्वपूर्ण निबन्धों को अनेक पत्रकारों ने अपने पत्रों में उद्धृत किया है।

परिवर्तन—इस वर्ष भी प्रतिवर्ष के समान भास्कर के परिवर्तन में निम्न पत्र-पत्रिकाएँ आती रही हैं।

हिन्दी—(१) नागरी प्रचारिणी पत्रिका (२) साहित्य सन्देश (३) अनेकान्त (४) जनवाणी (५) किशोर (६) वैद्य (७) जैन महिलादर्श (८) गांधी (९) कल्याण (१०) विकास (११) धर्मदूत (१२) जैन जीवन (१३) जैसवाल जैन बन्धु (१४) जिनवाणी (१५) मारवाड़ी जैन विकास (१६) संगम (१७) दिगम्बर जैन (१८) जैन जगत् (१९) जैन बोधक (२०) साधना (२१) वीरवाणी (२२) वीर (२३) वीर लोकाशाह (२४) जैनमित्र (२५) जैन सन्देश (२६) जैन दर्शन (२७) भविष्य फत्त (२८) जयहिन्द दैनिक का साप्ताहिक विशेषाङ्क (२९) ज्ञानोदय (३०) जीवन साहित्य (३१) जैन भारती।

गुजराती—(१) जैन सत्य प्रकाश (२) जैन सिद्धान्त।

कन्नड़—(१) जयकर्नाटक (२) शरण साहित्य (३) विवेकाभ्युदय।

मराठी—(१) सुप्रभात।

तैलगू—(१) आन्ध्र साहित्य परिषद् पत्रिका।

अंग्रेजी—(1) Annales of the Bhandarker Oriental Research Institute, Poona (2) The Journal of the University Bombay (3) Karnatak Historical Review (4) The Adhyar library bulletin (5) The Journal of the United Provinces Historical Society (6) The Journal of the Annamalia University (7) The Poona Orientalist (8) The Journal of Mythic Society (9) The Journal of Royal Asiatic Society of Bombay (10) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal (11) The Fergusson College Magazine (12) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society (13) The Journal of the Banaras Hindu University (14) The Andhra University College Magazine and Chronical (15) The Journal of the Sindh Historical Society (16) The Journal of the Tanzore Saraswati Library (17) The Bombay Theosophical Bulletin (18) The Jain Gazette (19) The Indian Litrary Review (20) Journal of the Ganganath Jha Research Institute Allahabad (21) The Himalaya Times.

संस्कृत—(१) महाराज संस्कृत पाठशाला पत्रिका ।

इस प्रकार कुल ६० पत्र-पत्रिकाएँ भास्कर के परिवर्तन में आती रही हैं। इनके अतिरिक्त (१) Indian Historical Quarterly (२) विशाल भारत (३) सरस्वती (४) साप्ताहिक संसार (५) दैनिक संसार (६) आज (७) विश्वमित्र (८) प्रदीप (९) नवीन भारत (१०) नवराष्ट्र (११) आर्यावर्त (१२) The Indian Nation (१३) अमृतवाजार पत्रिका; ये पत्र भवन से मूल्य देकर मंगाये जाते रहे हैं। इधर कुछ महीनों से इन्डियन नेशन, सर्चलाइट और अमृतवाजार पत्रिका देवाश्रम से तथा नवराष्ट्र और आर्यावर्त श्री बा० रघुनन्दन प्रसाद जी से भवन को निःशुल्क मिल रहे हैं। एतदर्थ भवन उनका आभारी है।

पाठक—भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अमीष्ट ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं, क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं दिये जाते। इन पाठकों के अतिरिक्त विशेष नियम से कुछ लोगों को घर ले जाने के लिये भी ग्रन्थ दिये गये हैं। इन ग्रन्थों का इस वर्ष की संख्या ४०५ है। इनमें स्थानीय व्यक्तियों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, प्रिंसिपल स्याद्वाद महाविद्यालय काशी, श्रीमान् पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य, संयुक्त मन्त्री दि० जैन विद्वत्परिषद् सागर, श्रीमान् बाबू कामता प्रसाद एम० आर० ए० एम० अलीगंज, श्रीमान् डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए०, डी० लिट्० कोल्हापुर, श्रीमान् अग्रचन्द्र नाहटा बीकानेर, श्रीमान् प्रो० शेषयंगर एम० ए० मद्रास यूनीवर्सिटी, श्रीमान् कविवर रामाधारी सिंद् 'दिनकर' पटना, श्रीमान् पं० बालचन्द्र जी शास्त्री, जैन साहित्योद्धारक कार्यालय अमरावती, श्रीमान् बाबू रामबालक प्रसाद साहित्यरत्न पुलिस विभाग सेक्रेटेरियट पटना, श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द्र शाह धड़ियालो पोल बड़ौदा, श्रीमान् प्रो० राजकुमार जी साहित्याचार्य बड़ौत, श्रीमान् फूलचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री वर्णा ग्रन्थमाला काशी, श्री० पं० परमानन्द जी शास्त्री वीरसेवा मन्दिर सरसावा, श्री० पं० सुखनन्दन जी शास्त्री दि० जैन गुरुकुल हस्तिनापुर।

इस वर्ष शान्ति सम्मेलन के अवसर पर कलकत्ते में होने वाली जैन प्रदर्शनी के लिये "भवन" की अनेक महत्वपूर्ण वस्तुएँ गयी थीं। श्री १०८ आचार्य देश भूषण महाराज का आरा में चातुर्मास हुआ, उन्होंने कन्नड़ एवं संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों का विशेष अवलोकन किया तथा रत्नाकरशतक और धर्मामृत इन दोनों ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद 'भवन' की प्रतियों से किया है। ताड-पत्रीय प्रायः सभी ग्रन्थों का वाचन आपने चातुर्मास में किया, जिससे पुरानी सूची में कुछ संशोधन किये गये।

संग्रह — पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित संस्कृत, प्राकृत, मराठी, गुजराती एवं हिन्दी आदि विभिन्न भागीय भाषाओं के ६० और अंग्रेजी के ६ इस प्रकार ६६ ग्रन्थ संग्रहित हुए हैं ।

भवन को डम्ब वर्ष ग्रन्थ प्रदान करनेवालों में दि० जैन स्त्री समाज आरा एवं व्यवस्थापक आर्नलोजिकल मैसूर आदि के नाम उल्लेख योग्य हैं ।

ममालोचनार्थ प्राप्त ग्रन्थ—(१) मेरी जीवन गाथा (२) बर्सा-बार्सा (३) आप्त-परीक्षा दिन्दी अनुवाद (४) राजगुड (५) गन्नाकर शतक (६) केवलज्ञानप्रभूचूड़ामणि (७) श्रावण धर्म संग्रह (८) जैन महिला शिक्षा (९) छद्मदाला (१०) सरल जैनधर्म (११) नेमि दूत (१२) जयध्वजा (कसायपाहुड) भाग २ (१३) जैनधर्म (१४) नाममाला सभाष्य (१५) सभाष्य रत्न संज्ञपा (१६) पट्टखण्डागम पुस्तक ९ (१७) प्याग राजा वेटा (१८) चिन्मय चिन्तामणि-मराठी (१९) भगवेश वैभव गुजराती ।

सभा—भवन में शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन तथा शाहाबाद जिला पुस्तकालय संघ को कार्यसमितियों और स्थायी-समितियों की बैठकें होती रहीं । महावीर जयन्ती समारोह एवं अन्य धार्मिक सभाएँ इसी भवन के विशाल और सुगम्य प्रांगण में होती रहीं । कृष्ण जन्म दिवस, स्वामी त्रिवेकान्त जन्म दिवस, तुजमी जन्म दिवस आदि सांस्कृतिक उत्सव शाहाबाद विद्यार्थी संघ और शाहाबाद जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रभृति संस्थाओं की ओर से भवन में ही सम्पन्न किये गये ।

इस प्रकार भवन अपनी सेवाएँ साहित्यिक जगत् को प्रदान करता रहा ।

मंत्री

चक्रेश्वर कुमार जैन

वी० एम०सी०



वैराग्यसार-प्राकृतदोहाबन्धः

रचयिता—सुप्रभाचार्यः

जइ थिरु संपय धरि वसई तादिज्जइ रे भाइं ।

वरवंसह सुप्पउ भणइं कहणणि णिच्चल ठाइं ॥१०॥

हे भ्रातः ! हे जीव ! अस्मिन् संसारे यदि इयं संयत् यावत् भवेन सह प्राप्येन सदा गृहे तिष्ठे-
च्चेत्तर्हि तीर्थंक्रगः मुक्तात्मानः चक्रवर्ताः शलाकादयः कथमिमा मय्यदम् परित्यज्य गतवन्तः ।
अतएव वरवंसह सुप्पउ उत्तमाः धर्माचार्याः सुप्रभाचार्याः कथयन्ति यत् वरविशिष्टाः
उत्तमकुलीनाः शलाकादिपुरुषानामियं लक्ष्मीः कथमपि कदापि, कस्मिन् कालेपि निश्चला स्थिरा न
बभूव, — इति

ताउज्जलता दिट्ठु कलिणु पुरिस सरीर सहेइ ।

जमण सुप्पउ सगणमण जरडाइणि लग्गेइ ॥११॥

हे शिष्य ! अस्य जीवस्य इदं शरीरं तावत् दृढतरं भवाने पुनः तावत् शरीरं शोभते च यावत्
जरा डांकनी न खादति ।

मणचोरह माया निसिहि जियरखहिं अण्णाणु जिमहोही ।

सुप्पउ भणइं णिम्मलु णाणु विहाणु ॥१२॥

रे जीव ! मन एव चौरः (त्वं वशीकुरु) माया एव निशारात्रिः तस्मात् तस्मात् निजात्मानमेतत्
रत्नं रक्ष, तेन स्थाय्येन या भवति निर्मल आत्मज्ञानमेव विहाणु प्रभातं भवति । यथाहि कश्चिन्
रात्रौ चौरादिभ्यः स्वंपरिरक्षणं प्रभाते धनिकेत्युच्यते तथैव जीवात्मानं सर्वतः परिरक्षन् आत्म-
ज्ञानीत्युच्यते ।

जणज्जरु सुप्पउ भणइं जइ दुग्गेहि ण हुंति ।

संजमसारउ तव यरणु कुविंह छिनछठतु ॥१३॥

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति हे शिष्य ! अत्र संसारे यदि अमी लोकाः दुखिनो न भवेयुः तर्हि इदं
द्विधा संयमं सारभूतं तपश्चरणं च न कोपि कर्तुं व्यवस्येत् अर्थान् संयमादिकानां सर्वथा परित्यागः
संभाव्येत ।

कवणुसयणाउं जीव तुहुं वहुविइरूव धरन्तु ।

भवपरेणु सुप्पउ भणइं किं न लज्जहि णच्चत्तु ॥१४॥

हे जीव ! त्वं अत्र संसारे नृत्यं कुर्वन् सन् किं न लजसि । अर्थात् लजितो भव अतएव
सुप्रभाचार्यः कथयति यत् भवे संसारे आत्मानं विस्मृत्य नट इव बहुविधनानाप्रकाराणि रूपाणि
कृत्वा नृत्यं करोति अतो नृत्यं कारयति; हे जीव ! त्वं जानवान् कथमज्ञानी बभूव, स्वात्मस्वभावं
तत्त्वादिचिन्तनैः, परस्वरूपात् विरमणं कुरु ।

खणि खणि हरसविसाय वसु मंडिउ मोहन जेण ।

घरिपेरणु सुप्पउ भणइं रे परहरइ खणेण ॥१५॥

रे जीव ! त्वं क्षणं क्षणं प्रति मां ह एव नटकेन कृत्वा मंडितांऽभूः पुनः त्वं हर्षविपादं कृत्वा तस्य वशवर्णोऽभूः । सुप्रभानार्थः कथयति रे मूढ । क्षणेनैव तं परहरइ-परित्यज ।

रिसिदयवरवदिण सयण जं सुहुलहि विनजंति ।

भटितं घरु सुप्पउ भणइं घोरमसाणु नभंति ॥१६॥

हे शिष्य ! यस्य गृहे रिसिदयवरः ऋषिदिगम्बरः न भुंक्ते, पुनः अन्ये दीनाः याचकाः, पुनः सधणसज्जनाः—सद्धर्मसज्जनाः अमी जनाः यस्मिन् गृहे सुखं न लभन्ति तत्र सुप्रभाचार्यः कथयति यत् तस्य गृहं उद्दितं वरं—भस्मीभूतं वरं श्रेष्ठं तस्य गृहं घोरमसाणु भयंकरस्मशानार्थं ज्ञातव्यं न भाति न शोभते ।

ईसरगन्धुमां उघहहिं सयलपरायउ जाणि ।

चलु जीविउ सुप्पउ भणइं पिउवणु तुव अरवसाणि ॥१७॥

हे धनवन् ! त्वं गर्वं मा उद्वहसि मा कुरुः इमानि सकलग्रिग्रहादिकानि वस्तूनि त्वं परस्वरूपं जानीहि । अतएव सुप्रभाचार्यः कथयति यत् कारणात् इदं धनं समस्तं संगं मुक्त्वा त्वं पितृवने श्मशाने गमिष्यसि ।

हियडाकाइं चंडफ जहिं घरुपरियण संतुट्ट ।

जउ जाणहिं सुप्पउ भणइं जइणणजितु हुं सुट्ट ॥१८॥

रे चित्त त्वं कस्मादाकुलः व्याकुलो भवसि, त्व गृहपरिजनकुटुम्बं दृष्ट्वा हर्षितां किं भवसि ततः सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव त्वं किमपि न जानासि अनेन कुटुम्बेन त्वभुसितः आत्मानः बन्धनमगच्छः यतः, इदम् कुटुम्बम् पापप्रेरकं धर्मघातकं च इयम् ।

हियडामंभि विघरुवरणि किं अछहिं णिच्चित्तु ।

धणुजोवणु सुप्पउ भणइं न सहइ छम्भिय कपंतु ॥१९॥

हे चित्त ! त्वं घरुघरणि मटित्वा गृह परिवारादिषु स्थितः कस्मात् त्वं निश्चिनः तिष्ठसि, अत्र सुप्रभाचार्यः कथयति यत् जीवस्य धनयौवनादिकम् कृतान्तः यमः एकघटीपर्यन्तमपि न सहति कोऽर्थः अर्थात् स कृतान्तः धनयौवने हरति ।

सुप्पउ भणइं धणुजोवणुहं ममज्जि परिहरि ।

घरुत्तइ दिस्समी भणु णिवाणहं साज्ज ॥२०॥

सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव स्त्रीधनयौवनेषु हर्षं मा कुरुस्त्वं गृहादिकं त्यक्त्या जिनदीक्षाम् जग्राह, पुनः स्वमनः निर्वाणे दीयताम् धर्तव्यम् ।

जीयमधम्मह हाणि करि वर परिशण ।

कउजेण किन परिवहि सुप्पउ भणइं जणु खंजतु मरेण ॥११॥

अरे जीव ! त्वं जिनधर्मस्य हाणि मा कुरु, कम्मै प्रयोजनाय गृहकुटुम्बार्थं सुप्रभाचार्यः कथयति यत् रे जीव त्वं किं न पश्यसि अस्मिन् संसारे लोकाणां ममये ममये असौ यमः कुतानः ग्लानयति भक्षयति ।

जसुप्पउ सणकारणि णणरुकउजाकज्ज करेई ।

सुप्पय सो जिकुडुवडउ चंपिविणग्गहं लोय ॥१२॥

हे शिष्य ! केचन मूढलोकाः कुटुम्बार्थं कार्याकार्यं अविचार्यं कार्यं कुर्वन्ति सुप्रभाचार्यः कथयति यत् अहो तेषाम् कुटुम्बं चंपित्वा भक्षयित्वा घोर नरके तान् पातयति कीदृशं कुटुंबं पापप्रेरकं ।

रे मूढ सुप्पउ भणइं धणुद्धितहथिरूद्धोय ।

जई कलस चैसीस गयणिपुणु खिउजंतो जो उ ॥१३॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं मूर्ख जीव ! निर्मलभावेन धनं दीयमाने सति स्थिरं भवति अधिकम् भवति केन निर्मलभावेन अहो यदि धनं न दीयते तर्हि चन्द्रस्य कलावत् दिनं दिनं धनं क्षीयते किमिव यथा शुक्लपक्षे चन्द्रस्य कला वर्द्धते कृष्णपक्षे क्षीयते तद्वत् ।

घर सुखईं सुप्पउ भणइं जिय माणिउज्जहिं नेम ।

इंदिय चोरह धम्मधणु भुवन रहिउज्जइ जेम ॥१४॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं हे जीव ! त्वया गृहादिषु सौख्यस्योपरि तथा स्वयताम् यथा इन्द्रियाण्येव तस्कराः धर्ममेव रतनं त्वदीयं न हरेयुः तथा त्वया स्वगृहे निवामं कर्तव्यम् ।

णिय घरि सुखईं पंचदिण अणु दिणु दुःखहलं ।

कव पुणि अप्पा सुप्पउ भणइं जेण विटप्पइं मुग्गु ॥१५॥

हे जीव अस्य प्राणिनः सांसारिकं सौख्यं दिनपंचरात्रं भ्रंतिष्ठति परन्तु दुःखं लक्ष्मणं अनुदिनं अहर्निशं गतागतं करोतीति ततः सुप्रभाचार्यः कथयति रे जीव स्वात्मस्वरूपं जानीहि येन स्वात्मज्ञानेन मोक्षपदं प्रापस्यसि कीदृशं मोक्षपदं शाश्वतम् ।

सुप्पउ भणइं मुनि सणहु तादुल्लहु णिन्वाणु ।

जामण मणुसिंह मावि मुण्डिउं अप्पाणि अप्पाणु ॥१६॥

सुप्रभाचार्यः कथयति यत् हेमिन् तावत् निर्वाणपदं मोक्षपदं दुर्लभं यावत् अनेन मुनिना स्वमनः चित्तं न मारितं च पुनः आत्मस्वरूपं न ज्ञातं पुनः आत्मस्वरूपं यावत् न चित्तितं ।

अहहस पुञ्जहु अह वहरि अहि जिणह वंभाण ।

सुप्पउ भणइं रे जीव जोई यहु सठवहं भाउपवाणु ॥१७॥

सुप्रभाचार्यः यत् भो योगेश्वराः यूयं हरं पूजयत अथवा भवन्तः हरिं पूजयन्तु वा जिनं पूजयन्तु अथवा ब्रह्माणम् पूजयन्तु परन्तु यावत् सम्यक्प्रकारेण स्वात्मलाभेन स्वभावेन निर्मलभावं न भविष्यति तावत् मोक्षपदे स्थितिर्न भविष्यति ।

रोवंतह सुप्पउ भणइं रे जीव दुःख किं जाइ ।

जामण इंदिय गुण विहिउ ताउ निरामउ वाइ ॥१८॥

सुप्रभाचार्यः भणति यत् अरे जीव ! अस्य प्राणिनः रोदने सति च पुनः शोकं कृते सति पापोत्पन्नं दुःखं किं गच्छति, अपितु न गच्छति । अहो यावत् इन्द्रियादिकसुखं न यास्यति अतीन्द्रियादिकं सुखं यावत् नोत्पद्यते तावत् निरामयं अव्यावाधं वाधारहितं सुखं न भवति कस्य जीवस्य ।

रोवंतह सुप्पउ भणइं सो विहवइ आप्पणु ।

णाणपंतोर फुरइतहिं समर सुत प्रिय णाणु ॥१९॥

सुप्रभाचार्यः भणति यत् रे जीव यत् त्वं दुःखे आगते सति रोदसि त्वं निजात्मानं आकुलं व्याकुलं करोषि स्वात्मानम् धर्मघातकं करोषि ॥ परन्तु यदि अभ्यंतरे अत्मनि समरसभावेन कृत्वा यदि तिष्ठसि तदा अभ्यंतरे स्वात्मध्यानं विस्फुरति ।

जसुमणु जीवइं विसय वसु सोणरु मुनि भणिज्ज जसु ।

पुण सुप्पय मणु मरइं सो वरु जीउ भणिज्ज ॥२०॥

हे शिष्य ! यः पुरुषः अथवा या स्त्री ऐन्द्रियेन विषयमुखेन कृत्वा जीवति हर्षं प्राप्नोति स नरः वा सा स्त्री मृतकवत् कथ्यते । ततः सुप्रभाचार्यः कथयति किं यां भव्य स्वप्नसंनिग्रह्यति स भव्यः सर्वदा जीवति । लांकैः स्मर्यते ।

जसु लग्गउ भणइं पिय घरि धरिणि पिसाउ ।

सो किं कहिउ समायरइं भित्तणि रंजण भाउ ॥२१॥

सुप्रभाचार्यः कथयति यस्य पुरुषस्य गृहपुत्रकलत्रधनादिप्रीतिमद् वस्तु एव पिशाचो लग्नः तस्य पिशाचग्रस्तस्य पुरुषस्य न किमपि वस्तु सम्यग् स्वात्मस्वरूपं भासते यद्यदाचरते तत सर्वमेव निरर्थकत्वेन भासते ।

जेहि जिण यणिहिं वल्लहउ दीसइं रञ्जु करंतु ।

पुण तेण जिमुप्पउ भणइं सइं दीसइ उभंतु ॥२२॥

हे जीव ! यैः नेत्रैः यः पुरुषः वल्लभः राज्यं कुर्वन् सन् अवलोकितः दृष्टः सो वल्लभ पुरुषः सुप्रभाचार्यः कथयति यत् तैः नेत्रैः सः भूवल्लभपुरुषः मया दह्यमानो दृष्टः, संसारस्य इदृशः स्वरूपः वर्तते ।

जेहि न शिद्यधणु विलसियउ नउ मगंह दिणु ।

अप्पउ सहि सुप्पउ भणइं तिहि अप्पाणउ छिण्णु ॥६३॥

पुनः सुप्रभाचार्यः कथयति यत् अहो येन पुरुषेण स्वकीय धनं दत्तं यत्प्रचुरपारं कृत्वा प्राप्तं तत् धनं प्रदत्तमपि न फलाय संपद्यते अपितु तेन पापेन दीर्घसंसारे दुःसहं दुःखं प्राप्यते ।

जिमि चित्तिजइं घरु घरणि तिमजइ परउ पयारु ।

तोणिल्लउ सुप्पउ भणइं खणितुहइ संसारु ॥६४॥

पुनः सुप्रभा० किं हे शिष्य ! संसारी जीवः यथा निजगृहपुत्रस्त्रीधनादीन् स्वच्छित्ते अति बल्लभान् चिन्तयति तथैव तेनैव यदि जिनधर्मोपरि तादृशं रागं कुर्यात् तर्हि तस्य पुरुषस्य निश्चयेन क्षणमात्रेण संसारः तुट्टते क्षयं यास्यति ।

शिञ्चल संपय कस्स घोरजेइ केणविकि हिं दिट्ठकर ।

पसारी सुप्पउ भणइं तावोलतु वसिट्ठ ॥६५॥

सुप्रभा० किं हे शिष्य ! इयं सम्पत् कस्य गृहे निश्चला स्थिरा त्वया वाथवा केनापि पुरुषेण द्रष्टा अपि तु न, अहो कस्थाने निश्चला द्रष्टा च शिष्टाः उत्तमपुरुषाः एवं कथयन्ति । स्वहस्तं प्रसार्य सत्पुरुषाः कथयति यत् इयं संपत् निसर्गादितः, इदानीं पर्यंतं न केयामपि पार्श्वे स्थिररूपेण बभूव ।

महिहि भमंतह तेण परजे परघर दीसंत ।

परभाओ सुप्पउ भणइं मुवानकहव मिलति ॥६६॥

हे जीव ये नराः परगृहे याञ्चा कृता मया दृष्टाः केन मिथ्यात्वभावेन ते याचका नराः मृतेषु सति कथमपि मोक्षमार्गं सन्मार्गं न मिलन्ति ।

सो घर वर सुप्पउ भणइं जसुकर दाण हवंति ।

सो पुण संचै धणु जिघणु सो णरु संठु भणंति ॥६७॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं अहो यस्य पुरुषस्य गृहं स्वहस्तं दानेन कृत्वा वहति प्रसरति तस्य पुंसः सफलं गृहं भवति । पुनः यः कृपणः पापं कृत्वा धनं संचयति सः पुरुषः षंडः नपुंसकः कथ्यते । दुर्भागी कथ्यते ।

जेत्तिउतुमि चडिधावई दंम्महु ते त्तिय जई सहसा गुण धम्महं ।

रे जिय सुप्पउ भणइं असार हुं कंदं प्पाडू होय संसारहुं ॥६८॥

सुप्रभाचार्यः कथयति किं० रे जीव ! त्वं यावन् मात्रं धनोपरि आकांक्षया धावसि तावन् मात्रं यदि चेत् त्वं सहसा शीघ्रेण जिनधर्मोपरिरागं कुर्याः तर्हि अस्य असारसंसारस्य मूलं विनाश्य मोक्षं गमिष्यसि ।

बल्लहु अत्रगुण दावइं जेत्तिउ सुधउलाहु गणिज्जइ तित्तिउ ।

जिम्म २ खओ उरज्जइ जेणहूं तिम २ पुण मुच्चइ संदेह ॥६९॥

सुप्रभा० किं हे जीव ! अस्य प्राणिनः पुत्रकलत्रवनष्टसांघयन्न मित्राद्यैः वल्लभैः यत् किञ्चित् अत्रगुणमुत्पद्यते तत् सर्वमत्रगुणं जीवेनानेन लाभमवगम्यते परित्यज्यते तथा संदेहः मोहः क्षयं याति, वैराग्यमुत्पद्यते ।

.....
यदाकित्तिउ भ्रएण भवंतारि क्किण्ण जित्तिउ ॥७०॥

रे चित्तः हे जीव ! दशदिक्षु मनोभिलषितवस्तु लोभार्थम् कथम् भ्रमसि न ह्येकमपि वस्तु स्वेष्टसाधकम् यतः कारणात् मनोवाञ्छितानि वस्तूनि अतो जीवः पूर्वपुण्येनोपार्जितमेव सर्वं लब्धम् शक्योसि । नान्यतवस्तु किञ्चिदन्य अतः व्यर्थं माभिलष ॥ सुप्रभा० किं रे जीव यदि भूरि प्रचुरां तृष्णां करोषि तर्हि यत् पूर्वभासांस्व सांपार्जितं पुण्यं तत् त्वं लभसि प्राप्नोसि ।

रे हियडा सुधउ भणइं किन फुट्टिं रोवतु पिउ ।

पळेहि मसाण डइं एक्कल्लउ उभंनु ॥७१॥

मु० किं रे चित्त ! रे जीव ! त्वं प्रेयपुत्रकलत्रादिके मृते सति तथा लक्ष्मीगते च कस्मात् रोदनं करोषि, पुनः हे मूढः तया पितृवने वारैकमपि एकांमि प्रीतमः बल्लभः मृतः प्रज्वलितः दृष्टः यमेवावस्था तेन कारणेन भविष्यति किं च प्रियमरणे त्वया कथं न मृतः यदि तवातिप्रिय आसीत् । अतः त्वयानुभूयताम् यदस्मिन् न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुरिति अतः निस्पृहः वैराग्यमनुभूयताम् ।

बलवंतउ सुप्पउ भणइं घरमोहिंपग्विद्ध ।

पेसतह वुहि सजणहि कोकालेण हिरवद्ध ॥७२॥

सुप्रभा० किं रे जीव ! त्वं गृहस्य प्रतिबंधरूपेण मोक्षपासेन बद्धः सन् कस्मात् समाकुलः भ्रमसि यतः कारणात् स्वजनमित्रादिकाः अनेन कालेन केपि न भक्षिताः, अपि सर्वे भक्षिताः ।

उत्तम पुरिसिंह कोडिसय दिन २ लग्गाइं असारु ।

सुप्पउ साइ न धाइ परसुहि इंक वसु संसारु ॥७३॥

सुप्रभा० किं अरे जीव पुरुपोत्तमान् लक्ष्कोटिशतसहस्रादीन् दिनं-दिनं प्रति असौ असारः संसारः गिलति असौ दुष्टः संसारः सर्वान् जनान् खादति भक्षयति । परन्तु तृप्तो न भवति ईदृशः संसारो राक्षसो ज्ञेयः निश्चयपूर्वकं ।

सुप्पउ भणइं रे धम्मि यहु पित्तहु अवरु अणकव ।

जीव वहं तह एणमगई मणु मारंतह मोकवु ॥७४॥

सुप्रभा० कि रे० हे, धर्मिष्ठ लोकाः भवन्तः पिच्छन्तु जानंतु । अवलोक्यतां तत् किं ईदृशं ईदृग्विधं अणखुग्रवंधं मया कविना न सद्येने तत् कियत् जीवयातं जीवं मारयित्वा नरकगतिर्भवति पुनः कि मनः मारयित्वा मोक्षपदं प्राप्यते । तस्मात् उत्तमपुरुषेण जीवयातं न कर्त्तव्यम् ।

जइ चित्तिहिं सुप्पउ भणइं जायतु जाय ।

धुडूणिम्मल धमेण सह घरिमंडित सुठाउ ॥७५॥

सुप्रभा० कि अरे, यदि चेत् संपत् दत्ते यानि तर्हि अधुना गच्छतु पुनः भव्यजीवस्य निर्मल-निजधर्मेण सह निर्मलं यशः भुवि पृथिव्यां मंडित्वा स्थिते कुरु एवं वर श्रेष्ठं ।

एहु धरु घरिणी राहु वंधउ गिरहरंण ।

मोहन डावउमाहण सहं नच्चावइ बहुभगि ॥७६॥

सुप्रभाचार्यः कथयति हे शिष्य ! अत्र संसारे अमी जीवाः गृहस्त्रीमित्रपुत्रवांधवसवत्प्रभृतिषु अतिरागं कुर्वन्तो, कस्मात् मोह एव नरकः सर्वेषां जीवनां नृत्यं बहुभेदैः कारयति तस्मात् ।

नच्चावाइ बहुभंगिरंगी काल गीशियतह जिणहिं ।

डइं संसारु सुख णहु लहइ खणु विहइ ॥७७॥

हे शिष्य ! अत्र संसारे अनेन जीवेन अगौ मोह नरकः नाना बहुविधिना प्रकारेण नृत्यं कारयति कस्मात् पंचेन्द्रियाणां विषयरंगवशात् ततः विषयरंगवशात् असौ जीवः चतुर्गतिषु अन्नन्तदुःखानि भुञ्जति । कदाचित् सुखं न प्राप्नोति ॥ इति सुप्रभाचार्यकृतः वैराग्यसारप्राकृत, दोहाबंधः सटीकः सम्पूर्णाः ॥

संवत् १८२७ वर्षे मिति पौषत्रिदि ३ बुधारे वसवानगरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभचैत्यालये पंडित श्रीपरमरामः तच्छिष्यः पं० अणन्तराम, तच्छिष्यः श्री चन्द्रस्य वाचनार्थं वा उपदेशार्थं लिपिकृतं लेखकपाठकयोः शुभमस्ति, श्री जिनराज सदाय । तत्लिपेः संवत् १९८६ विक्रमीये मासं.क्तममासे कार्तिकमासे शुक्लपक्षे चतुर्दश्यां गुरुवामरे आरानगरे स्व० देवकुमारेण स्थापित श्रीजैन सिद्धान्त-भवने श्री के० भुजवलि शास्त्रिणः अध्यक्षतायां इदं प्रतिलिपिकार्यं पूर्णम्—भवत् ॥

इतिशुभं-भूयात् ।



THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVI

JUNE 1950.

No. I

Edited by

Prof. A. N. Upadhyaya, M. A., D. Litt.

Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.

Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.

Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.

Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at :

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription :

Inland Rs 3.

Foreign 4s. 8d.

Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

	Pages.
1. Jaina Gurus of the name of Pūjyapāda —Shri Jyoti Prasad Jain, M A., LL. B.	1
2. Jainism and the Modern World —Shri Kalipada Mitra	7
3. Three new Kushāṇa Inscriptions from Mathura —Shri K. D. Bajpai, M. A.,	13
4. Jain temples, monks and nuns in Poona (City) —Shri S. B. Deo, M. A.	17
5. The Jain Chronology —Shri Kamata Prasad Jain D L, M, R A S	34



Om

JAINA ANTIQUARY

“ श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाच्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ ”

[अकलंकदेव]

Vol XVI
No I

ARRAH (INDIA)

June
1950.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PŪJYAPĀDA.

By

(Shri Jyoti Prasad Jain, M.A , LL. B., Lucknow).

Pūjyapāda is one of the most celebrated names not only in the annals of Jaina history and literature but also in the field of Saṅskrit grammar. His Sarvārtha-siddhi is believed to be the first, and is atleast the oldest available commentary on the Tatwārtha-Sūtra of Umā-svāmi, which is the one Jaina religious work that has perhaps the largest number of commentaries written on it; and Pūjyapāda's work has ever been regarded a most authentic and precise exposition of the very concise and pithy aphorsims of the original. The mystic mind of that great yogi (Pūjyapāda) finds a spontaneous and marvellous expression in his Samādhi-śataka. Whereas his grammatical masterpiece, the Jainēndra Vyākaraṇa ranked him amongst the eight highest and original authorities like Indra, Chandra, Śakatāyana, Pāṇiṇi, Amara etc, in that highly popular branch of Indian learning. More than a dozen other works are also attributed to the name of Pūjyapāda, and there are several traditions and innumerable references in literature as well as in epigraphical records reaching back to as early as the 7th. century A. D, which tell us some thing or the

other about the Jaina guru (or gurus?) who bore this name. His own works are, however, silent on this point and give us practically no information about their author. Hitherto it has also been generally believed that there was only one Pūjyapāda whose real name was Dēvanañdi and that all the references found under that name (i.e. Pūjyapāda) point to him. But the fact that most of the more celebrated Jaina gurus, particularly those belonging to the first eight or ten centuries of the Christian era, happened to have later on a number of their respective namesakes¹ persuades us to examine the same possibility in case of Pūjyapāda as well. And it is not at all surprising that an analysis and classification of all the available references pertaining to the guru or gurus of that name leave us with some twenty one apparently isolated and unconnected Pūjyapādas :

(1) Pūjyapāda, the first and original Jaina savant of that name. His real name was Dēvanañdi and he was also called Jinēnīrabuddhi. He was a South-Indian Digambara Jain saint and scholar belonging to Kuṇḍkuṇḍa's line of the Mūlasaṅgha. There is absolutely no doubt as to his authorship of the Jainēndra Vyākaraṇa, the Sarvārthasiddhi and the Samādhi-śataka. He evidently came after Kuṇḍkuṇḍ, Umāsvāmi and Samantabhadra, and preceded Vāman, the author of the Kāśika, also Guṇanañdi, Aklaṅka, Dhananjaya, Virsenā etc.² Thus he may have lived anytime between the third and the middle of the 7th centuries A.D. The majority of modern scholars, however, place him in the latter half of the 5th or the beginning of the 6th century A.D.³, while there are some who are inclined to place him in about the middle of the 7th century A.D.⁴

1 For example Bhadrabāhu, Kuṇḍkuṇḍ, Samantabhadra, Kālaṅka, Sidhasēna, Aklaṅka, Prabhāchandra, Anantavīrya, Jinasēna, Vidyānand, Vadirāja and several others had each several later namesakes of his own.

2 Cf. Keilhorn—*I. A. X.* 75; Pathaka—*I. A.-XLVIII* p. 20, 512; Peterson-Report on skt mss II p 67-74; Hiralal-A cot. of mss. in C. P. & Berar, intro p. XX; Valenkar—*Jinaratnakose* p 146. etc. etc.

3. Buhler—*I. A.-XIV*, 355; Lewis Rice—*Mysore and Coorg* p 35, 196; *JRAS* for 1890 London, p 245-262; Narsimhacharya—*kavicharite* p. 5-6, etc. etc.

4. K. B. Pathaka—*I.A.-XII*, 19-21, Bombay 1883; D. C. Sarkar—*Successors of Satwahanas* p. 300; and others who believe in the contemporaneity of Pūjyapāda and Durvīnta and prefer for the latter the later of the two dates.

(2) The Pūjyapāda Dēvanaṅḍi mentioned in the Paṭṭāvalis of the Nāṅḍi-Saṅgha of Mūla-saṅgha, Kuṅḍ kuṅḍ-anvaya. The Sanskrit Paṭṭāvali⁵ of that saṅgha places him at number ten after Padma-naṅḍi-Kuṅḍkuṅḍ, and assigns him to Vik. 258-308 (or A.D. 200-250).

(3) Pūjyapāda, the preceptor of Vajranaṅḍi who, according to the Darśana-sāra of Dēvasūtra (933 A. D.), founded the Draviḍa-Saṅgha in Vikrama Saṁvata 526⁶

(4) The Pūjyapāda of the Ganga records and tradition, who is believed to have been the spiritual preceptor and teacher of Ganga King Durvinita.⁷ who is assigned by some to the end of the 5th and beginning of the 6th century A. D. and by others to the first half of the 7th century A. D.

(5) Pūjyapāda of the Chalukyan records⁸—who is, in the Laxamēśvara inscription of Saka 651. (A.D. 729), said to be a native of Alaktakanagar. To Udayadēva Paṅḍit of Dēvagaṇa, Mūlasaṅgha, who is styled in an inscription of A. D. 729, as the house-pupil of Sri-Pūjyapāda, King Vijayāditya Satyāśraya Chālukya gave in donation the village of Kardam for the Śaṅkha-Jinēndra temple in Saka year 622 (A.D. 700). Nirvadya Paṅḍit, another desciple of this Pūjyapāda who is also described as a great grammarian and is assigned to Saka 600 (A.D. 678), was the spiritual minister of King Vinayaditya Chalukya.

(6) The Pūjyapāda whom Dhananjaya in his Nāmamālā makes out to be an unrivalled Laxaṅkara.⁹

(7) The Pūjyapāda whom Svami Vīrasēna mentions and from whose Sāra-saṅgraha and Tatvārtha-Bhāṣya the latter quotes in his famous Dhavala commentary of the Sata-khaṅḍāgama-Siddhanta.¹⁰

5. Pub. on p 320 of Dr. Bhandarkar's Report on Skt. mss. for 1883-84. There is another, a Prokrit Paṭṭāvali of the same saṅgha which appears to be older and more correct. But it gives no dates. Cf. S. Samantabhadra p. 145, 163.

6. JBRAS—XVII p 74.

7. Rice—My & Cg. p. 35, 196; E.C. XII Im. 23 p. 7; M.A.R., 1911-12 p. 35.

8. I. A.—XII p. 112. ibid p 19-21.

9. "प्रमाणमकलकल्प्य पूज्यपादस्यलक्षणम् ।

धनञ्जय कवेः काव्यं रत्नप्रथमपाश्चैमम् ॥" (Nāmamālā)

10. Dhavala p. 700 of Vedanākhanda, & ṣata-kh. Āgama I, I, I, Intro. p 60.

Virasēna completed his Dhavala at Vaṭanagar in the Raṣṭrakuṭa territory in Vik. 838 (or A.D. 780). He started his work in about A.D. 750 and died in about A.D. 790.¹¹

(8) The Pūjyapāḍa mentioned by Ugrādityāchārya in his Kalyāṇa-kāraka a famous work on medicine, written in C. 800 A. D. at Rāmagiri in the dominions of the Eastern Chalukya King Viṣṭu-rāja Parmēśvara, as one of the great Jaina masters of medicine of the past and who is said to be an authority particularly in the Śālākya-Tāntra.¹²

(9) The Pūjyapada whose Kalyāṇakāraka, Jagdall-Somnath a medical writer (C 1150 A. D.) claims to have rendered into Kannaḍa¹³, the original being in Sanskrit. Vijayaṇṇa Upādhyaya the author of Sārasaṅgraha or Vaidyasārasaṅgraha also claims that his work is derived from the Kalyāṇakāraka of Pūjyapāda.¹⁴ And Pārśva Paṇḍit in his Pārśva Purāṇa composed in 1222 A.D. ascribes the authorship of Kalyāṇakāraka to the Pūjyapāda who was also the author of Jainēndra and of the Tatwārtha Vṛtti¹⁵

(10) Pūjyapāda the Śābdāvātāra-kāra—According to Vrttililasa, a Kannad poet (C. 1160 A. D.), Pujyapada wrote the Śābdāvātāra Tika Pāṇiṇi.¹⁶ This fact is also corroborated by the Nāgar inscription of A. D. 1530¹⁷, and also by Lewis Rice's interpretation of the Hirāmatha copper grant assigned to A. D 700.¹⁸

(11) The Pūjyapada of the Karṇāṭaka epigraphs—

(a) An inscription of 1163 A. D. mentions that in the line of Bhadrabāhu arose Kuṇḍkuṇḍ also called Padmanaṇḍi. Then came Umāsvāmi Gṛdhapichha. His desciple was Balākapichha. In such a line of great Acharyas arose Samaṅtabhadra.....after whom came Pujyapada. The record also informs us that the original name of

11 For Virasena see Jaina Antiquary XIV 2, p. 46-57, & XII, 1, p. 1-6.; Anēkāṇṭa—ξ, ११-१२ p. 207 & 10, ७-८ p. 274.

12. Praśasti Sangraha p. 53 (pub. JSB—Arrah).

13. Kavicharite I p. 164-65, II p. 15-16.

14. Pr. Sang p. 149,

15. Kavich. I p. 325 (n. 1)

16. Karnataka Sabdanusasana—JG for 1923 p. 217-232.

17. E. C VIII Nv. 46 p. 147

My. & cg. p. 35, 196; E.C XII Tm. 23 p. 7.

this guru was Dēvaṇāṇḍi and that he was also called Pūjyapāda and Jinēṇḍrabuddhi. It gives the reasons too why he was so called. It ascribes to him the authorship of Jainābhiśē'ka also, besides the three already mentioned works.¹⁹

(b) The record of 1398 A. D. confirms the names Dēvaṇāṇḍi and Jinēṇḍrabuddhi given to him and the derivation of the name Pūjyapada.²⁰

(c) The record of 1432 A.D. tells us of Pūjyapāda's wonderful yogic powers and of his visit to the Vidēha kṣhetra. After Pūjyapada, it also mentions Aklaṅka and some other gurus who came after him.²¹

(d) The Nagar inscription of 1530 A. D. attributes to Pūjyapada the authorship of—Nyāyakumula-Chandrodaya, the Nyāsa on Sūtras of Śākaṭāyana, the Nyāsa named Jainēṇḍra, also the great Nyāsa called Śabdāvatāra on Sūtras of Pāṇiṇi, the Vaidyaśāstra and a Tika to the Tatwārtha.²²

(12) Ayyapārya, the author of Jinēṇḍra-Kalyāṇābhudaya (1320 A. D.) attributes the authorship of a Protiṣṭha-pāṭha to one Pūjyapāda.²³

(13) The Pūjyapāda yogi who is said to have rendered into Kannaḍa the Śatapadi i.e. the story of Jnāna-Chandra-Charita, originally written in Prakṛita by Vāsavachāṇḍra. And Pāyana Varṇi, the disciple of Panditāchārya rewrote this Kannaḍa work of Pūjyapāda, in Sāngalya Chhaṇḍa in 1659 A. D.²⁴

(14) The Pūjyapāda muni who was the guru of Maṅgarāja (circa 1360 A.D.) an official of early Vijayanagar and author of Khagēṇḍra-maṇi-darpaṇa, a famous work on medicine. In his work Maṅgrāja speaks of his guru Pūjyapāda and tells us that he has utilized the latter's celebrated work on medicine while delineating in the portion on the conduct of a thousand immovable kinds of poisons.²⁵

19. E. C. II 64 p. 17.

20. E. C. II 254 p. 110.

21. Ibid 258 p. 117.

22. E. C. VIII Nv. 46 p. 147.

23. Prasasti Sang. p. 104.

24. Med. Jainism p. 385 (n):

25. Kavicharite I p. 417-422.

(15) Dēvarasa (1650 A. D.) in his Gurudatta Charitra tells us that near the town of Pūgatāka in Kaṇṇāṭaka was a hill which contained the basadi of Pārśva-Jina, and that on this hill the famous Pūjyapada has conducted experiments in alchemi (Sidha-rasa).²⁶

(16) The Pūjyapāda whose desciple and sister's son was Sidha Nagarjuna, the famous alchemist of South India.²⁷

(17) The Pūjyapāda whom Pāṇḍya Kshamāpati in his Bhavyānanda śāstra mentions along with Dēva-Chandra and Nāgachandra, the immediate predecessor or gurus of his own.²⁸

(18) The Pūjyapāda Svāmi who is mentioned in a list found inscribed on a panel at Kārkāl. In this list of gurus who seem to have been associated with that place, he is mentioned soon after Dharmabhūṣaṇa Bhaṭṭāraka and just before Vimāla-sūri Bhaṭṭāraka.²⁹

(19) The Pūjyapāda to whom the authorship of several works on medicine like the Madana-kāma-ratnam³⁰, the Nidāna-Muktavali³¹ etc. is ascribed, and under whose name Vijayaṇṇa Upadhyāya quotes many rasa-yogas or medicinal formulae, in his Sārasaṅgraha.³²

(20) The Pūjyapāda or Pūjyapādas to whom the authorship of the following works is also attributed—

Sidha-bhaktiyādi-saṅgraha, Iṣṭopadēśa, Shāntyaṣṭaka, Chhāndaśāstra, Svapnāvali, Kārikāvṛtti, Surasasaṅgraha, Upasakachara, Sravakachara etc.

(21) Lastly, there is the Pūjyapāda, the account of whose life is given in the Kannaḍa Pūjyapāda Charita of poet Chāṇḍayya and in the Rājāvalipathē of Dēvachandra.

Now it is quite obvious that all these references cannot point to one and the same Pūjyapāda. No doubt, it is also quite certain that there could not have been as many as twenty or so gurus of that name. A closer examination which shall hereafter be made, should, however, certainly reduce their number very much.

(To be continued)

26. Ibid p. 391-392.

27. Ibid p. 11-12; also see Chandayya's Pūjyapāda Charita.

28. Pr. Sang. p. 34.

29. M. A. R. for 190-21 p. 8.

30. PS—p. 13.

31. Ibid p. 15.

32. Ibid p. 149.

JAINISM AND THE MODERN WORLD.

By

Shri, Kalipada Mitra.

1. The extreme formation of the Vedic Karmakāṇḍa, the inane cult of ritual and sacrifice, the despotism of priest and sacerdotism—all had brought about natural reaction and evoked protests from hosts of critics. The first stirring voice comes from the deep of the Upanishad—it denounces polytheism, and upholds monotheism. Other rebels raised their voice against the Vedic conception of ethics and metaphysics. We hear of a host of them—of Purana Kassapa, Ajita Keśakambalī, Sañjaya Belaṭṭhiputta, Pakudha Kaccāyana, Makkhali Gosāla, Nigaṇṭha Nāthaputta, in the Pali-Buddhistic literature and of hundreds of scholiasts in the Ācāraṅga Sūtra and other Jain canonical works. But the two mighty voices of the time were those of Gotama Buddha and Lord Mahāvīra.

Their revolutionary teachings found an echo in the hearts of the oppressed people of the time, and proved to be two very potent dynamic forces towards demolition of the *ancien régime*. A new vista was opened up—hat of equality and democracy. A new orientation was given to the social and religious life of the people. The caste system lost its rigidity, social distinctions their rigour. A break was made with the past. The ceremonies lost their sanctimoniousness. People were taught to cultivate the virtue of self-reliance. Buddha and Mahāvīra preached to the masses not in Sanskrit—not in the language of the learned, but in their own native vernaculars—Pali and Ardhamāgadhī

2. Let me now advert to the specific contribution made by Jainism. Lord Mahāvīra levels all distinctions of caste, creed, colour and sex. Man and woman are all equal, even the low-born is capable of attaining spiritual knowledge—for every soul has a limitless capacity of accomplishing spiritual perfection by observance

of vows (*vratas*), and maintaining pure conduct. He lays great emphasis on one's Karma. One becomes a Brahman, or Kshatriya, Vaiśya or Sudra by his action. One can shape his own destiny and need not depend upon others.

3. Woman is capable of obtaining spiritual knowledge and attaining spiritual perfection. Mahāvira gave due respect to her and admitted her into his order.

4. Mahāvira does not believe in God as the spring of life, as the creator of the Universe, or the director of the phenomenal world. Thus he freed the intellect of man from the shackles of dependence, and taught him that he was the architect of his own fate, and that he could rise to the height of his spiritual stature by his own exertions. This teaching induced in man a refreshing sense of his own dignity, taught him to be brave, strong and self-reliance, and stimulated in him the incentive to good actions.

5. Man is not to look up to a personal God as the fount of mercy. He reaps the fruit of his own action, he has to adjust his relations to man, as he likes to live himself, he should let others live. Therefore an elaborate doctrine of *karma* has been drawn up with practical direction as to conduct of life, pure and just and based on toleration, broad outlook and sympathy. In other words the foundation of Ahimsā was well and truly laid.

6. One other remarkable contribution of Jainism is the doctrine *syādvāda* and *anekāntamata*. It propounds many-sided view of a thing, and emphasises the relativity of truth. The nature of things is extremely complex; we can not affirm or deny anything absolutely. Every object is full of contradictions and oppositions. To understand a thing fully we should predicate the contradictions of existence and non-existence, one and many, permanence and so on. According to it no judgment is true in itself or by itself. As there is truth in every idea, as there is reality in every existence, so every system of religion has some truth to offer. As long as we claim that we alone are in possession of truth, and others are groping in darkness we can never achieve the truth and consequently conflicts are sure to arise. None can claim the ownership of the whole truth.....To acquire a

sympathetic understanding of our own religion we should show reverence and the spirit of toleration and trust towards all other creeds. Anekāntavāda takes a more comprehensive and synthetic view of all systems of religious thought.”¹

Amṛtacandra, Yasovijaya, Sidhasena Divakara Anandaghāṇa the mystic—have all laid stress on the same spirit of compromise and good will. Śrī Rāmakṛṣṇa Paramahaṃsa has similarly said that different creeds are but different paths to reach the Almighty, and this was emphasised by Svāmi Vivekānanda in his preachings. Thus Syādvāda or Anekāntavāda is opposed to dogmaticism which creates strife. It holds out the message of peace and harmony, it teaches us to avoid clash and conflict. If this spirit be once more cultivated, much of the present day strife of the world is likely to be restrained.

7. Religion maintains its vital force so long as it serves the needs of the society; the very moment it turns away from the realities of life and can not adapt itself to changing or changed environment of the society, it loses its vitality and becomes sterile. The Jains in time degenerated and like the Hindus created for themselves deities, invented magical devices to subordinate them to their wishes, evolved *mantras* and *yantras* i.e. developed a *tāntrika* attitude, Karma became a sort of determinism for them, thus robbing them of the virile spirit of energy and initiative. Belief in miracles and superstition has triumphed over reason and true faith.

8. History has shown that Jainism can adapt itself to changed circumstances, can rise above stagnation by freeing itself from the bondage of the tangle of dogmas and can create kingdoms.

9. Just as Lord Mahāvira evolved a system which protested against the prevailing order which cramped society and gave it new life, so it is necessary for the Jains—and for the matter of that all Indians—to seek and gain inspiration from the teachings of our religion, to face boldly the changed political, economic and social situation, so that we may live a pure, bold and courageous life.

1. Cf the Neo-Realism of recent American philosophy which has protested against this exclusive predication or *ekāntvāda* and call it the fallacy of exclusive particularity.

10. In the sphere of economic life, the vow of *parimita-parigraha* gives some light in the economic reconstruction of our society, nay of the world, gives some light. One has to limit his own personal possessions in the world, according to his status and immediate needs. Any property acquired beyond this limit is not to be considered, as his own, but to be devoted to the amelioration of the society as a whole. If rightly applied and adjusted to the conditions of the modern world, it may offer a key to the solution of our economic problem in a peaceful manner without having recourse to violent methods arising out of appeal to class hatred calculated to level down property and overthrow the society in a revolutionary manner and leaving the seeds of eternal clash and conflict as the unhappy legacy to posterity.

11. The disastrous results of the two devastating world wars are felt by all humanity. The atomic energy placed at the disposal of man by Science has been employed by him for destruction of life. It is said that science has further discovered a process which can render a region lifeless in five minutes. On the other hand atomic energy properly utilised can serve man and better his condition immeasurably. Unless the violent ideas of national or race superiority, breeding animosity, are given up, humanity has to perish. Ahimsā alone can give life to the world.

12. Speaking of India, I may say that our social structure will be strengthened if we show a more catholic spirit in mending our defects. It is incumbent on all of us especially the intellectuals, to evolve a new system out of the old—essentially humanitarian in complexion to solve our social, economical, and even national problem. We must be able to order “cease fire” among bellicose sects and schools, to stop suicidal battles and direct their combined energies towards the problem of healing the wound of man.

The crying need of the hour is the spirit of toleration and that of non-violence. India has shown in the past this spirit of adaptability and harmony and evolved a complex culture of unity and diversity. In the deafening wrangle of kill, kill, she may yet raise her voice and give the message of amṛta.

Mahatma Gandhi has applied non-violence to the national problem of freedom. To quote Asoka, let the conquest of Dhamma replace the conquest of the sword.

It is over two years that this article was written, but could not find the light of the day-for some unforeseen incident.

The greatest event that has ever happened in the history of the world, and that yet has no precedent nor parallel happened nearly two years ago. India regained her independence after a long long time by a unique method never tried before—the method of non-violence, preached and practised by Mahatma Gandhi. His appeal to the British nation to 'Quit India' materialised and Independence was ushered in on August 15, 1947. And all this happened without violence in an atmosphere of grace and good will. It is the opinion of many who can speak with authority that the spirit of ahimsā adumbrated in the Jaina Siddhanta found its true embodiment in Mahatma Gandhi. India attained her independence through non-violence indeed, but she was dismembered, and the joy of liberation soon turned to gloom and groan that followed the hapless partition. Humanity suffered the cruellest agony that could be devised by the forces of Evil. Orgies of violence in all imaginable shapes and forms—spilling of blood, burning of houses, outrage on women, uprooting of families, and an almost interminable trekking of humanity from one end of the country to another—made non-violence and its cult an agonising and poignant mockery. It seemed at one time that heat and hatred would destroy us all. Mahatma Gandhi still turned to Non-violence as the one sovereign remedy. But the tragedy of tragedies happened on 30th January, 1948. The apostle of non-violence fell by violence. He died in flesh but lived in spirit, he became immortal. His ashes have consecrated the soil and hills and streams of India and beyond. The truth and wisdom of his preaching are now glimmering on sceptic and hesitating humanity. The world has grown weary of the aftermath of war—corruption and dishonesty, classhatred and class-superiority, colour-sense and colonialism, fear and suspicion, insecurity and frustration. The olive branch is not yet in the offing. The charter of the United Nations Organisation offers indeed the solitary ray of hope in the

prevailing gloom and human rights are in a way recognised. India in recent times has again and again declared her policy of working for peace—peace of the world. She is fitted for her role—she professes her friendship to all nations. She has sturdy faith in the *mantra* of *ahiṃsā* taught by Buddha and Mahavira and so recently applied in the field of politics by the Mahatma. Her ambassadors plead for understanding and good will with all the world in a new voice indeed, but echoing the eternal friendly spirit of the old. The world is perhaps beginning to sense that salvation lies in *Ahiṃsā*.

THREE NEW KUSHĀṆA INSCRIPTIONS FROM MATHURA.

By

Shri, K. D. Bajpai, M. A., Curator,
Archaeological Museum, Mathura

Recently three new inscriptions have been acquired from the Mathura City and have been deposited in the local Archaeological Museum. All the three are Jaina inscriptions and are incised on the pedestals of Tirthaṅkara images. They are all in the Brāhmi script of the Kushāṇa period and their language is the well-known mixed Sanskrit, found on a number of Kushāṇa inscriptions from Mathura.

I. The first of the three inscriptions is engraved on a fragmentary image of Vardhamāna seated in the *Dhyānamudrā*. But for the lower portion of the image, it is badly damaged. In the relief on the pedestal is shown the worship of a *dharmachakra*.

The portion above and below the relief were each inscribed with one line of writing. Out of them the lower line is completely broken. The upper line also is not well-preserved. Only a few letters in the beginning are discernible. Fortunately in this line the date of the inscription is safe. The reading is as follows :—

स्य वद्धमानस्य स ९० २ म २ दि.....

The inscription thus refers to the establishment of an image of Vardhamāna or Māhāvira in the 2nd month of the summer of the Śaka year 92 (=170 A. D.) The name etc. of the donor have been lost. The year 92 falls in the reign of Kushāṇa king Vāsudeva whose last year, as known from inscriptions, is 98 (=176 A. D.)

II. The second inscription is incised on a broken pedestal (7" × 6"). The original complete pedestal seems to have been twice as large. The Tirthaṅkara image is completely broken and excepting a lion's head in the right corner and one female devotee, all of the front relief is also lost.

The inscription contains three lines of writing. The last line is almost effaced, only a few letters being partly visible there. The

first two lines are, however, in a satisfactory good state of preservation. My reading of the inscription is as follows :—

- L. 1. सिद्धम् भगवतो सुमत्स्य प्रतिमा प्र [तिष्ठापिता].....
 L. 2. ६ मित्राया सोमगुप्तस्य धि [सु].....
 L. 3. चपकि—नर्यन्त्रय (?)—व्य.....

The word *Sidham* (सिद्धम्) has been engraved almost in the beginning of the 2nd line instead of the first. After *Siddham* (सिद्धम्) there is a numerical symbol for 6. It is not clear whether this symbol stands for the regnal year or for the day, which may have been given at the end of the first line. If we take this symbol as denoting the regnal Śaka year, usually found in the Kushāṇa inscriptions of Mathura, then in that case the time of the installation of the image would come to 84 A. D. But in case the symbol stands for the day, we can not definitely assign the inscription to any particular year.

The purpose of the inscription is clearly the installation of an image of Sumati or Sumatinātha by a lady named Mitrā, who was probably the daughter of Somagupta.

Sumatinātha is the fifth Jaina Tirthāṅkara and his early images are rarely known. The new inscription is therefore an important record in so far as it refers to the making of an image of this deity early in the Kushāṇa period.

III. The third inscription is on a complete pedestal (1'7"×1'4") of a Tirthāṅkara image. But for the pedestal the image is almost totally broken. The remaining feet however, show that the image was in standing posture.

There is a usual relief on the front face of the pedestal between two pillars, showing worship of a *dharmachakra*. Two lines of the inscription are above the relief and one is below. Eight letters are inscribed on the rim of the image close to the right foot. The first line of the inscription mentioning the name etc. of the king, during whose reign the image was installed, is very badly preserved. Fortunately the numerical symbols denoting the year are preserved in the beginning of the second line. We are thus enabled to date the epigraph precisely. It reads as follows :—

- L. 1.देवपु [त्र] स्य [षाहि] क [निष्] कस्य राज्य [संवत्सरे].....
 L. 2. १० ७ हे २ द्वितिये दिवसे पंचविंशे एवस्य पूर्व्यायां कोट्टियातो गया-

L 3. तो सांतिनिकल्यातो कुजातो वैईरातोशा [खातो] आचर्य गृहरक्षिनाये शि
 on the rim near the right } कौशिकीये
 foot of the image. } निर्वर्त्तनं

Translation.—In the reign of Devaputra king Kanishka, in the year 17, in the second month of winter season, in the 25th day; On the date specified as above, at the request of Kauśiki Gṛiharakshitā out of the *Koṭṭiya gaṇa*, out of the *Sāntinika kula*, out of the *Vaira Śākṭā*,

The inscription is, in fact, incomplete. Like similar inscriptions from Mathura one expected in this one also the name of the donor, who at the instance of the nun Gṛiharakshitā caused to be made the image in question. The donor's name is, however, conspicuous by its absence. Some of the letters of the epigraph which could not be accommodated in the three front lines are incised on the rim near the right foot. This may lead one to conjecture that the engraver finding that the name of the donor along with its usual paraphernalia, so customary in such epigraphs from Mathura, would occupy a lot of space, may have deliberately omitted it. Such cases are, however, very rare.

In the beginning of the 1st line of the inscription there is a space for about eight letters. This space can be filled up with सिद्धं नमो वर्द्धमानस or only नमो वर्द्धमानस or alternatively with सिद्धं महाराजस्य, the last to be associated with देवपुत्रस्य etc. In case it was नमोवर्द्धमानस (स्य) then the image would certainly be that of Mahāvīra.

After देवपुत्रस्य there is a space for two letters. This lacunae can be filled up with षाद्दि. We find this adjective before Kanishka's name in several other inscriptions. After the words संवत्सरे in this line, there is a space for not more than four letters; These most probably have been सप्तदशे; The numerical figures of 10 or 7 denoting the year 17 are just after this in the beginning of the 2nd line. Almost the whole of the 2nd line is quite clear. The 3rd line also is well preserved excepting a few letters in the middle, which can easily be restored. After the name of Gṛiharakshitā there is the letter शि. It does not appear from the original stone that there was any letter engraved after शि. If we conjecture that the letter शि is meant for शिशिनि, which word the engraver did not complete, then

in that case the name कौशिकी will have to be taken as a different name. The inscription would then mean that it was Griharakshitā's disciple Kauśiki at whose instance somebody (probably a lady woman),¹ installed the image.

The year in this inscription is 17, which undoubtedly represents the 17th regnal year of Kanishka and is to be referred to the Saka era. The year would thus correspond to A. D. 95. From the available epigraphical data we know that Kanishka ruled for 23 years, i. e. from 78 to 101 A. D. The present image was therefore installed six years before Kanishka's death.

The Koṭṭiya *gana* and the Vaira or Vairiya *Śukhā* are well known, as they occur in a number of early Jaina inscriptions of Mathura.² But the Sāntinika or Sāntinika *kula* is probably mentioned here for the first time.

1. The contribution of lay women to Jaina religion and art has been very great, as is evident from a number of Jaina epigraphs found at Mathura and elsewhere.

2. Buhler—*The Indian Sect of the Jainas*, pp. 58-59.

JAIN TEMPLES, MONKS AND NUNS IN POONA¹ (City)

By

Sri, S. B. Deo, M. A.

[Mr. Deo is studying the history of Jain Monachism. But Jainism is also a living religion it is therefore necessary to correlate the past with the present. With a view to study in detail the religious practices, the habit and other items connected with the life of a modern Jain monk so as to find a link between the modern practices and the old ones, the present author carried on investigation into the daily routine of monks and nuns belonging to the different Sects of Jainism, the mode of worship in the local temples, their management etc. The following account has been the outcome of the author's personal visits to the temples and monasteries and of a free and frank discussion with the monks and local Jain gentlemen. Mr Deo here tells us about Jainism in Poona.]

There are seven temples belonging to the Śvetambaras out of these seven, three are in the city proper, one is in the Camp, one in Sholapur Bazar, one at Wanowri and one at Kirkee. The Śvetambara Dharmashalas are two in number, one in the city and one in Camp, there are no separate Dharmashalas at Kirkee or at Wanowri.

The Digambaras have four temples in Poona One of them is in Vetar Peth, two are in Raviwar Peth (Loṅṅra Ali) and one in Meetha Ganj. There are no monasteries for Digambara monks in Poona.

The Sthānakawasis, a non-idolatrour sect of the Jainas, have no temples, but they have one Sthānaka which is used as a place for residence by the monks. It is in Nana Peth. There is also a Sthanaka for nuns nearby.

1. I am indebted to Dr. Sanḡalia for the selection of the topic. So also the following gentlemen have been of immense help to me—

Munis विमलसागर, इंद्रसागर, कैलाससागर (Śvet)

Muni मोहन ऋषिजी and nun उज्वल कुंवरजी (Sthan)

Mr. M. G. Kothari M.A (Dig)

Mr. and Master Lalwani and Narayan Tolat.

Among the temples belonging to the Śvet. the temple of श्री गोडीजी पार्श्वनाथ is the oldest. Next comes the temple of आदीश्वर (i. e. ऋषभदेव) managed by the Oswals and the Potwals which form a section of the Jain community.

Out of the three sects of the Jains -The Dig. Śvet and Sthān.-- the idolatrous Śvet. are in majority, while the Dig. and the Sthān. form only a minority. Taking India as a whole we can say that the Śvet. are predominant in the North and the Dig. are predominant in the South.

A majority of monks that visit Poona, come from North India. They are forbidden to wander in the rainy season but they wander throughout India in the remaining eight months of the year.

Out of the monks of the Śvet, Sect those who visit Poona are predominantly of विजय and सागर गच्छ² which form the subdivisions of the तपागच्छ. Monks belonging to the विमलगच्छ which forms the third subdivision of तपागच्छ do not visit Poona, in large numbers.

The Dig. monks very rarely visit the city obviously due to their nudity and compared with the Śvet monks, the स्थानरुवासी monks also do not come here in big numbers.

ŚVETĀMBARA TEMPLES.

श्री गोडीजी पार्श्वनाथ मंदीर—

This temple is situated in Vetal Peth (No. 111). This a gorgeous temple the majesty of which can hardly be imagined from its outside appearance. In this single building there are three temples³ out of which two belong to the Śvet and one to the Dig. The interior of

2. A monk associates the name of his गच्छ with his name eg. बल्लभविजय, मुक्तिसागर etc.

3. "The oldest of Parasnath's temples lay in Kalejavur to the south-west and outside the city, as the Peshwas would not allow a Jain temple to be built in the city. About 1750 the Jati or the high priest of the Jainas and Śankaracharya the Brahmanical pontiff happened to meet in Poona. After a long discussion it was agreed, it is said by bribing the Śankaracharya, that a Jain temple might be built in a quarter where the Brahmins did not live. The Peshwas granted the site of the present main temple, where two buildings one for Chidambaris or white clothed and one for Digambaris or Skyclad Jainas were built by public subscription"—*Bombay Gazetteer* Vol. XVIII, part III Poona 1885, p. 340.

this temple is rich and painted with gaudy colours and possesses some well-carved decorative pieces of architecture. It is now under the management of a trust. It provides bathing and other facilities and also keeps materials of worship like sandalwood etc ⁴

On the first floor of the building there is the idol of पार्श्वनाथ who is called as the संखेश्वर पार्श्वनाथ. There are six other idols close to it two on the right of पार्श्वनाथ and four on the left. All of them are made of white marble and the idol of पार्श्वनाथ is endowed with the characteristic hood of a snake over its head. The names of the other idols are सुविद्यनाथ (on both sides) कल्याणपार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ and संभवनाथ. Devoted laymen—especially women—came in large numbers and recited hymns and drew the figures of the स्वास्तिक or an ओंकार on the floor. All the idols were decorated with flowers and sandal paste.

In a somewhat underground⁵ portion of the temple, there are five idols. On being asked why this portion was built underground, the man in charge told me that there might have been some fear from the iconoclasts. The chief among these five idols is the idol of श्री चिनामणि पार्श्वनाथ. This idol is older than that of संखेश्वर पार्श्वनाथ. On the former I could notice विक्रमसंवत् १५४६. On the first floor of the temple there is the idol of गोडीजी पार्श्वनाथ—the oldest⁶ idol of all the three mentioned above. It is of black stone and is very small in size.

4 "On holidays and great days when the community meets for worship they put to auction the right of applying saffron to the images and the highest bidder buys the right of first applying it, in this way large sum are raised"—*Ibid.* p 341

5 ".....the first two temples were enclosed by a high strong wall and strong gateway which were kept always shut that the noise of the temples might not reach Brahmin ears. No spires were allowed as their sight would have polluted orthodox Brahmins"—*Ibid* p 340.

6. I tried to find out the date which is generally written at the base of the idol. But I was disappointed to find that a thin sheet of silver covered the base of the idol.

The date on the idols can by no means prove that the temple also was built at that time⁷. The building of the temple is comparatively modern. It may be that the idol that was installed there might be older than the temple itself as is proved by the date on the idol

There are eight गर्भगृहs in all, in which there are so many idols of different तीर्थंकरs. The upper part of the building is modern. The people there took no pains to know the exact date of the building and all I could ascertain from them was that the temple was built sometime in the regime of the Peshwas and might be more than a hundred years old.

श्री आदीश्वर मंदीर—

Just in the same building but with a different number (110 B Vetal), is situated one storied temple of आदीश्वर ie. ऋषभनाथ the first तीर्थंकर of the Jainas. This temple and the temple of गोडीजी पार्श्वनाथ is managed by the same trustees. This temple is said to be built a hundred years ago.

There are five idols in the temple the chief being that of आदीश्वर. In the same temple I could find an idol of पद्मावती देवी who, according to a Jain monk, was a यक्षिणी in attendance of पार्श्वनाथ. The idol was decorated by a fine piece of cloth and flowers.

I could also note an idol seated on a bull. It is called श्री मानभद्रजी and is taken to be the symbol of celibacy. It reminded me of the worship of श्री मारुती among the Brahmins. To the rear of the temple of आदीश्वर there are footprints (पादुका) of श्री ऋषभदेव.

7. ".....the temple of the chidambaris which is dedicated to Parśvanath, proved too small, and the form of the temple which was more like a private house than a public place of worship, was changed. Encouraged by the religious freedom they had enjoyed since the Peshwas overthrow in 1818, between 1830 and 1834 the Jains raised subscriptions and built a temple to Rishabhadeva the first of the Tirthankaras at the cost of £. 300 (Rs. 3000). Since then they have kept adding out-houses to the temple from year to year"—Ibid. p. 340

Some movable idol is taken and placed in a chariot and is taken through the chief streets of the city in the month of चैत्र and कार्तिक. It is called बरघोडा.*

पोरवाल जैन मंदीर—(1393 Shukrawar Peth).

More than a furlong distant from the first two temples, is the temple of Porwal Jains, a subsect of the Śvetambaras. It is a temple dedicated to श्रीआदीनाथ. As compared with the first two building, this temple lacks all the profuseness of decoration. It is owned by नाजुधाई a Porwal Jain lady.

It is a three storeyed building. On the ground floor there are five idols and on the first floor there are seven idols. All the idols are made of white marble.

It is said that the temple is built 50 or 75 years ago.

ओस्वाल जैन मंदीर—

A little further, there is this temple belonging to the Oswal Jains. It is a lofty three storeyed building, majestic in appearance, yet somewhat marred by gaudy colours. In spite of its loftiness, it lacks the richness of the गोडीजी पार्श्वनाथ मंदीर.

The temple is said to be built a hundred years ago and it is under the management of a trust. There are five idols on the ground floor and fifteen on the first floor. The chief idol is that of आदीश्वर. The majority of the idols is made of white marble.

मूर्तीपूजक श्वेतांबर जैन मंदीर—(657 Sachapir Street, Camp).

This is a three storeyed building painted in gaudy colours. The entrance to the temple is distinctive inasmuch as the gates of the building are covered with a sheet of silver conveying to the mind of the visitor the richness of the temple.

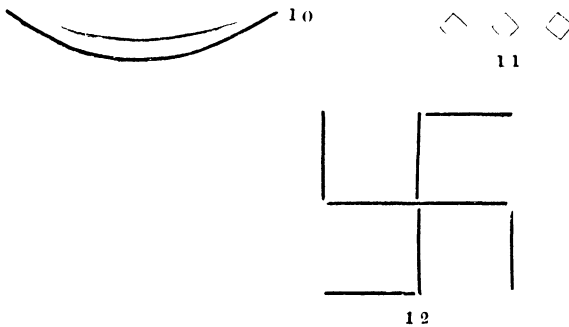
The ground floor is reserved for sermons given by the chief monk to the laity. The आसनं for the गुरु is a raised seat and the laity sits down on the ground. Beyond that, in an open space, arrangements for the bathing etc. of the laity are made. This arrange-

8. "The Jain holy months are चैत्र or March-April. श्रावण or July-August. कार्तिक or October-November, and फाल्गुन or February-March when fairs are held. A car procession takes place on the full moon of कार्तिक or Oct. Nov." —*Ibid*, p. 341.

ment is made on the same lines as is provided in the गोडीजी पार्श्वनाथ मंदीर in the city.

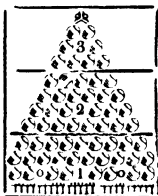
On the first floor, among gorgeous surroundings, are three idols the chief being that of वासुपूज्य, the 12th तीर्थंकर. To the right of this idol is the idol of सीमंश्वर, who according to the Jainas is at present the तीर्थंकर wandering in महाविदेहक्षेत्र—some imaginary land in the cosmology of the Jainas. To the left of वासुपूज्य is the idol of चंद्रप्रभू the 8th तीर्थंकर. All the three idols were made of white marble and a thin coating of silver covered them

On the second floor I saw the pinnacle⁹ of the temple. New work was in progress. Some well carved pieces of architecture in pure white marble may be seen there. The laity drew the following figures of rice before the images—



Looking to the finish and the modern appearance of the temple it cannot be very old. It was built in सन् 1948 (AD, 1891).¹³ I was

9.



Temples with a bare pinnacle (शिखर) are forbidden in Camp, hence the शिखर of this temple was in the 2nd floor of the building.

10, 11, 12 "The Swastika (12) Sign is intended to represent the गति or state in which a जीव may be born as either a denizen of hell, or of heaven, a man, or a beast. The three little heaps (II) symbolise the त्रिरत्न (सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र्य) which enable a man to reach मोक्ष, represented by the sign (10)"—*Heart of Jainism, Stevenson (Mrs)* p 251-52.

13. Information by Amritlal Shah.

told that there was an old temple standing on this spot before this and that there was a metal idol at that time. The present idols were installed when this new building was built. As I myself could not find out the date—which is generally carved out at the base of the idol—as the idol was covered by a thin coating of silver I asked Mr. *Shah* as to the probable date of the idol. He told me that the idol was “very very old.” The idol was brought from Cambay.

The richness of this temple can very well be compared with that of the गोर्डाजी पार्श्वनाथ मंदीर. The silver-plated gates, the marble idols, rich colouring, well-executed decorative pieces of architecture and the arrangement for fulfilling the needs of the rich laity, like sandalwood incense etc—all go to confirm that the laity comes from a rich class of society. On the whole the interior of the building presents a far more pleasing spectacle as compared with the gaudy appearance from outside.

श्वेतांबर दारावाडी मंदीर—

This is situated near the पर्वती hill. Its number is 1747 शुक्रवार. It is a one-storied structure but the peculiarity of this temple is that there is not a single idol in this temple. There are footprints which are worshipped by the devotee. This temple is dedicated to Dādāji who is taken to be the Guru of all, the guide of those who seek Liberation.

In the main temple, there are four footprints with a स्वस्तिक between them. This is surrounded on all sides by an open space well-roofed. This surrounding structure was built in संवत् १९४२. I was surprised to find in one corner of the temple a little gymnasium. Behind the main temple there was a small structure built of marble. It contains footprints of श्री विजयसूरिश्वर. शके १८३५ is carved on it. At the base of the plinth, there is a piece of marble on which information regarding this structure is carved. I could trace the following letters on it regarding the date—

संवत् १९६६

The temple appears modern and has little decoration inside. The marble floor of the temple was built in 1938 A.D. It being rather out of the way, I could find no crowd of the devotees. I was told festivals are held here on कार्तिक शुद्ध पौर्णिमा and चैत्र शुद्ध पौर्णिमा.

This finishes the account of Śvetambar Jain temple in Poona City¹⁴. Out of these, the temple of श्रीगोडीजी पारश्वनाथ and the other in the Camp stand out distinctly due to their richness and architecture.

ŚVETAMBARA MONASTERIES.

There are two monasteries, one in the city and another in Camp, for Śvet. Jain monks. They are meant only for monks and there is not a single nunnery in Poona. The monasteries which are called धर्मशाळा are the residence of monks either in वर्षावास or whenever they happen to come here during the course of their wandering. Except in the rainy season they are not to remain in one place for a longer time. These monasteries are very simple buildings fit for the life of monk. There are big halls and the monks are provided with necessary articles like a mat etc. The rich laity also helps them a lot

दशाश्रीमाली श्वेतांबर धर्मशाळा—

This is a two-storeyed building near the Godiji Parśwanath Mandir in the city. On the first floor the monks live. There are three big halls. In the hall to the right, the monks live. In the hall to the left, sermons are delivered by the chief monk to the laity. The building is painted white and has the least connection with either art or decoration. Only the श्वेतांबर तपागच्छीय monks—not even the खरतरगच्छीय or स्थानकवासी—are allowed to this monastery. The खरतरगच्छीय can live here only on a special permission and that too when there are no monks belonging to the तपागच्छ श्रीवर्धमान आयंजिल खातु (339 Sachāpir Street, Poona)

This monastery is just opposite the Jain temple in the Camp. It is the least attractive building and hence is a fit abode for monks. It has simply big halls in which the monks, whenever they happen to visit the city, reside.

ŚVETAMBARA MONKS.

In a moderately big hall, five or six monks put up. They wear a simple white dress consisting of three pieces of cloth. Their own

14 As already said at the beginning, besides those, there are three more temples belonging to the Śvetambaras. One is at Kirkee, one at Wanowri and one in Sholapur bazaar

requisites were a pot made of wood for receiving alms (भिक्षापात्र), a blanket, a रजोहरण (for cleaning and wiping the place they sit upon), a मुहपत्ती (a piece of white cloth covering the mouth), and a walking stick (दंडा). In spite of the fact that they had मुहपत्ती none of them had actually covered his mouth with it.

They all belonged to the तपागच्छ which has three subdivisions e.g. सागरगच्छ, विमलगच्छ and विजयगच्छ. Out of these three गच्छs, the monks belonging to the first and the last गच्छ visit Poona in large numbers, while those belonging to the विमलगच्छ do not do so in large number. There is no difference in आचार in these three subdivisions of तपागच्छ.

There is also other गच्छ which is called खरतरगच्छ, and the difference between तपागच्छ and खरतरगच्छ even though slight, is no negligible.

(i) The तपागच्छ monks believe in पंचकल्याणs while the खरतरगच्छीयs believe in छकल्याणs. Besides the usual पंचकल्याणs¹⁵ the खरतरs believe that the conception of महावीर in a Brahmin family¹⁶ (before he was transferred to the womb of तिसाला खत्तियाणी), was also a कल्याण. The तपागच्छीय monks ignore this and say that the conception of महावीर in a क्षत्रीय family is to be taken as a कल्याण.

(ii) The monks belonging to the तपागच्छ use a red coloured bowl while those of the खरतरगच्छ use black coloured bowl.

(iii) The annual प्रतिक्रमण¹⁷ is done by those belonging to the खरतरगच्छ on भाद्रपद शु० ५, while those belonging to the तपागच्छ do it on भाद्रपद शु० ४.

(iv) The खरतरगच्छीयs do not allow women to worship the images of तीर्थंकरs.

15. 'जिनभगवान का पूर्व भवसे उपासन, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा मोक्ष-प्राप्ति रूप अवसर'—पाहअसहमहणणवो—पंडित शे० p. 292; also—'पंच महाकलाणा सव्वेसि जिणाण होति णिअमेण'—पंचसंगह ७.

16. 'तरा णं सक्के देविंदे एवं संवेहिता हरिणोगमेसि पायत्ताणि आहिवह' सहवेइ, सहविता एवं वयासि—तं गच्छ णं तुमं देवाणुप्पिण्णु! समणं भगवं महावीरं तिसालए खत्तियाणीए कुच्चिइसि गम्भतारा साहाराहि। जे वि णं तिसालए गम्भे तं देवाणं द्वारा माहणीए कुच्चिइसि गम्भतारा साहसाई।'—कल्पसूत्र—also Mathura Inscription dating 1st or 2nd cent AD.)

17. 'मिथ्या-वृत्कृत-प्रदान, क्रिण्णु ए पाप का पश्चात्ताप; जैन साधु और गृहस्थों को सुबह और शाम को करने का एक आवश्यक अनुष्ठान'—पाहअसहमहणणवो p. 636.

Regarding their daily routine, I was told that the monks get up at 3 a. m. and after having done the morning duties, they do प्रतिक्रमण for 48 minutes before sun-rise. Then comes प्रतिलेखन when they carefully scan their clothes and all surrounding things so that there should not be any हिंसा of living beings. After that they go out for चैत्यवंदन and bow down before the idol of the Jina. Returning from the temple they study the सूत्रs or holy books like आचारांग etc. or listen to them when these are read out. At about 9 a. m. they ponder over the meaning of the text and at 11 a. m. they go out for गोचरण or for alms. Returning from the round, they take meals (once in a day) and again go to चैत्यवंदन. After that they engage themselves in स्वाध्याय and ध्यान. At about 4 p. m. they again do प्रतिलेखन¹⁸. At 7 p. m. they do प्रतिक्रमण and at 9 p. m. they sleep after having given up all sins that might have been committed by them in the day.

Thus in a day, the monks do प्रतिक्रमण twice a day. Besides these two, a monks has to perform a पाल्कि प्रतिक्रमण (fortnightly) on the 14th day of a month, a चौमासिय प्रतिक्रमण (four-monthly) and a सांवत्सरिक (annual). The annual प्रतिक्रमण is done on भाद्रपद चतुर्दशी. They do not wander in the rainy season lest they kill living beings. The वर्षावास extend from आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी to कार्तिक शुद्ध चतुर्दशी.

The कुल has its origin in the name of a particular आचार्य. The Śvet' monastery visited by me, contained monks belonging to तपागच्छ only and they all belonged to चंद्रकुल. There are subdivisions in this कुल also like वज्रशाखा etc. The तपागच्छ monks predominate in the Punjab, Bombay and Marwar.

The monks told me that the tendency towards renunciation among the people is on the increase and that there are at present 1000 monks and 2500 nuns of this sect of the Jainas.

STHĀNAKAVĀSI.

There was no question of visiting the temples of the Sthānakavāsīs as they do not worship idols. They are non-idolatrous and

this can be traced back to the Muhammadan influence in Gujerat¹⁹ The Śtha. belong the Śvet. Jainas and the Sthā. monks whom I visited belonged to the Lonkā²⁰ sect.

There were two monks in the monastery (अगसर). It was a two-storeyed building, simple in appearance and hence it could hardly be distinguished from other houses. The monk told me that it was more a public house than a temple. The ground floor consisted of two halls and a small room. There was no architecture, no pomp, no finery any where in it and it is comparatively a late building. On the first floor there were two halls in which the monks put up.

STHĀNĀKAVASI MONKS.

The distinct characteristic of these monks was that they had constantly covered their mouth with a piece of cloth (मुद्गत्ती). Their other requisites were three चीवरस, a रजोदरण and a पात्र. Their पात्र (wooden alms-bowl) is not coloured but is simply polished.

These monks belonged to Lonka गच्छ. The गच्छ is subdivided into संप्रदाय, like ऋषिसंप्रदाय, धर्मदाससंप्रदाय etc. These names are given after the chief of that particular division. There are no कुत्त in them.

The peculiarity of this sect is that it is non-idolatrous. They justify this attitude on two grounds. Firstly they say that originally there was no idol-worship in Jainism. Idol worship is of a later

19. "If one effect of the Muhammadan conquest, however, was to drive many of the Jainas into closer union with their fellow idol-worshippers in the face of iconoclasts, another effect was to drive others away from idolatry altogether. No Oriental could hear a fellow oriental's passionate outcry against idolatry without doubts as to the righteousness of the practice entering his mind."—*Heart of Jainism*, p 19 Stevenson (Mrs)

20. "It was the name of an Ahmedabad Jain belonging to the Śvet. Sect. who employed several clerks to copy the Jain scriptures. About AD. 1474 a Śvet Sādhu named ज्ञानो asked him to copy several sacred books for him: whilst reading these Lonkā Śā was struck with the fact that idol-worship was not once mentioned in them. He pointed this out to ज्ञानो and others, and a sharp controversy arose between them as to the lawfulness of idolatry. In the meantime a crowd of pilgrims going to शबुजय arrived in Ahmedabad and were won over to Lonkā Śā's side but unfortunately they had no Sādhu among them. At last a Śvet layman भाणो became a Sādhu ...he ordained himself and became the first आचार्य of the Sect"—*Ibid* p. 87.

origin. Secondly, they say that in the wake of idol-worship come different practices of the laymen like ornamentation, decoration, fine dressing etc. for the idol, which is against the spirit of worship. The chief aim of worship should be meditation and concentration rather than this outward finery.

Their daily routine is as follows :—

They get up at 4/30 a.m. Then at 5/30 a.m. they do प्रतिक्रमण. At 6/30 a.m. प्रतिलेखन is done. Then follows शारीरिक क्रिया. Between 9 a.m. and 10 a.m. they make धार्मिक प्रवचन. At 11 a.m. they take food after begging alms. At 12 they practice meditation. Between 1 p.m. and 3 p.m. they make general reading. Then upto 4 p.m. they make स्वाध्याय. At 6-30 p.m. they make प्रतिलेखन and प्रतिक्रमण. From 7-30 p.m. they make स्वाध्याय. At 10 they sleep.

These monks have no hair on their head. They do लोच्य twice a year. Even the nuns have no hair on their head. They remain in one place in वर्षावास. Their festivals are the पर्युषणपर्व and संवत्सरी which is the last and the eighth day of पर्युषणपर्व. It falls in the month of श्रावण-भाद्रपद.

There are separate residences for monks and nuns. They cannot come together. They cannot live even in adjoining rooms. There is a separate nunnery for Sthanakawasi nuns in Poona.

Asked about the present state of this sect the nun told me that from the point of view of simply numbers they were decreasing but from the point of view of चारित्र्य they were second to none. They give more importance to pure moral life.

They are in majority in Kathiawar, Rajputana and Cutch.

DIGAMBARA JAIN TEMPLES.

There are four temples belonging to the Dig's in Poona. Two of them are in Raviwar Peth, one in Vetar Peth and one in Meethaganj

श्री चंद्रप्रभु मंदिर. (110 A Vetar)

This is situated in the same building in which there is the Śvetambara temple of श्री गोडीजी पार्श्वनाथ. The first thing which strikes to the mind of the visitor is its lack of beauty and freshness. This building is so simple that the Godiji Parśwanath temple, if compared with this, appears to be a veritable EL Dorado.

There are ten idols in this temples and the management is wholly in the hands of the Dig. This temple is owned by Shree Haribhai Deokarana. The chief idol is that of श्री चंद्रप्रभु the 8th तीर्थंकर. There are so many other minor idols also. All the big idols are made of white marble. They are not at all decorated and are without any garment. No flowers or any other decorations are seen. The Dig. simply worship the feet of the idol. There was a श्रीवत्स mark on the breast of the idol.

The idol gives us the date as संवत् 1548. The building of the temple does not appear very old and it may be that the idol is older than the temple itself. The exact date of it could not be found out and one Mr. Gangaram Pandit told me that the temple was built in the regime of the Peshwas.

श्री शक्तिनाथ दिगंबर जैन मंदिर (Raviwar Peth)

This is a two-storeyed building managed by Mr Mohanlal Saraf. On the ground floor there are four idols made of white marble. They are naked and have no ornaments. The chief idol is that of श्रीशक्तिनाथ the 16th तीर्थंकर. All the idols were seated²¹, and there was the श्रीवत्स mark on the breast of them. The building was built in शाके १७१४. The plinth on which the idols were seated was built in शाके १७५२.

This temple is also without any decorations. Digs believe that the तीर्थंकरs require no ornaments. Here also I could find that only the feet of the idols were worshipped and not the whole figure as is done by the Śvet.

श्रीगुरुविशालकीर्तिस दिगंबर सैतवाल जैन मंदिर (846 Raviwar Peth)—

This is a two-storeyed building which has an appearance of a house rather than of a temple. It has no grandeur about it.

On the ground floor there are eight idols. Seven are made of white marble and one is made of black marble. The main idol is that of शक्तिनाथ. There were no ornaments on the image and sandal wood paste was applied only to the feet of the तीर्थंकर.

21. In all the Śvet. and Dig. temples here I could not find a standing idol of a तीर्थंकर.

The front portion of the building is built by Mr. Lonkar in वीरसंवत् 2461. The temple proper was built in शाके १७३३. The plinth on which the idols are seated was built in शाके १७५२. I could not find out the dates on the idols.

श्रीपार्ष्वनाथ मंदिर (248 Ganj Peth).

This is a regular house and even the neighbouring people did not know that there is a temple nearby. It is a two-storeyed house. On the ground floor the inmates of the house live and on the first-floor there are six idols. The main idol is of श्रीपार्ष्वनाथ. It is made of brass and is very heavy to lift up.

There are so many other minor idols. The idol of श्रीआदिनाथ has संवत् १६१३ माघ शुभ ११ सोमवार inscribed on it. Whether this is the date of the creation of the idol or of its installation cannot be said. The other idol had संवत् १५७५ on it. This is the oldest Dig temple according to the estimate of the man in charge of it.

The main idol is of श्रीपार्ष्वनाथ. On the back of the idol are inscribed some letters and it gives the date in the following way—

संवत् १६५३

I could notice two discs profusely written over. This finishes our account of the Dig. Jain temples in Poona City.

DIGAMBARA JAIN MONKS.

I did not get an opportunity to see a single Dig monks here as none of them was here. Moreover they seldom visit this city and even if they do they very rarely put up in the city temples obviously due to their nudity. I could simply see photos of different groups of Dig monks in different Dig temples.

Their requisites do not include any garment and they are completely nude, they have a chowri made up of peacock-feathers, a कमंडलु and a holy book with them. They do not possess a bowl as they take food in their hands (पाणिग्रह). They eat food while standing, and take only 28 morsels once a day. These morsels are of the shape of a lemon fruit. They make different fasts and the longest of them extends upto a fortnight. Moreover they have no मुद्गपत्ती or a piece of cloth covering their mouth.

They make it a rule that one should not go out unless and until the sunrises. They get up at 4 am and upto 6 am. they engage themselves in meditation. At 6 am. they do their प्राभातिक क्रिया but do not wash their mouth or cleanse their teeth. Then they do आलोचना²² and दशभक्त्यादिपाठ upto 10 am. Then they take food. They do not go out to collect alms, but if anybody happens to give food—that too casually—then they eat it in the palms of their hands. If nobody gives food then they pass the day without food. Then they do साध्यान्ह सामायिक²³ and after that they read holy books and listen to the sermons by the Guru. At 6 p.m. they again do meditation and सामायिक and then go to sleep. They sleep on a bare ground and that too inclining on one side.

They do not leave the place in the rainy season. Which extend from आपाद शुद्ध एकादशी to कार्तिक शुद्ध, पौर्णिमा. They do लोच्य or up-rooting of the hair either after two, four or six months. First is called उत्कृष्ट लोच्य, the second मध्यम and the last जघन्य लोच्य. The purpose behind this act is that it should lead to इंद्रियसंयम and जीवरक्षा.

Instead of गच्छः the Dig has अन्वयः which are named after the name of a particular guru eg. कुंदकुंदान्वय. There are also संघः which are named after some आचार्य eg. देवसंघ, नदिसंघ, सेनसंघ. There is no difference in आचार in these various संघः and अन्वयः. There are 84 divisions in the Digambaras and intermarriages among them is not in vogue.

Nearly all monks are literate. But that by no means shows that all are learned. At present there are nearly 250 monks and 150 nuns in this sect of the Jainas. The strictness of monkish life account for this. But this strictness of morals becomes at once the merit of the Digambaras.

The nunnery is always at a distance from the monastery and nudity is prohibited in their case. Yet the strictness of life is the same for them also.

22. आलोचना— प्रायश्चित्त के लिए अपने दोषों को गुरु को बता देना ।

(confession)—पा इअसहमहरणवो p. 151.

23. सामायिक. संयमविशेष, सम-भाव, रागद्वेष रहित अवस्था । Ibid p. 116.

GENERAL REMARKS.

The following conclusions can be drawn from the observations made above—

(i) There is a difference in the mode of worship between the Śvet and Dig. The Śvet worship the whole idol while the Dig. worship only the feet of the idol.

(ii) There are no ornaments put on the idols of the Dig. while the Śvet. do put ornaments on them.

(iii) The Dig. idols are naked while those of the Śvet. have loin-cloth.

(iv) The Dig. idols have their eyes cast down as if in meditation while the Śvet idols have staring glass eyes looking in front of them.

As regards the temples, it can definitely be said that the Dig temples lack all majesty and pomp characteristic of the Śvet temples. It shows that the Śvet laity is predominant in Poona. Taking India as a whole we can say that the Dig. are in a majority in the South while the Śvet. are predominant in North India. In Bombay presidency the Dig. are predominant in Sholapur side. I could notice that the Śvet—being in a majority—temples were always crowded by the laymen and more than men, women visited the temples in a greater number.

There is no monastery for Dig. monks in Poona while the Śvet have two. The Sthanakawasis have one स्थानक for monks and one for nuns. The monasteries are simple structures fit for the prosaic life of the monks.

Nearly all the monks and nuns were literate. Infact monks in the Śvet monastery and even a nun in the स्थानक could speak fluent English. Every monks is taught to read the sacred books,

Though all the monks were grown up gentlemen yet I found that there was a monk of the age of 15 in the Śvet. Jain monastery.

The monks were of a long standing and the nun in the स्थानक told me that she led the life of a nun for the last fourteen years.

I heard quite contradictory remarks about the present condition of the different sects of Jainism. Each claimed that it had a larger followers than the rest and I could notice an element of rivalry between the Dig. and Śvet. Though the number of Dig. monks and nuns is small yet their strictness of behaviour is wonderful. The Sthanakawasis admitted that their number was decreasing yet in the purity of life they surpassed others. The Śvet hold that the tendency towards renunciation is greater now-a-days. It is better therefore to reserve any judgment on this topic.

The Jaina Chronology.

By

Shri, Kamta Prasad Jain, D. L., M. R. A. S.,
(Continued from Vol. XV, pp. 41-45)

No.	Period & Date.	Events.
262	951 Vik. Saṃ. (895 A. D.)	Bhaṭṭāraka Devasena, the disciple of Bh. Rāmasena was born. —PR. IV. Index.
263	902 A D (Śaka era 824)	Birth of Ādi-Pampa the Digambara Jain Karnāṭaka poet. —JRAS. XIV, 19.
264	904 A. D.	Guptā Saṃvat 585. Death of Haribhadra Sūri Yākinīputra. according to Jacobi and Leumann, who took 585 as dated in the Gupta era and not in the Vikrama era, as asserted by the Śvetāmbara Jains. — <i>Vidyābhūṣaṇa</i> , Ind. Logic, pp. 48-9
265	906 A D.	Thursday, May 1, Vik: Saṃ: 962. Siddha- rṣi finishes his "Upamitabhava-prapañchā —Kathā." Gaṇa, a female disciple of Durgasvāmin writes the first Copy. —PR. IV. Index, cxxix.
266	"	Vik: Saṃ: 962. Amritachandra of the Nandi Saṃgha flourished: author of the Samayasāra-ṭīkā, Tattvārthasāra, Pravachana- sāra-ṭīkā, Panchāstikāya-ṭīkā etc. —PR. IV. Index IX. JH. VI. No. 5-6.

No.	Period & Date.	Events.
267	908 A. D.	<p>Vik: Saṃ. 964. Yasóbhadra-Sūri of the Saṃḍera gachcha found a Jaina temple at Naḍalāi (Mārwar)</p> <p>Ref. JSCH., XI, No 7-9, pp. 415-16.</p>
268	910 A. D.	<p>705 + 200 = 905 after the death of Vikram.</p> <p>Rise of the Māthura Saṃgha under Rāmasena at Mathurā according to Devasena.</p>
269	915 A. D.	<p>Daṇḍanāyka Śrīvijaya, also known as Arivingoja and Anūpamakavi, probably flourished about this period. In the Dānavulapāḍī pillar inscription, he is described as a subordinate to King Indra (or Narendra), who is identified with the Rāṣtrakūṭa Nītyavarṣa-Indra III (A. D. 915, 916-7). Like the famous Ganga general Chāmundaṛāya or Chāvundaṛāya, who served the western Ganga sovereigns Mārasiṃha II and Rāchamalla II and largely patronised Jaina literature and religion, Śrīvijaya was unsurpassed in the military art as in the literary, patronised Jainism and resigned the world in the end, as a pious Jaina, in order to seek salvation.</p> <p>Ref: Ep. Ind. X, 149-50.</p>
270	917 A. D.	<p>Vik Saṃ. 973. King Vidagharāja Rāṣtrakuta flourished. Through the advice of his spiritual preceptor Vāsudevasūri, he built a Jaina temple at Hastikundikā (Hathuṇḍi). The prince had himself weighed against gold, of which two-third were allotted to the Jina, and the remainder to the Jaina preceptor. He made some further donations in favour of</p>

No.	Period & Date	E v e n t s .
		<p>the temple as well as the preceptor in Vik. Saṃ. 973.</p> <p style="text-align: center;">Ref. Ep. Ind. X, 17-23.</p>
271	918 A. D.	<p>Vik: Saṃ. 974. Mahichandra (43) succeeds Hariṣchandra (Variant Harinandi) (42) as pontiff in the Nandi. Saṃgha: enthroned at Ujjayini (Mālavā)</p>
272	919 A. D.	<p>Vik: Saṃ. 975. The Bhuvanasundari-charitra (Prākrata: not available) composed by Vijayasīṃha of the Nāina-kula.</p> <p style="text-align: right;">—JG. 228.</p>
273	920-922 A. D.	<p>Narasīṃha deva son of Nītimārga of the Ganga dynasty flourished, who was renowned for his skill in politics, elephant-training and archery. He was known as "Satyavākya" for his piety and as "Vīra-vedaṅga" for his valour.'</p> <p style="text-align: right;">—The Gangas of Talkāḍa, pp. 88-90</p>
274	922-937 A. D.	<p>Rāchamalla III, was the younger brother of Narasīṃhadeva, who sat on the Ganga throne after him. He was called "Satyavākya"—"Nacheya-ganga"—and "Nītimārga" for his piety, valour and justice respectively. While he was at war with the Rāṣṭrakūṭas and the Chālukyas, his younger brother Buṭuga revolted against him and usurped throne.</p> <p style="text-align: right;">—Ibid. pp. 91-92</p>

No.	Period & Date.	E v e n t s .
275	924 A. D.	<p>Vik: Saṃ: 980 Vīragaṇi adopts vow under Vimalagaṇi at Satyapura (Sāṃchor-Mārwar). The statement of the Prabhāvaka-charitra that Vīragaṇi was the friend of Chāmuṇḍa Chālukya (A. D. 997-1010) must be rejected, as a later invention.</p> <p>—Prabhāvakacharitra, XV. 105-165.</p>
276	934 A. D.	<p>Devasena (Vik: Saṃ. 990) bhāṭṭārarka writes "Darśana-sāra."</p> <p>—PR. IV Index.</p>
277	"	<p>Vik: Saṃ: 990. Indranandi of the Nandi-saṃgha and the author of the "Auṣadhi-kalpa", "Aṅkurāropaṇa-vidhāna etc., flourished.</p> <p>—JH VI, 5-6. p. 36.</p>
278	"	<p>Vik: Saṃ: 990. Mādhavachandra (44) succeeds Mahīchandra (43) as pontiff in the Nandisaṃgha: enthronement at Ujjayani.</p>
279	935 A. D.	<p>Vik: Saṃ: 991. Vīragaṇi dies and is succeeded by Chandrasūri or Śrīchandra-Sūri.</p> <p>—Prabhāvakacharitra, XV. V. 163, 165.</p>
280	937-960 A. D.	<p>Buṭuga ascends the throne of the Ganga dynasty in Gangavāḍi, who was also a devout Jaina, like his father Nītimārga.</p> <p>The Gangas, pp. 93-99; & MJ. p. 26.</p>
281	938 A. D.	<p>Vik; Saṃ: 994. Sarva-deva-Sūri, a pupil of Uddoyatana Sūri, founds the Vaḍa gach-</p>

No.	Period & Date.	E v e n t s .
		<p>chha in the Śvetāmbara Saṃgha. —Muni Sundarasūri's Guruvāvali p. 5; Ind. Ant. XI 253</p>
282	939 A. D.	<p>Vik: Saṃ 995. Devagupta Śūri (41) becomes pontiff of the Upakeśa gachchha in the Śvetāmbara Saṃgha. —IA. XIX. 240</p>
283	940 A. D.	<p>Vik: Saṃ: 996. Mammaṭa Rāṣṭrākūṭa renews the grant of his father (Vidagdharāja) in favour of the Hastikundikā Jaina Temple. —Ep. Ind. X. 20.</p>
284	941 A. D.	<p>Śaka era 863. Pampa, the Karnāṭaka poet composes the "Ādi-purāṇa" and the "Vikramārjuna-vijaya" or "Pampa-Bhārat" at Puligiri or Lakṣmeśvara (Dhārward district) in the reign of Arikeśari II, Chalukya. —JRAS XIV, p. 19</p>
285	944 A. D.	<p>Vik: Saṃ: 1000. Phalgumitra (17) succeeds Jyeṣṭhāṅga-gaṇi (16) as Yugaprādhāna in Śvetāmbara Saṃgha.</p>
286	"	<p>Vik: Saṃ: 1008. <i>Śalā-sthītiḥ</i>: The practice of the Śvetāmbara monks of staying in the temples is being gradually replaced by that of staying in the <i>upāsarās</i> or special halting places. Approximate date of the great Śvetāmbara awakening. —BR. 1883-4, p. 323. —<i>To be continued.</i></p>

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १७

दिमम्बर १९५०

किरणा २

सम्पादक

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये. एम. ए., डी. लिट्.
प्रोफेसर गो० खुशाल जैन एम. ए., साहित्याचार्य
श्री कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस., डी. एल
पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण
पं० नेमिचन्द्र जैन शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, साहित्यरत्न.

—२२४६६—

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

१	अरब, अफगानिस्तान और ईरान में जैनधर्म—श्रीयुत बा० कामता- प्रसाद जैन M. R. A. S., D. L.	७८
२	तौलव के जैन पालेयगार—नरेश—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण, मूढचिद्री	८८
३	जिनचन्द्र सूरिजी को महाराजा अनूप सिंह जी के दिये हुए दो पत्र —श्रीयुत बा० अग्रचंद नाहटा	९३
४	बृहत्तर भारत में जैन संस्कृति के प्रभाव की खोज—श्रीयुत बाबू ज्योति प्रसाद जैन एम० ए०, एल-एल० बी०	१०१
५	जैन मूर्तियों की प्राचीनता—ऐतिहासिक विवेचन—	१०५
६	जैन सिक्के—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, शास्त्री साहित्यरत्न	११०
७	विविध विषय—श्रीयुत पं० माधवराम शास्त्री, न्यायतीर्थ				
	१ नेमिचन्द्रिका	१२३
	२ पुण्यास्रव कथाकोप की प्रशस्ति	१२६
	३ त्रैलोक्य प्रदीप	१२८
८	साहित्य समीक्षा—				
	१ पञ्चाध्यायी	१३३
	२ तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन)	१३३
	३ अपभ्रंश प्रकाश	१३४
	४ प्रशम रति प्रकरण	१३४
	५ न्यायावतार	१३५
	६ प्रशस्ति संग्रह	१३५
	७ जैन धातु प्रतिमा लेख (प्रथम भाग)	१३६
	— नेमिचन्द्र शास्त्री				
८	समाज और जीवन	१३६
९	जीवन जौहरी	१३७

१०	समाज मनोविज्ञान के कुछ पहलू—प्रो० रामनरेश सिंह एम० ए०	१३७
११	आत्म दर्शन (प्रथम भाग)	१३७
१२	भक्तामर स्तोत्र सार्थ	१३८
१३	दीपमालिका विधान	१३८
१४	मोक्ष शास्त्र	१३९

— साधवराम न्यायतीर्थ

सम्पादकीय—

१	आगामो-अंक—श्री देवकुमाराङ्क	१४०
२	सम्राट् अकबर पर जैन धर्म का प्रभाव	१४२
३	कवि शिखरचन्द	१४७
४	जैनागम में वितत भिन्न का अध्यात्मरूप	१४८





श्रीजिनाय नमः

विज्ञान-मासिक

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १७

दिसम्बर १९५०। पौष, वीर नि० सं० २४७७

किरण ५

अरब, अफगानिस्तान और ईरान में जैनधर्म

[ले०—श्रीयुत वा० कामता प्रसाद जैन, M. R. A. S., D. L.]

जैनधर्म वीतराग विज्ञान है, वह विशुद्ध धर्मतत्त्व है, इसीलिये वह विरवधर्म कहा गया है। मानव जो अपने चैतन्य विज्ञान को प्राप्त होना चाहता है वह इस धर्मतत्त्व को पहिचानता, उस पर विश्वास लाता और उसकी चर्या में मगन हो जाता है। जैनाचार्य सदा ही धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हुये सर्वत्र विचरे हैं। उनका ध्येय हो अज्ञान अंधकार को मिटाना होता है। वह अपने अज्ञान शत्रु को जीतते हैं और लोक को ज्ञानदान देते हैं। यही कारण है कि जैनकथा ग्रन्थों में हमको ऐसे प्रकरण उन दूर दूर देशों के मिलते हैं, जहां जैनाचार्य और उनके शिष्य पहुंचे थे; उन्होंने वहां के लोगों को सम्बोधा और उनको धर्म के मार्ग में लगाया। किन्तु समय के फेर से उस प्रकार के जैन जगत के दर्शन अब केवल भारत में ही होते हैं। जैन शासन सूर्य का अबसान मौर्यों के साथ ही हो चला—फिर तो जैनों पर सर्वत्र आक्रमण ही होते रहे और जैन गौरव की लालिमा भी शोषन रही। इस दुर्दशा में जैनकीर्ति के दर्शन भारत के बाहर भला कहां से हों? किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जैनधर्म भारत में ही सीमित रहा—भारत के बाहर नहीं गया। एक समय तो जैनधर्म सारे मध्य एशिया, लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत, अफरीका आदि देशों में फैला हुआ था। हजारों वर्ष हो गये कि उसका स्थान अन्य धर्मों ने ले लिया। जिस लंका में जैनधर्म राजधर्म कई शताब्दियों तक रहा और जैनाचार्यों ने वहां के शासकों से सम्मान प्राप्त किया तथा अपने मंदिर और

विहार बनवाये, वहाँ ही आज जैनों का एक भी चिन्ह शेष नहीं है। बौद्धधर्म ने अपना आधिपत्य लंका में जमा लिया^१। यही हाल अन्य देशों में हुआ। फिर भी साहित्य में ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनके आधार से यह निस्सन्देह मानना पड़ता है कि भारत के बाहर दूर-दूर देशों तक जैनधर्म का प्रचार किया गया था। प्रस्तुत लेख में हम अफगानिस्तान, अरब और ईरान के देशों में जैनधर्म के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। पाठक देखेंगे कि जैनधर्म किस प्रकार इन देशों में प्रचलित था।

अफगानिस्तान

अखण्ड भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को पार करके जब हम हिन्दुकुश पर्वत के उस ओर खैबर के दर्रे को लांघकर पहुंचते हैं तो अफगानिस्तान की भूमि में जा खड़े होते हैं। प्राचीन काल में यह भूमि ईरान की सीमातक भारतवर्ष का ही एक भाग मानी जाती थी। जैनधर्मानुयायी मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त के बृहद् साम्राज्य की पश्चिमोत्तर सीमा अफगानिस्तान के परे ईरान की सीमा के साथ साथ समरेखा में चलती थी। बहुत समय तक अफगानिस्तान भारत के आधीन रहा—लोग उसको 'उत्तरीय भारत' कहते थे^२। किन्तु आज अफगानिस्तान तो दूर रहा; भारत के अपने ही अंग सिंध-पंजाब आदि भी पर राष्ट्र बन गये हैं। इस समय अफगानिस्तान २४५००० वर्ग-मील में फैला हुआ है और उसमें पचास लाख मानव बसते हैं। सन् ई० से ५०० वर्ष पहले दारा विस्ताप के (Darius Hystaspes) समय में बड़ा सारङ्गी, अरिय, सत्त-गिदीय, अपरित, ददिक, गन्धारी और पक्तेस नामक जातियाँ अलग २ राज्य करती थीं। उपरान्त काल में इंडो-ग्रीक राजाओं का शासन अफगानिस्तान पर हुआ था। इन राजाओं में देमेत्रिय (Demetrius) और मेनेन्द्र (Menander) उल्लेखनीय थे। कनिष्क के साम्राज्य का विस्तार अफगानिस्तान से भी आगे तक फैला हुआ था। सन् ६३०-६४५ ई० में चीनी पर्यटक हुएनत्सांग ने तुर्की और भारतीय राजाओं को अफगानिस्तान में राज्य करते हुए पाया था। किन्तु सुबुक्तगीन ने दसवीं शताब्दि में हिन्दू

१ जैन सिद्धान्त भास्कर भा० १६ पृ० ६१-६८

२ चीनी यात्री फाह्यान (३६६-४१३ ई०) ने यही लिखा है:—

"The country of Wuchang commences North India. The language of nud - India is used by all".

इस पर श्री रनजीत पंडित ने लिखा था:—

The eminent Chinese Buddhist pilgrim Fahien, who visited India passed through Afghanistan, which he calls = 'North India' —Modern Review, 927. pp. 132

राज्य का अन्त कर दिया था' । इस इतिहास से स्पष्ट है कि अफगानिस्तान से भारत-वासियों का सम्पर्क एक अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है ।

जैन शास्त्रों में यद्यपि अफगानिस्तान नाम से कोई उल्लेख नहीं मिलता है, परन्तु फिर भी उन देशों के विवरण मिलते हैं जो अफगानिस्तान में हैं । वास्तव में अफगानिस्तान नाम अर्वाचीन है । पूर्वकाल में यह प्रदेश बहली अथवा बाल्हीक और यवन (जौण) नाम से प्रसिद्ध था । जैन ग्रन्थ 'आवश्यक' निर्युक्ति में उल्लेख है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का विहार अम्बड़, बहली, इल्ला, जोणग और पल्हव देशों में भी हुआ था' । बौद्धग्रन्थ 'महावंश' से प्रकट है कि योन देश में अलसन्द एक मुख्य नगर था, जिसे विद्वानों ने काबुल के पास वाले नगर अलेक्जन्दरिया (Alexandria) माना है' । जैनों का कथन है कि प्रथम चक्रवर्ती भरत ने इस क्षेत्र पर भी विजय प्राप्त की थी । बहली राज्य की राजधानी तक्षशिला थी' । ऋषभदेव ने विनीता का राज्य भरत को दिया था और बहली देश का बाहुवती को शामनाधिकारी बनाया था' । अफगानिस्तान में जो प्रदेश बल्ख नाम से प्रसिद्ध है, वही प्राचीन बहली अथवा बाल्हीक राज्य समझना चाहिये' । जैन ग्रन्थों में गांधार देश का भी बहुत उल्लेख मिलता है । गांधार की राजधानियाँ पुष्करावती और तक्षशिला बताई गई हैं । संभव है किसी समय बहलीदेश गांधार नाम से प्रसिद्ध हुआ हो । पुष्करावती आजकल पेशावर नामसे प्रसिद्ध है । अब वह पाकिस्तान में है । इन स्थानों पर जैन मन्दिर बने हुए थे । तक्षशिला में भ० महावीर की प्रतिमा अति प्रसिद्ध थी । कहते हैं, वही चन्दन की प्रतिमा वीतभयनगर में पहुंची थी और गांधार के लोग—जैन श्रावकगण उसके दर्शन करने के लिये वीतभय जाया करते थे । (आवश्यक चूर्ण, पृ० ३६६) उस समय भी भारतीय जवण (यवन) आदि देशों को अनार्य समझते थे । जवणदेश की परिचारिकाएँ भारत में बहुत प्रसिद्ध रह चुकी हैं । भरत चक्रवर्ती सिन्धुनदी को पार करके इन देशों में पहुँचे थे । इसे उन्होंने बहुत सुन्दर और रत्नों से भरपूर पाया था । बहली देशके घोड़े बहुत प्रसिद्ध थे' । उसी प्रकार कम्बोज देशके घोड़े भी भारत में प्रख्यात थे । काश्मीर के उत्तर में बदख्शा और घालचा का प्रदेश

१ हिन्दू विश्वकोष, भाग १ पृ० ६७८-६८०

२ श्री त्रिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण में योणग का उल्लेख यवनश्रुति नाम से हुआ है ।

३ महावंश २६-३६ एवं इंडियन हिस्ट०-क्लारटली, १६२६ पृ० २२२

४ आवश्यकचूर्ण पृ० १८०—Life in Ancient India, p. 270

५ Ibid आ० चूर्ण पृ० १६०

६ J. C. Jain, Life in Ancient India, pp. 264-290

कम्बोज नामसे प्रसिद्ध था' । जैनों की आवादी इन देशों में भी थी । सम्राट् चन्द्रगुप्त और उनके पौत्र अशोक एवं प्रपौत्र सम्प्रति ने अहिंसा और जैनधर्म का प्रचार इन देशों में किया था । यही कारण है कि जब सातवीं शताब्दि में चीनी पर्यटक हुएनत्सांग वहाँ आये तो उन्हें वहाँ पर बहुत से दिगम्बर जैनी मिले थे' । शङ्कराचार्य के विषय में भी कहा जाता है कि उन्होंने बाल्हीक में जाकर दिगम्बर जैनों से शास्त्रार्थ किया था' । इसके बहुत पहले इंडोप्रोक राजाओं में मेनेन्डर के विषय में बौद्धग्रन्थ 'मिलिन्दपण्ह' से प्रकट है कि जैन श्रमणों से उसने शङ्कासमाधान किया था । किन्तु अठवीं शताब्दि के पश्चात् अफगानिस्तान में जब मुसलमान शासक राज्याधिकारी हो गये, तब भारत से उसका सम्पर्क टूट-सा गया । जैनधर्म का स्थान वहाँ पहले से ही बौद्धधर्म लेता आ रहा था । यही कारण है कि वहाँ जैनधर्म का हास हो गया और जैन कीर्तियाँ बौद्ध बना ली गयीं ।

पेशावर से उत्तर पूर्व में चालीस मील की दूरी पर युसुफज़ाई नामक प्रदेश में शाहवाजगढ़ी नाम के स्थान पर सम्राट् अशोक ने ठीक वही शासन लेख उत्कीर्ण कराया था जो उन्होंने जैनतीर्थ गिरिनार में खुदवाया था' । इसमें उन्होंने भिन्न मतों, साधुओं और गृहस्थों का उल्लेख किया है और उनसे यही आशा की है कि वे सब वचनगुप्ति का पालन करेंगे और एक दूसरे पर आक्षेप नहीं करेंगे । इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि अशोक के समय में भी कपिस से पुरुषपुर (पेशावर) तक अनेक मत मतान्तर प्रचलित थे । सिकन्दर को भी तक्षशिला में कई भारतीय साधु मिले थे, जिनमें नग्न जैन श्रमण भी थे । यूनानियों ने उनको (Gymnosophists) नामसे पुकारा था' । अफगानिस्तान में समती देश नामक राजा ने सन् ८९२ से ९९९ तक सभी इस्लामी राज्यपर शासन किया था ; उसके विषय में कहा जाता है कि उसने

1 Ibid, p. 292.

2 "There are some ten temples of the Devas and thousand or so of heretics; there are naked ascetics and other....." (Yuan Chwang). Thus Digambara Jainas, Pashupats, and Kapaladharins flourished in the north of Kabul. —Modern Review, 1927, p. 138

३ "प्रति पद्य तु बाहलिकान्महर्षो विनयिभ्यः प्रविष्टुष्वति स्वभाष्यम् ।

अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः समये केचिदथाऽऽहंताभिधाने ॥१४२॥

—श्री मच्छंकर दिग्विजय

४ अशोक के शिलालेख

5 Encyclopaedia Britannica, Vol. XXV, 11th ed.

काबुल और पूर्वीय अफगानिस्तात में रहनेवाले पंडितों से सम्पर्क स्थापित किया था और उसके मंत्री अलजैहनि ने भारतीय संस्कृति का प्रचार इस्लामी देशों में किया था। राजा का नाम समनीडेस (Samanides) श्रमणदास का अपभ्रंश प्रतीत होता है। संभव है, यह राजा जैन अथवा बौद्ध पंडितों का शिष्य रहा होगा। सारांशतः भ० महावीर के समय से ईस्वी आठवीं शताब्दि तक जैनधर्म गान्धार, बहली यवन, कपिस आदि देशों में प्रचलित रहा। यह सभी देश पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त से अफगानिस्तात तक फैले हुए थे। तक्षशिला तो रावलपिंडी से कुछ दूरी पर ही अवस्थित थी।

सन् १९२२ में फ्रञ्च विद्वान् डा० फौशेर ने अफगानिस्तात के पुरातत्व की खोज की थी, जिसमें उनको बौद्धधर्म की बहुत-सी प्राचीन कीर्तियाँ मिली थीं। उनमें से कई का सम्बन्ध लोगों ने इस्लाम से जोड़ रक्खा था। उनमें से बहुत-सी कलामय वस्तुएँ वह फ्रान्स ले गये थे। उनके पश्चान् और भी कई फ्रञ्च विद्वानों ने खोज की थी। उनको अनेक गुफामंदिर, मूर्तियाँ, स्तूप और स्तम्भ मिले थे। उन सबको वे बौद्ध बताते हैं—वे प्रायः हैं भी बौद्ध; किन्तु गुफामंदिर और स्तूप एवं स्तम्भ जैन भी हो सकते हैं। जबकि जैनधर्म वहाँ पर प्रचलित था तब यह संभव नहीं कि उनके धर्मायतन वहाँ न हों। खोज करने की आवश्यकता है। काबुल में “मीनार चकरी” (Pillar of wheel) नामक स्तम्भ की आकृति और बनावट ठीक वैसी ही है जैसी कि दक्षिणभारत के जैन मंदिरों में बने हुए स्तम्भों की होती है। बमियान नामक स्थान पर गुफामंदिर और बुद्ध की विशालकाय मूर्तियाँ मिली हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक उल्लेखों को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि अफगानिस्तात में कभी भी जैनधर्म का प्रचार नहीं हुआ था। मौर्यों के समय में वहाँ जैनधर्म खूब प्रचलित था।

अरब—

अफगानिस्तात की तरह ही अरब के विषय में भी हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिससे मानना पड़ता है कि अरब में भी जैनधर्म का प्रचार था।

अरब प्रायद्वीप दक्षिण-पश्चिम एशिया में अक्षांश ३४°३०' एवं १२°१५'३०" और अवस्थित है। इसके पश्चिम में लोहितसागर, दक्षिण में अदन की खाड़ी तथा भरतसागर, पूर्व में ओमन तथा ईरान की खाड़ी और उत्तर में सीरिया की मरुभूमि है। इसका क्षेत्रफल बारह लाख वर्गमील है। अरब शब्द हिब्रू भाषा का है,

जिसका अर्थ है 'अस्त होना'। भावार्थ-वह सूर्यास्त होने की ओर अवस्थित है। कोई उसे हिब्रू के 'अराबा' शब्द से सम्बद्ध करते हैं, जिसका अर्थ 'मरुभूमि' है। दोनों ही व्युत्पत्तियाँ अरब के लिए मार्थक हैं। प्राचीनकाल में वह अमन, हेजाज, तिहामा, नेज्द और ऐमामा नामक पाँच प्रदेशों में विभक्त था।^१ अरब लोग सेमतिक जातीय हैं। इनसे भारतवर्ष का व्यापार प्राचीन काल से होता था। प्राचीन अरब जाति आद, यम्द, तस्म, जादिस, जोहीम, आमलेक प्रभृति कई शाखाओं में विभक्त थी— आजकल वे 'असली' अरब कहलाते हैं। दूसरे लोग 'खाती' हैं जो खातनवंश से निकल कर वहाँ बसे हैं, इस्लाम के पैगम्बर मुहम्मद सा० का जन्म अरब में हुआ था। उनसे पहले अरब में जो लोग बसते थे, वे नक्षत्रों, सूर्य, चन्द्र और अन्य देवी-देवताओं की पूजा करते थे।^२

जैन शास्त्रों में अरब देश की गणना अनार्य देशों में की गई है। वहाँ इसक लोग उत्पन्न होते बताये हैं।^३ इसको 'द्वीप' (दीव) भी कहते थे और वहाँ के सिके 'साभरक' कहे जाते थे।^४ उसका उल्लेख जलपट्टन के रूप में इसलिए किया गया है कि अरब से समुद्र द्वारा व्यापार किया जाता था। मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने अरब देश में भी जैन मुनियों के विहार की व्यवस्था की थी।^५ उस समय से अरब में जैनधर्म का प्रचार हुआ था, जो मुहम्मद सा० के समय तक वहाँ प्रचलित रहा। श्रवणबेल्लोल के भट्टारक चारुकीर्ति का मत रहा है कि दक्षिण भारत में बहुत से जैनी अरब से आकर बसे हैं। उनका कहना था कि पहले जैनी सारे आर्यखंड (आज के सारे विश्व में) फैले हुए थे। अरब के पार्श्वभट्टारक राजा की आज्ञा से जैनों के प्रति अत्याचार किया गया— इस कारण वे भारत चले आए।^६ पार्श्व संभवतः पारस्य का अपभ्रष्ट रूप है। पारस्य के राजा का अधिकार अरब पर हुआ था, तभी

१ हिन्दी विश्वकोष, भा० २ पृ० १५३-१५५

२ हिन्दी विश्वकोष भा० २ पृ० २५७-१५९

३ प्रश्रव्याकरण (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

४ Life in Ancient India p. 281

५ परिशिष्ट पर्व भा० २ पृ० ११५-२५ एवं जैन सिद्धान्त भास्कर, भा० १६ पृ० ११४-१२७

६ "Formerly they (Jains) were very numerous in Arabia, but that about 2500 years ago, a terrible persecution took place at Mecca by orders of a king named Parshwa Bhattaraka, which forced great numbers to come to this country". —Asiatic Researches Vol IX p. 284

उसके भय से जैनी भारत चले आये होंगे। दक्षिण भारत के राजवंशों और संघों में एक का नाम 'यवनिका' वा 'यमनिका' मिलता है। इस वंश के राजा मक्का गये थे।^१ संभव है कि यह जैनी अरब के 'यमन' प्रदेश के रहनेवाले होंगे, जो भारत आने पर अपने देश के नाम से प्रसिद्ध हुये। तामिल भाषा के प्राचीन ग्रंथों में अरब मुसलमानों के लिए 'सोनिक' (Sonaka) शब्द का प्रयोग हुआ है; किन्तु साथ ही साथ जैनों को भी सोनक लिखा है।^२ इसका कारण यही है कि अरब-वासी लोगों में जैनों की संख्या पर्याप्त थी। इस प्रकार साहित्यिक उल्लेखों से अरब में जैनधर्म का प्रचलित होना सिद्ध है।

पारस्य अथवा ईरान—

आजकल जिस देश को ईरान कहा है, प्राचीन काल में वह एरान और पारस्य नाम से प्रख्यात था। आर्य लोगों का वासस्थान होने के कारण वह प्रदेश आर्याना (Ariana) कहलाता था, जिसका अपभ्रंश एरान हुआ। उपरान्त आज से लगभग ५०० वर्षों पहले से एरान को वहाँ के लोग ईरानी कहने लगे। ईरान प्रदेश में बहुत पहले एक नगर परस (Persis) नामक था। वहाँ के राजा अखमनीय (Achaemenian) ने आकर एक साम्राज्य स्थापित किया था। इस कारण सारा प्रदेश 'पारस्य' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। बेरोसस (Berosus) नामक इतिहासज्ञने लिखा है कि ईसा के जन्म से प्रायः दो हजार वर्षों पहले मिद्र (मद्र) जाति ने बाबिलन पर अधिकार किया और उसके आठ राजाओं ने वहाँ २२४ वर्षों तक राज्य किया था। उपरान्त यहाँ यूनानियों का शासन हुआ, जिसके उत्तराधिकारी पार्थीयन हुये। अन्त में यह राज्य खलीफाओं के अधिकार में पहुँचा था। आजकल भी ईरान में मुसलमानों का स्वतंत्र राज्य है।^३

जैनों को पारस्य का पता प्राचीन काल से था। 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र ग्रंथ में इसकी गणना अरब के साथ की गई है।^४ भारतीय व्यापार के लिए यह देश एक प्रमुख केन्द्र था, जहाँ दूर-दूर के व्यापारी आया करते थे।^५ जैन वणिक अयल

१ मद्रास मैसूर प्राचीन जैन स्मारक पृ० ७६ व ६० तथा सांक्षिप्त जैन इतिहास, भा० २ खंड २ पृ० १६३

२ यह बात हमको तामिल विद्वान् प्रो० वी० जी० नायर ने बताई है। वह इस पर एक लेख लिख रहे हैं।

३ हिन्दी विश्वकोष भा० १३ पृ० ३१५-३२६

४ प्रश्नव्याकरण सूत्र (हैदराबाद संस्करण) पृ० २४

५ आवश्यक चूर्ण पृ० ४४८—Life in Ancient India, p. 320

उज्जैन से यहाँ आये थे और यहाँ से वेण्यातट नामक जल पट्टन को गये थे।^१ श्रे० जैनाचार्य कालक भी हिन्दुगदेश अर्थात् भारत से यहाँ आये थे। यहाँ के लोग भैंस के सींगों के सुन्दर हार बनाया करते थे और पनसफल से अनभिज्ञ थे।^२ पारस्य का ही एक भाग पल्लव कहलाता था। जैनशास्त्रों में उल्लेख है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने पल्लव में भी विहार किया और धर्मोपदेश दिया था। साथही यह भी उल्लेख है कि जब द्वारावती नगरी भरम हो गई तब बलदेव के पुत्र कुज्जराय पल्लव देश को गये थे।^३ पल्लवों को आधुनिक विद्वान पार्थीजन (Parthians) बताते हैं।^४ एक समय पार्थीय (Parthians) लोग भारत में आये थे और उनमें से अनेक जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे। मथुरा के कंकालीटीले की खुदाई से जो जिनमूर्तियाँ मिली हैं उनमें से एक आखारिका नामक पार्थीयन महिला द्वारा प्रतिष्ठित कराई गई थी।^५ पारस्य के अश्वभनिशवंश के राजाओं में कम्बुजाय, कुरुस, आर्यरात्र आदि नामक कई राजा हुए थे।^६ बलदेव पुत्र कुज्जवा और कम्बुजाय का सादृश्य है। जो हो, यह निश्चित है कि ईरान से भारताय जैनों का सम्बन्ध प्राचीन काल से था।

भगवान महावीर के समय में मगध सम्राट् श्रेणिक विम्बसार के पुत्र अभयकुमार के मित्र पारस्यदेश के राजकुमार आद्रकुमार थे। भ० महावीर का उपदेश सुनकर वह श्रमण मुनि हो गये थे और उन्होंने धर्म का प्रचार किया था।^७ सम्राट् सम्प्रति मौर्य के विषय में हम लिख चुके हैं कि सम्प्रति ने अरब-ईरान आदि देशों में जैन मुनियों का विहार कराकर धर्मप्रचार किया था। इनसे पहले सिकन्दर महान् अपने साथ भारत से कन्याण नामक दि० जैन श्रमण को ले गया था, जो ईरान के सुसा (Susa) नामक स्थान में स्वर्गस्थ हुए थे।^८

आधुनिक विद्वानों में मेजर-जेनरल जे० जी० आर० फरलाना सा० ने भी अपनी

1 Ibid, p. 321

२ निशीथ चूर्णि ७ पृ० १६१ एवं आवश्यक चूर्णि पृ० २७— (Ibid)

३ उत्तरा० २ पृ० २६— Ibid, p. 319

4 Geog: dictionary of Ancient & Med: India, Dey p. 134

५ भाण्डारकर वाल्यम्, पृ० २२१-२२८

६ हिन्दी विश्वकोष, भा० १० पृ० ३१६

७ सन्निवत जैन इतिहास, भा० २ खंड १ पृ० २१-२२

८ Gymnosophists whom the Greeks found in Western India..... were Jains..... and that it was a company of Digambaras of this (Jain) sect that Alexander fell in with near Taxiles, one of whom Calanus followed him to Persia. — JRAS Jan'y 1855.

स्वाधीन खोज द्वारा यह घोषित किया था कि दुनियाँ के पुराने मतों पर जैनधर्म की शिक्षा का असर पड़ा था। ईरान में भी जैनधर्म प्रचलित था। उनके मतानुसार अन्नयन (Oxiana), कस्पिया (Kaspia) और बल्ख एवं समरकन्द के नगर जैनधर्म के मुख्यकेन्द्र रहे^१। निस्सन्देह ईरानियों में सूर्योपासक सम्प्रदाय का जन्म जैन राजा आनन्दकुमार के निमित्त से हुआ जैनशास्त्र बताते हैं^२। उधर जरदस्त (Zoroaster II) के विषय में कहा जाता है कि उसपर जैन श्रमणों की अहिंसा ने काफी असर डाला था; जिसके परिणामस्वरूप उसने हिंसक यज्ञों और बलिदानों का अन्त कर दिया था^३। जैनधर्म की अहिंसा का प्रभाव ईरान में बहुत समय तक रहा था। मुसलमानों के शासनकाल में भी उसका प्रभाव देखने को मिलता है। अबुअला नामक मुसलमान दरवेश का जीवन अहिंसा के रंग में रंगा हुआ था। वह हिंसा से ऐसा भयभीत था कि चमड़े के जूते भी नहीं पहनता था। अनुमान किया जाता है कि बसरा को जो जैन व्यापारी जाते थे उनके सम्पर्क में वह आया था और उनकी अहिंसा से प्रभावित हुआ था^४। आज के जैन व्यापारियों को अपने पूर्वजों की इस धर्मलगन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

इस प्रकार अफगानिस्तान, अरब और ईरान में जैनधर्म के अस्तित्व का पता चलता है। आज पुनः हमको जैनधर्म का प्रचार सारे संसार में करना है। अहिंसा धर्म के प्रचार की आज विश्व को आवश्यकता है।

1 "Oxiana, kaspia and cities of Balkh and Samarkand, were early centres of their faith".

—The short studies in Science of Compative

Religion Intro-p. 7

२ पार्श्व पुराण देखो :

३ Jaina Antiquary, Vol IX, pp. 14-19

४ Der Jainismus, p.



तौलव के जैन पालेयगार-नरेश

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण मूढविद्री]

दुःख की बात है कि अन्यत्र की ही तरह तौलव के प्राचीन जैन इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें शिलालेखादि इतिहास सृजन के साधन बहुत ही अल्प परिमाण में उपलब्ध होते हैं। बल्कि उपलब्ध इन साधनों का डा० बी० ए० सालेतोर^१, प्रो० एस० आर० शर्मा^२ आदि कतिपय विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य कृतियों में उपयोग किया भी है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं है कि यहाँ पर खोजने से शिलालेखादि इतिहास निर्माण के साधन और भी मिल सकते हैं। इस प्रसंग में यह कह देना अनुचित नहीं होगा कि जे० स्टरोकर, बुकनन आदि पश्चात्य विद्वान् प्रवासियों ने अपने लेखों में यहाँ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, उसे उपेक्षादृष्टि से देखना समुचित नहीं होगा। इनके लेखों में गलतियाँ अवश्य हैं, फिर भी इन गलतियों के पीछे उनमें प्रतिपादित बहुमूल्य बातों को यों ही छाँड़ देना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। उपर्युक्त प्रवासियों के लेखों को आमूलाग्र पढ़कर 'हंसजीरन्याय' से ज्ञानवीन के साथ अच्छी बातों का एकत्रित करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

यद्यपि इस समय प्राचीन तुलुव या तौलव की मर्यादा निश्चितरूप से बताना बहुत कठिन है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि गेरुसोपे, भटकल एवं कारकल ये तीनों इसके राजकीय अधिकार के प्रमुख केन्द्र थे। साथ ही साथ यह भी जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन हैव-कोंकण तौलव का ही अवशेष था। यही हैव-कोंकण आजकल दक्षिण कन्नड और उत्तर कन्नड के रूप में विभक्त है। इस समय दक्षिण कन्नड मद्रास प्रान्त में और उत्तर कन्नड बंबई प्रान्त में सम्मिलित हैं। प्राचीन जैन गुरु परंपरा आदि से उपलब्ध श्वेतपुर (विलिगि), सुधापुर (सोदे), संगीतपुर (हाडुहल्लि) और सुवर्णपुर (होन्नावर) आदि भी तौलव के ही प्राचीन प्रमुख स्थान थे। बल्कि मूढविद्रीय चन्द्रनाथ जिनालय के एक शासन से सिद्ध होता है कि वर्तमान मैसूर राजधान्तर्गत नगर का सम्बन्ध भी तौलव से था। उस जमाने में वहाँ पर महामण्डलेश्वर जिनदास साक्व मल्ल राज्य करता रहा^३।

कारकल के ओडेय, मूढविद्री के चौट, नन्दावर के बंग, अलदंगडि के अजिल, वैलंगडि के मूल, और मूलिक के सावंत आदि ये सब पहले जो कि तौलव के स्वतंत्र जैन शासक रहे, वे क्रमशः

१ "Medieval Jainism" तथा "Ancient Karnatak"

२ "Jainism & Karnatak Culture" Vol. I.

३ तुलुवदेशतिलकायमान नगर सिद्धसिंहासनाधिपतियागि सुवर्णपुरिर्विदं भलंकृतमाद हैव-कोंकण राज्यं प्रतिपालिस्यतिर्द"

पीछे विजयनगर आदि निकटवर्ती अन्यान्य प्रबल राजाओं के आश्रित हुए। अखंड जैन इतिहास के निर्माण के लिये इन जैन पालेयगारों अर्थात् छोटे छोटे रियासतदारों के इतिवृत्त को संग्रह करना भी परमावश्यक है। हाँ, यहाँ पर इतना तो निस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र हो या आश्रित उस समय के ये सभी शासक धर्म, शिल्प और साहित्य आदि के अनन्य पोषक थे। यद्यपि विद्विर्धन या विष्णुवर्धन के जैनधर्म को त्याग कर वैष्णव धर्म में दीक्षित होने से एवं लिंगायत (शैव) धर्म के जन्म से मैसूर तथा अन्य कर्णाटक के जैनो पर उस समय बड़ी मुसीबत आ गयी थी। ऐसी अवस्था में तौलव में उन्हें समुचित आश्रय मिला और यहाँ के धर्मप्रेमी जैन शासकों के प्रभाव से जैन धर्म की भी श्रिवृद्धि हुई।

विजयनगर के राज्यकाल में भी तौलव में जैनधर्म की अभिवृद्धि में किसी प्रकार का विघ्न नहीं आया; क्योंकि विजयनगर के शासक जैनधर्म के विरोधी नहीं थे; प्रत्युत सहायक रहे। हाँ, ई० सन् सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में इक्केरि के शैव धर्मानुयायी धर्मोन्मत्त शासकों के द्वारा जैनधर्म को आशातीत क्षति पहुँची। इन शैव शासकों में बेकम्पनायक और शिदम्पनायक के नामों को जैन समाज कभी नहीं भूल सकता। तौलव में जैनधर्म को समूल नष्ट करने के लिये उपर्युक्त धर्मान्ध शासकों ने कुछ भी उठा नहीं रखा था। किन्तु इसमें उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिल पायी। खासकर वैभवशाली प्राचीन जैन राजधानी वारकूर में इन शासकों ने बड़ा अत्याचार किया था।

डा० सालेतोर की राय से ई० सन् ६ वीं शताब्दी से ११ वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग तीन शताब्दियों में तौलव में जैनधर्म का प्रभाव विशेषरूप से रहा। आज भी इसके ज्वलन्त उदाहरण यहाँ पर यत्र-तत्र अवश्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं। जैन प्रभाव के वे चिन्ह खासकर मूडविद्री, गेरुसोप्पे और भटकल आदि यहाँ के प्रमुख स्थानों के शासनांकित पद्यों में विशदरूप से उपलब्ध होते हैं। शासन^१ में जिस गेरुसोप्पे की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है, उस गेरुसोप्पे का भग्नावशेष इस समय एक भयंकर जंगल के गर्भ में छिपा हुआ है। यहाँ पर आज भी भग्नावशिष्ट कलापूर्य कई भव्य जिन भवन मौजूद हैं। ये मंदिर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान एवं चतुर्मुख के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन मनोज्ञ मंदिरों में चतुर्मुख तो सर्वथा दर्शनीय है। स्थान भी बड़ा शान्त तथा सुन्दर है। पार्श्वनाथ जिनालय में विद्यमान पद्मावती एवं अम्बिका की मूर्तियाँ और नेमिनाथ मन्दिर में वर्तमान नेमिनाथ की प्रतिमा कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर हैं। एक जमाने में जो गेरुसोप्पे जैन रानी चेन्न भैरा देवी की वैभवशाली राजधानी थी वहाँ पर

१—“इत्तेसव नगरिराज्यद मध्यप्रदेशदोळ् बलसिद्धोपुव नंदनावलिगळि कासारनीरेजदि। कलधौतोउज्वलसाल कोत्तलगळिदृष्टाल जालंगळि। विजसद्गोपुरदि सुहर्म्यचनदि श्रीजैनगेह-गळि। खेळुवं तासिद्द गोरुसोप्पे नगरं कोंडाडलाबछैरि।”

आजकल दिन में जाने में भी भय लगता है। काल की गति विचित्र है। यही दुर्दशा भटकल की है। इस समय भटकल में केवल दो मन्दिर हैं। बड़े मन्दिर में तो मूर्ति ही नहीं है। हाँ, छोटे मन्दिर में पाँच मूर्तियाँ हैं।

अब विज्ञ पाठकों का ध्यान वर्तमान दक्षिण कन्नड जिला की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ, जो कि पूर्व में तौलव का ही एक मुख्य भाग रहा। ओडेय, चौट, बंग आदि जिन जैन पालेयगारों का उल्लेख ऊपर कर आया हूँ उनकी राजधानियाँ इसी जिले के भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान हैं, जिनके वंशज उन्हीं राजधानियों में तैलरिक्त निर्वाणोन्मुख प्रदीप की तरह कान्तिहीन हो अपना समय काट रहे हैं। बल्कि भटकल एवं गेरुसोप्पे में शासन करनेवाली भैरा देवी और चेन्न भैरा देवी नाम की सहोदरियाँ भी कारकल के ओडेय की ही वंशजा हैं! अब क्रम-से उपर्युक्त जैन पालेयगारों का परिचय नीचे दिया जाता है।

बंगवंश

दक्षिण कन्नड जिले में शासन करनेवाले जैन पालेयगारों में बंगों को तौलव में अग्रस्थान प्राप्त था। उन्हें वह गौरव आज भी पूर्ववत् प्राप्त है। इस वंश के ई० स० ११५७ से पूर्व का कोई इतिहास अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। बंगों के मूल इतिहास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इसलिये विवादास्पद विषयों को छोड़कर ई० स० ११५७ (शा० सं० १०७६) से ही इस वंश का संक्षिप्त इतिवृत्त यहाँ पर दिया जा रहा है।

बंगराजा वीरनरसिंह (ई० स० ११५७-१२०८) गंगवंशी राजा चन्द्रशेखर गंगवाडि के अन्तर्गत एक छोटे राज्य में जब राज कर रहा था तब होयसल राजा विष्णुवर्धन ने इसके साथ युद्ध किया और इस युद्ध में राजा चन्द्रशेखर मारा गया। इससे उसका राज्य होयसलों के अधीन हुआ। होयसल नरेश विष्णुवर्धन के मृत्यु-पर्यन्त चन्द्रशेखर के मंत्री कृष्णप्प, करणीक (कारिन्दा) बेंकप्प, तिम्मप्प आदि चन्द्रशेखर की रानी, राजकुमार आदि राजपरिवार के साथ दीर्घकालतक मलेनाडु (जंगल प्रदेश) में छिपकर दिन काट रहे थे। विष्णुवर्धन के मरणोपरान्त वे घाटी उतर कर बंगवाडि में चले आये। यहाँ पर आते समय वे पुरोहित, सुनार, हजाम, दर्जी, धोबी आदि अपने कुल परिवार को साथ ही ले आये; इतना ही नहीं, कुलदेव सोमनाथ और धर्मदेव शान्तीश्वर की प्रतिमा को भी। यहाँ पर नेभावती नदी के तट में विस्तृत एवं चित्ताकर्षक मैदान को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और कुछ दिन यहीं पर ठहर गये। इस बीच में यहाँ पर जो एक विचित्र घटना घटी थी वह इस प्रकार कही जाती है।

एक दिन हजाम राजकुमार की हजामत बनाकर अपने एक औजार को भूल से उसी जगह छोड़कर चला आया। बाद जब उसे इस बात की याद आयी तब वह लौटकर आकर देखता है कि वहाँ पर उसका औजार तो नहीं था। हाँ, औजार के बदले में उसने उस जगह पर एक

सर्प देखा। उसी रोज रात्रि में स्वप्न में एक कन्या के रूप में देवी पद्मावती ने प्रत्यक्ष ही मंत्री कृष्णाय को यह आश्वासन दिया कि थोड़े ही दिनों में आप लोगों की चिर कामना पूर्ण होकर यह कष्ट अवश्य दूर होगा। साथ ही साथ देवीने उसे यह भी आज्ञा दी कि जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर मन्दिर निर्माण कराकर मेरी मूर्ति को स्थापित कर देना। प्रातः काल होते ही मन्त्री ने सर्व्व सबको अपने स्वप्न का समाचार सुनाया। इस शुभ समाचार से सभी प्रसन्न हुए। इसके बाद थोड़े समय में विष्णुवर्धन का पुत्र त्रिभुवनमल्ल भुजबल वीरगंग प्रथम नरसिंह अपने प्रान्त के संदर्शन के लिये बंगवाडि में आया। उस अवसर पर राजा चन्द्रशेखर के मन्त्री, पुरोहित आदि राजकर्मचारी राजकुमार को साथ लेकर उससे जाकर मिले और अपना कुल दुःख राजा बल्लाल को सुनाया। इस दुःख समाचार से राजा वीरनरसिंह बड़ा खिन्न हुआ और सस्नेह राजकुमार को अपनी गोदी में बैठाकर चौंटी के वरतन में दूध मँगाकर अपने ही हाथ से उसे पिलाया। बाद कतिपय शुभ चिन्हों से राजकुमार को होनहार समझकर समुद्र तक के नेभावती नदी के दोनों तटवर्ती २० बल्लालों के अधीनस्थ बंगवाडि, बेलतंगडि, पुत्तूरु, वंटवाल, मंजेश्वर, मंगलूर आदि प्रान्त धारापूर्वक राजा वीरनरसिंह के द्वारा राजकुमार को दिये गये। इतना ही नहीं, राजा वीरनरसिंह ने राजकुमार को अपना ही समझकर वीरनरसिंह बंगराजा इस अपने ही नाम से उसे संबोधित किया। तब से अभी तक पट्ट के नाम के आदि में प्रायः वीरनरसिंह शब्द को जोड़ने की प्रथा चली आ रही है। राज्य के साथ ही साथ बंगराजा को पालकी, रत्नबल, वृत्र, चामर, पट्ट का धोड़ा, पट्ट का हाथी, पट्ट की तलवार, पट्ट की अंगूठी और रणवाघ आदि सभी राजचिन्हों को वीरनरसिंह बल्लाल ने राजाबंग को सम्मानपूर्वक प्रदान किया।

उपरान्त बंगवाडि में नेत्रावती के तीर में एक महल निर्माण कराया गया और शा० श० १०७६ में फाल्गुन कृष्णा दशमी को धूमधाम से पट्टाभिषेक का शुभ कार्य संपन्न हुआ। इस पट्टाभिषेक के शुभावसर पर सभी प्रान्तों का गण्यमान्य प्रतिष्ठित प्रजावर्ग सानन्द एकत्रित हुआ था। एकत्रित इन प्रतिष्ठित बलिष्ठ व्यक्तियों में नडदगुत्तु, नालूरुगुत्तु आदि चार गुत्तुवाले राजा के प्रधान सहायक या अधिकारी घोषित किये गये। पट्टाभिषेक के समय में इन गुत्तुवालों में से एक को सिंहासन पर बैठाने का, दूसरे को पट्ट की अंगूठी पहनाने का, तीसरे को पट्ट की तलवार राजा के हाथ में देने का और चौथे को पट्ट का नाम घोषित करने का अधिकार वंशपरंपरा के लिये दिया गया। अनन्तर पूर्व सूचनानुसार जहाँ पर हजाम का औजार गायब हुआ था वहाँ पर देवालय निर्माण कराकर देवी की प्रतिमा स्थापित की गयी। बंगवाडि में वह देवालय आज भी मौजूद है। बाद इस देवालय के अतिरिक्त सोमनाथ, गणपति, वीरभद्र, शान्तीश्वर, चेत्रपाल, ब्रह्मयथा आदि के लिये प्रत्येक-प्रत्येक आलय बनवाकर प्रत्येक-प्रत्येक मूर्तियों की

विधिवत् प्रतिष्ठा करायी गयी और उन देवालयों की पूजा आदि के लिये नियमतः भूदान आदि आवश्यक दान दिये गये ।

बाद बंगवाडि में पगडेसाले नामक स्थान पर नगर बसाया गया । यह नगर क्रमशः बढ़ता गया और इसमें एक हजार से ऊपर मकान बन गये । सेना के लिये राजमहल से उत्तर में एक विशाल किला बनवा लिया गया । आज भी उपर्युक्त देवस्थान, जिनालय, मकानों के खंडहर, विस्तृत राजमार्ग आदि चीजों को हम देख सकते हैं । राजमहल का भग्नावशेष लगभग एक एकड़ जमीन में फैला हुआ है । राजमहल की उत्तर दिशा में इस समय जहाँ पर जंगल नजर आता है वहाँ पर मिट्टी का बना हुआ विशाल किला मौजूद था । राजमहल के सामने का विस्तृत राजाङ्गण अब खेत बना लिया गया है । वीरनरसिंह बंगराजा को पाँच रानियाँ थीं । यह ई० स० १२०८ में स्वर्गासीन हुआ । इसके बाद इस वंश में क्रमशः निम्न व्यक्तियों ने सुचारुरूप से राज्यशासन किया : (२) चन्द्रशेखर बंगराजा (ई० स० १२०८-१२२४), (३) पांड्यप्प बंगराजा (ई० स० १२२४-१२३६) (४) विठल देवी (ई० स० १२३६-१२६४) (५) कामराय प्रथम (ई० स० १२६४-१२७४) (६) बमदुल देवी (ई० स० १२७४-१२८७) (७) हावलि बंगराजा प्रथम (ई० स० १२८७-१३२३) (८) शंकरदेवी (ई० स० १३२४-१३४६), (९) हावलि बंगराजा द्वितीय (ई० स० १३४६-१४००), (१०) लक्ष्मणरस बंगराजा प्रथम (ई० स० १४००-१४५५) (११) शंकरदेवी द्वितीया (ई० स० १४५५-१४६१), (१२) कामराय द्वितीय (ई० स० १४६१-१५३३), (१३) हावलि बंगराजा तृतीय (ई० स० १५३३-१५४५), (१४) लक्ष्मणरस बंगराजा द्वितीय (ई० स० १५४५-१५५६), (१५) कामराय तृतीय (ई० स० १५५६-१६१२), (१६) लक्ष्मणरस बंगराजा तृतीय (ई० स० १६१२-१६२६), (१७) हावलि बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६२६-१६३१), (१८) शंकर देवी तृतीया (ई० स० १६३१-१६५३), (१९) हावलि बंगराजा पंचम (ई० स० १६५३-१६६६), (२०) लक्ष्मणरस बंगराजा चतुर्थ (ई० स० १६६६-१७६७) (२१) कामणरस चतुर्थ (ई० स० १७६७-१७६६), (२२) लक्ष्मणरस बंगराजा पंचम (ई० स० १८००-१८३८)

लक्ष्मणरस के बाद क्रमशः कामराज (पंचम), सांतराज और पन्नराज ये तीन यहाँ की गद्दी पर आसीन हुए । यद्यपि ई० स० १७६७ से ही इस वंशवालों के हाथ से राज्य छूट गया है । फिर भी इसके बाद भी यहाँ पर शासकीय रीति में पट्टा होता है । इस समय नंदावर का महत्त्व एकदम नष्ट हो चुका है । तो भी राजमहल के चिन्ह, किला, बाजार, राजमार्ग, देवालय, जिनमन्दिर, मसजिद आदि प्राचीन स्मारक यहाँ के गत वैभव को स्पष्ट व्यक्त कर रहे हैं । दक्षिण कन्नड जिले में नगर के चारों ओर किला सिर्फ इसी नंदावर में ही है । बंगवाडि में बंगवंशी आज भी मौजूद हैं । अस्तु, राजा वीरनरसिंह को छोड़कर जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है चन्द्रशेखर आदि शेष पूर्वोक्त बंग शासक एवं शामिकाओं का संक्षिप्त परिचय भी 'भास्कर' की अगली किरण में अवश्य दिया जायगा ।



जिनचन्द्रसूरिजी को महाराजा अनूपसिंहजी के दिये हुए दो पत्र

[ले. — श्रीयुक् वा० अग्रचन्द्र नाट्टा]

गुजरात एवं राजस्थान के राजाओं से जैनाचार्यों का बहुत अच्छा सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में राजा प्रजा का ईश्वर समझा जाता था और राजा लोग धर्म गुरुओं को विशेष रूप से सम्मानित करने रहते थे। वे अपने सम्प्रदाय के गुरुओं की तो विशेष भक्ति करते ही थे, पर जैसे प्रत्येक सम्प्रदाय के धर्माचार्यों के प्रति आदर भाव रखते थे। उनके लिये भेंट, लवाजमे आदि की व्यवस्था रहती थी। समय समय पर राजा व राज्य का कोई विशिष्ट कार्य सम्पन्न कर देने पर आचार्यों को ग्रामादि भी मिलते थे, जिनमें से कई आजतक भी उनके कब्जे में हैं। इस प्रकार के सम्मान और राज्याश्रय के कारण उनके आचार विचार में शिथिलता आने लगी और प्रतिष्ठा के द्वारा उत्पन्न वातावरण में अड़भाव और विलासिता को प्रश्रय अवश्य मिला, परन्तु इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इस भौतिक कार्यों द्वारा राजाओं को प्रभावित किये जाने पर धर्मप्रचार के कार्यों में सुगमता भी प्राप्त होती रही है।

भगवान् महावीर आदि जैन तीर्थंकर तो स्वयं राजा या राजपुत्र थे। अतः उनका अपने-अपने समय के राजाओं पर विशेष प्रभाव होना स्वाभाविक ही है, पर पवित्र एवं कठोर आचार-विचार, असाधारण पाण्डित्य व मंत्र, ज्योतिष, वैद्यक आदि में सिद्ध-हस्तता के कारण आपके आज्ञानुमती आचार्यों का भी अपने समय के हरजगह के राज्याधिकारियों पर प्रभाव कम नहीं रहा। आचार्य केशी ने प्रदेशी राजा को, आर्य सुहस्ती ने सम्प्रति राजा को, आ० सिद्धसेन दिवाकर ने विक्रमादित्य को, आचार्य बप्पभट्टि-सूरि ने आम राजा को, आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज व कुमारपाल को तथा मुस्तमान सुल्तान महमद को जिनप्रभसूरि ने, सम्राट् अकबर को हीरविजयसूरि एवं जिनचन्द्र-सूरि ने प्रभावित किया था, जिसके यथेष्ट प्रमाण जैन इतिहास में पाये जाते हैं। इसी प्रकार दिगम्बर आचार्यों ने दक्षिण के अनेक राजाओं को जैनधर्मानुयायी व अनुरागी बनाया था।

मध्यकाल में साम्प्रदायिक संघर्ष भी चलते रहते थे अतः एक सम्प्रदाय के आचार्य व विद्वान के साथ दूसरे सम्प्रदाय के विद्वान से शास्त्रार्थ भी प्रचुर परिमाण में हुआ करते थे। उन शास्त्रार्थों का जनता पर अधिकाधिक प्रभाव हो इस उद्देश्य से वे

प्रायः राजा की अध्यक्षता में हुआ करते थे। राज-सभाओं में पंडितों का जमघट लगा रहता था और उनका एवं राजा का निष्पन्न निर्णय अंतिम निर्णय माना जाता था। बौद्धों के प्राबल्य काल में उनसे जैनाचार्यों के शास्त्रार्थ होते थे फिर चैत्यवासियों एवं सुब्रिहितों में, दिगम्बर श्वेताम्बरों में भी राज सभा में कई बार शास्त्रार्थ हुए, जिनका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है। इनमें मल्लवादि का बौद्धों से, जिनेश्वरसूरि का पाटण के दुर्लभराज की सभा में चैत्यवासियों से, वादिदेवसूरि का दि० कुमुदचन्द्र से और जिनपतिसूरि का पृथ्वीराज चौहान की सभा में पद्मप्रभाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था, वह विशेष रूप से उल्लेख योग्य है।

जैनाचार्यों के प्रति आदर भाव रखने के साथ-साथ कई नरेशों ने उनके उपदेश से अपने साम्राज्य में अमारी-उद्घोषणा करवाई, कइयों ने जैन मंदिरों को दान दिया, ध्वजा कलरादि रोपण करवाये अर्थात् विविध प्रकार से जैनधर्म की महिमा बढ़ाई व अपनी श्रद्धाभक्ति प्रकट की, जिनका उल्लेख भी ग्रन्थों, प्रशस्तियों व शिलालेखों में पाया जाता है।

जैनाचार्यों को राजाओं ने पट्टे परवाने भी दिये हैं और उनसे पारस्परिक पत्र व्यवहार भी होता रहा है, पर वे पुराने कागजात में असावधानी व उपेक्षा के कारण बहुत कुछ नष्ट हो गये हैं। वर्तमान में सम्राट् अकबर से पहले के किसी भी राजा व बादशाह के दिये हुये फरमान, पट्टे, परवाने व पत्र मूल रूप में प्राप्त नहीं हैं। इसके बाद के भी ऐसे बहुत से कागजात जिन्हें वे दिये गये थे, उनके पट्टधरों के पास या भंडारों में पड़े रहने के कारण अज्ञात अवस्था में पड़े हुए है। जिनके पास हैं वे उनको अब महत्व के नहीं समझते या संकुचितता के कारण बहुत व्यक्ति तो उन्हें किसी विद्वान् तक को दिखाते नहीं। हमने कुछ इधर उधर से थोड़े से कागजात संग्रह किये हैं जिनको प्रकाश में लाने का श्रीगणेश इसी लेख द्वारा हो रहा है। दि० भट्टारकों के पास भी ऐसी बहुत कुछ महत्वपूर्ण सामग्री होगी। जिनको प्रकाश में लाने की और विद्वानों का ध्यान आकर्षित करता हूं।

बीकानेर राज्य की स्थापना व उत्कर्ष में जैनों का गौरवपूर्ण स्थान रहा है। फलतः वहां के नरेश जैनाचार्यों के प्रति विशेष आदर रखें यह स्वाभाविक ही है। यहां श्वे० खरतरगच्छ, उपकेशगच्छ व लोकागच्छ के श्रीपूज्यों की गहियां हैं। जिनमें से खरतरगच्छ वालों का ही सर्वाधिक प्रभाव रहा है। राज्यस्थापना से लेकर करीब १५० वर्षों तक मंत्री आदि उच्च पदों पर ओसवाल-बच्छावत वंश के व्यक्ति रहे हैं, वे खरतरगच्छ अनुयायी थे और विद्वत्ता आदि की दृष्टि से खरतरगच्छ के आचार्य व यतिगण बहुत

प्रभावशाली रहे हैं अतएव उनका यहां के राजाओं पर विशेष प्रभाव रहा है। जब कोई श्रीपूज्य जी की पद स्थापना होती, राज्य की ओर से दुशालादि भेंट मिलते। उनके नगर प्रवेश में हाथी, घोड़े, रथ आदि लवाजमा मिलता। अन्य भी खास २ प्रसंगों पर उन्हें कहीं जाना होता तो राज्य की ओर से उनके लिये रक्षादि सवारी मिलती; इस प्रकार के विविध सम्मान अबतक प्राप्त हैं।

महाराजा रायसिंहजी से पहले के राजाओं के जैनाचार्यों के सम्बन्धों के विषय में तो कुछ निश्चित ज्ञात नहीं। पर महाराजा रायसिंहजी के (कुं० दत्तपति के साथ सं० १६४६ के फाल्गुन सु० २ को लाहौर में) जिनचन्द्रसूरिजी को बड़ाई हुई कई हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रतियां प्राप्त हैं। आपके सुनुत्र अनूपसिंहजी बड़े विद्याविलासी नरेश थे जिन्होंने ने स्वयं संस्कृतदि में अनेक ग्रन्थ बनाये व उनके आश्रित विद्वानों के महत्वपूर्ण अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। वीकानेर की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी आपके असाधारण विद्यानुराग की परिचायक है। आपके समय में खरतरगच्छ में जिनचन्द्रसूरि नामक विद्वान् आचार्य थे जिनके साथ आपका पत्रव्यवहार होता ही रहता था। इनमें से महाराजा अनूपसिंह के जिनचन्द्रसूरिजी को दिये हुये दो पत्र और सूरिजी के महाराजा को दिये ४ पत्रों की नकलें हमारे संग्रह में हैं। प्रस्तुत लेख में उनकी नकलें दी जा रही हैं। यह पत्र व्यवहार संस्कृत में ही हुआ है। महाराजा के दोनों पत्रों में संवत् नहीं है, केवल तिथि ही दी है। अतः इनमें पहले का पत्र कौन सा है, निश्चित नहीं कहा जा सकता। सूरिजी के दिये हुये पत्रों में एक का अंतिम अंश त्रुटित है। दूसरे का प्रारम्भिक थोड़ासा अंश त्रुटित है। दो पत्रों में संवत् का उल्लेख पाया जाता है। सूरिजी के एक पत्र में महाराजा के पुत्र होने का अन्य में ३ पुत्रों का उल्लेख है। इसी पत्र में ढूँढियों के प्रचार को रोकने के लिये महाराजा को लिखा गया है। इससे एक ऐतिहासिक तथ्य का पता चलता है कि उस समय ढूँढियों का प्रचार काफी तेजी से बढ़ रहा था। जोधपुरादि में भी उसको रोकने का प्रयत्न किया गया था ऐसा उल्लेख अन्यत्र प्राप्त है। परम विद्यानुरागी महाराजा अनूपसिंह के पश्चात् जिनसुखसूरि को दिये गये सुजान सिंह के दो सुन्दर पत्र भी हमारे संग्रह में हैं, जिन्हें अन्य लेख में प्रकाशित किया जायगा।

प्रसंगवश जिनका पत्र व्यवहार यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है उनका संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दे देना आवश्यक समझता हूँ। इनमें से महाराजा अनूपसिंह जी तो

१ देखें हमारा युग प्रधान जिनचंद्रसूरि नामक ग्रन्थ।

२ जिनका विशेष परिचय श्रीभाजी के इतिहास माधवकृष्ण शर्मा के लेखों में एवं मेरा महाराजा अनूप सिंह जी के आश्रित हिन्दी कवि लेख में दिया गया है।

प्रसिद्ध व्यक्ति हैं अतः उनके जन्म संवत्तादि दो-चार बातों का ही उल्लेख कर जिनचन्द्र-सूरि का ज्ञात वृत्तान्त दिया जा रहा।

१ महाराजा अनूप सिंह—“जय जंगलधर बादशाहै विरुद् प्राप्त महाराजा कर्ण सिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। सं० १६६५ चैत्र सुदि ६ को आपका जन्म हुआ व सं० १७२६ में ये गद्दी नशीन हुए। बादशाह की ओर से आप कई युद्धों में बड़ी वीरता पूर्वक लड़े थे अतः सं० १७३२ में बादशाह ने प्रसन्न होकर इन्हें “महाराजा” का खिताब दिया था। उदयपुर के महाराजा राजसिंह जिन्होंने राजसमुद्र नामक विशाल तालाब बनवाया था, के आप बहनोई थे। स्वरूप सिंह, सुजाण सिंह आदि आपके ५ पुत्र थे। सं० १७५५ के ज्येष्ठ सुदि ६ रविवार को आइणी में आपका देहान्त हुआ। आपका विद्या-नुराग सर्वत्र प्रसिद्ध ही है। विशेष जानने के लिये स्व० ओम्काजी का बीकानेर राजा का इतिहास ग्रन्थ देखना चाहिये।

२ आचार्य जिनचन्द्र सूरि—बीकानेर निवासी गणधर चौपड़ा गोत्रीय सहस्रमल (यासहंसकरन) की पत्नी राजलहे (सुपीयारडे) के आप पुत्र थे। सं० १६६५ का० व० ६ को सेरूणा (संभवतः ननिहाल) में आपका जन्म हुआ था। आपका जन्म नाम हेमराज था। १० वर्ष की लघुवय में ही जिनरत्नसूरि के पास सं० १७०५ जठ सुदि ५ को जैसलमेर में आपने दीक्षा ग्रहण की। सं० १७११ में जिनरत्नसूरि का आगरे में स्वर्गवास हो जाने पर राजनगर में उनके आदेशानुसार आपको गच्छनायक पद श्रावण सुदि १० को प्रदान किया गया। पदोत्सव नाहटा गोत्रीय राजमल पुत्र जयमल तेजसी, जैतसी व उनकी भार्या कस्तूर बाई ने बड़े समारोह पूर्वक किया। सूरिमंत्र प्रदान बड़गच्छीय सवदेवसूरि ने किया। आप बड़े त्यागी व वैरागी थे। गच्छ के यतियों में शिथिलाचार बढ़ते देख आपने सं० १७१८ आश्विन शुक्ला १० सोमवार को बीकानेर में १४ बोलों का एक व्यवस्था पत्र जारी किया जिसकी नकल हमारे संग्रह में है। सं० १७३५ के आपाढ़ सुदि ८ को खंभात में आने वीस स्थानक तप का आराधन भी प्रारंभ किया था। छाजहडशाह मोहनदास के संघ के साथ सं० १७१२ में शत्रुंजय तीर्थ यात्रा की व मंडीवर में सं० मोहनदास कारित ऋषभादि चतुर्विंशति जिन बिम्बों की प्रतिष्ठा की। दूतवास में नाहटा सा. जयमल के बनवाये हुए मन्दिर की भी प्रतिष्ठा की। आपके दिये हुए कई पर्युषण के समाचार व आदेश पत्र हमारे संग्रह में है। एक कवित्त से आपने पंचनदी की साधना भी की विदित होता है। आपके रचित कई स्तवन (गौडीस्तवन सं० १७२२ छन्नू जिनस्तवन सं० १७४३) प्राप्त हैं। अनूप सिंह जी के किये हुए पत्र व्यवहार से आपसे उनका अच्छा सम्बन्ध

रहा प्रमाणित होता है। सं० १७२१ मा० व० ५ को परत के पारख अखई पुत्र बीसडास, अयाइदास, सूरदास के संघ सह गौडी, आबू तीर्थों की यात्रा की। सं० १७३१ में जोधपुर के संघवी मनोहर दास व भाई आसकरण के साथ शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की। सं० १७६३ में सूगत में अपने पट्ट पर जिनसुखसूरि को प्रतिष्ठित कर आप स्वर्ग सिधारे

बीकानेर के महाराजा अनूप सिंह जी के जिनचंद्रसूरि जी को दिये हुए पत्र

स्वस्तिश्रीमहाराजाधिराजमहाराज श्रीमदनूपसिंहप्रभुवर्याणां श्रीमद्जिनदेव भजना-
वामसकलजिनेन्द्रज्ञानवैभवेषुनृणीकृतजगत्सुसकलजैनाभिवन्दितचरणेषु श्रीपूज्यजिनचंद्र-
सूरिषु वंदनातति निवेदकमदः पत्र विशेषस्तु पूर्व सव.....भवदीयः कश्चित्
यतिवरः अस्माकं सार्थस्थितः इदानीमत्रभवदीयः कोपितास्ति भवद्विरपितृष्णी स्थित-
मस्ति तत्केमिति अतः पर एकः उपाध्यायः पांचाख्यः अथवा जयेतसी एतयोर्मध्ये यः
कश्चिदायाति सत्वरं प्रेषणीयः चातुर्मास्यं अत्रागत्य करोति तथा विधेयं अस्मिन्नर्थे
विलंबो न विधेयः किमधिकं ।

मिती पोष शु० ८

१ श्री लक्ष्मीनारायण जी

स्वस्तिश्रीमन्महाराजाधिराजमहाराजश्रीमदनूपसिंहप्रभु-
वर्याणां श्रीमत्सकलकार्यकरणनिपुणतापराङ्मुखवैराग्य
पवमानसंदोहवशंवदवशीकरणसंज्ञवैराग्यभोग्यकैवल्येषु
विषमविषयदोषदर्शनदूषितप्रपंचरचनाचुलुकीकरण-
कुंभसंभवविभवेषु समस्तविद्याविद्योतमानविप्रहेषु
श्रीमद्भट्टारकजिनचंद्रसूरिषु वंदना प्रणाम सूचकोयं जांबिकः
शमिह श्रीरमेशकरुणाकटाक्षसंदोहैः
विशेषस्तु माला श्रीमद्भिः प्रेषिता सा ऽस्मत्करगता समजनि
अन्यदपि यत्समीचीनं वस्तु अस्मद्योग्यं भवति चेदवश्यं प्रेषणीयं ।

१ जयतसी पुष्यकृत्तश के शिष्य थे उनके रचित १ अमरसेन वरसेन चौपई सं० १७१७
दीवाली जैसलमेर २ कयवग्ना रास सं० १७२१ बीकानेर ३ दशवैकालिक गीत सं० १७०७ बीकानेर
४ दशश्रावक गीत ५ उत्तराध्ययन गीत सं० १७०७, ६ चतुर्विधसंघ नाममाला ७ चौबीस जिन
पूजा जैसलमेर पार्श्व बृहदस्तवन पार्श्वनाथ छंदादि उपलब्ध हैं ।

पत्र का समय—इसमें माला प्राप्ति का निर्देश है । आगे दिये जाने सं० १७४७ के पत्र में
सूरिजी ने इसका उल्लेख किया है अतः इसका लेखन संवत् १७४७ में हुआ सिद्ध होता है ।

अन्यच्च श्रीमतां प्रावरणार्थं वस्त्रं दापितमस्तितद् ब्राह्मं किं
 च इन्द्रभागमुद्दिश्यभवद्विषयिकोदंताः लिखिताः सति सोप्यस्म-
 त्पत्रानुसारेण श्रीमतां समाधानं करिष्यति श्रीमतां महत्वं
 मानोन्नतिञ्च विधस्यति ॥ तथाच श्रीमदीयः कश्चित्कार्य-
 विशेषोज्ञाप्यः । श्रा० वदि ३

सूरिजी के महाराजा को दिये हुए पत्रों की नकल

.....मंदिरेषु । सशक्तिशक्तित्रयपङ्क गुणालंकृतसप्तांगप्राञ्ज्यराज्यैश्वर्य-
 जितपुरदरेषु । सकल हिन्दूकराजमंडलमौलिकौटीरेषु । महाराजाविराजमहाराज
 श्रीमच्छ्रीअनूपसिंदराजेश्वरेषु । श्रीविक्रमपुरम्भैरिष्ठदेवस्मरणरतैः भट्टारक-
 श्रीजिनचंद्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वचननिवेदकं प्रेष्यते पत्रमदशमत्र-
 श्रीजिनदेवप्रसादान् । श्रीमतं च मततं तदेव प्रवर्द्धमानं समभिलष्यते । अन्यच्च श्री-
 मद्भिः सविषेकं सधर्मरागंचास्मांस्वकीय यतिवरान्विज्ञाय द्वित्राणि परवानाख्य पत्राणि
 प्रेषितानि तदुचितं प्राचीनसमीचीनपद्धतिविद्वां श्रीमहाराजाणां । वयमपियौष्मा-
 कीणा यतयः स्मः । इष्टदेवस्मरणंतःकरण शुद्धया श्रीमत्सुशुभाशिषं कुर्वतेः सदा
 वर्त्तामहे । अन्यच्च । प्राक्कोठारी नैणसी ' पत्रेये उदंता लेखितस्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तर
 तस्यै च पत्राद् ज्ञातं भविष्यति । एकस्तुमधुकरः शुद्ध गरुडोद्गार जातीयो विधिपत्रयुतः
 प्रेषितो भूत्सतु मागान्नरालेजंघालेन सम विलीनः । तदनु पुनरेकोस्मत्पारंपर्यागतो-

१ स० १७३६ अषाढ वदि बुधवार को वीकानेर में (ख० लालचंद लाभवर्द्धन) ग्चित
 लीलावती-गणित चौपई आपके पुत्र जयतसी के लिये रची गई है उममें आपके राज्याधिकारी होने
 का उल्लेख इस प्रकार हैः--

“वीकानेर वड़ौननुर चहुँ दिसि में परसिद्ध ।

घर घर धण कंचण प्रवल घर घर ऋद्धि समृद्धि ।१५।

×

×

×

राजै तिहां राजा बड़ों श्री अनूपसिंह भूप ।

राष्ट्रवंश नृप करण श्रुत सुंदर रूप अनूप ।१६।

अधिकारी तसु अधिक मति कोठारी कुलमाण ।

नाम भलो श्रीनैणसी गंजै अरि गज माण ।२०।

नृप मन शुद्ध भया कहै, बहुत बधा है मान ।

हाकिम हुजदाशं सिरै प्रसिद्ध गिणो परधान ।२१।

लघु अंगज श्री जैतसी मनमथ रूप बखाण ।

गुण चतुराई गणित विधि शास्त्र अर्थं सवजाण ।२२।

॥ श्री ॥

स्वस्ति श्रीयुक्तप्रचंडदोदं दीर्घनिज्जि—तारिभूपालनिकरेषु । प्रबल पुण्यप्रकारसत्फल-
फलितप्रतिदिनमनोरथभरेषु । निस्तंद्रचन्द्रमंडलसमुच्चलयशःसुवाधवलितविश्वमंदिरेषु ।
मशक्तिशक्तित्रयषड्गुणालंकृतसप्तांगप्राज्यराज्यैश्वर्य्यजिनपुरंदरेषु । महाराजाधिराज
महाराजश्रीअनूपसिंहराजेश्वरेषु । श्रुतिक्रमपुरस्थेः स्मरस्थचित्तजितदेवस्मरणरतैः
श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदाधर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदोशममत्र श्रीजिन-
देवप्रसादतः श्रीमतां च स्ततं सदेन वर्द्धमानं समभिलष्यते । श्रीमतां पुत्ररत्न प्राप्तिं
श्रुत्वा जहर्षुः सर्वे जनपदजनावयमपि विशेषतो हर्षोत्कर्षं प्राप्ताः स्मः । अन्यच्च श्रीमद्भिः
सविवेकं सधर्मरागं चास्मान्स्वकीय यतिवरान्विज्ञाय वयमभियौघमाकीणा यतयः स्मः
परवानाख्यपत्रं प्रेषितं तदुचितं भवतां श्रीमहाराजानां प्राचीनसमीचीनपद्धतिविदां
स्वेष्टदेवस्मरणैः करणशुच्या श्रीमत्सुगुभाशिपं कुर्वतोवर्त्तामहे । अन्यच्च कोठारी नैणसी
पत्रेये उदंता लेखितास्तेषां प्रत्युत्तरं सविस्तरं तस्यैव पत्राज्ञेयं । एकभु मधकरः
प्रेषितोस्ति ससयत्नं.....

॥ श्रीः ॥

॥ स्वस्ति श्री दीव्यप्रतापदिनेद्रेषु । सकलनरराजसमाजसुरेद्रेषु । गुणागुणहिताहित-
न्यायान्यायभृद्योग्यायोग्यनवरत्ननिकरपरीक्षकेषु । सन्मार्गशुभाचारस्वपरजनसुदृष्टि-
समीक्षकेषु । समस्तमहाराजयोग्योपमानविराजयानेषु । महाराजाधिराजमहाराज
श्रीअनूपसिंहसार्वभौमेषु (स्वेष्टदेवता-स्मरणरतैः) म० श्रीजिनचन्द्रसूरिभिः सदा
धर्मलाभशुभाशीर्वादनिवेदकं लिख्यते पत्रमदः । कुशलमत्र श्रीजिनदेवप्रसक्तैः ॥
श्रीमतां च स्ततं तदेववर्द्धमानं समभिलष्यते । तथा श्रीमतां वचसोकुमारत्रयश्रेयोर्थं
रक्षाविधानत्रयंप्राक्प्रेषितमस्ति । पुनः श्रीमद्विरस्मद्वाहन्वमुद्दिश्य चीनांशुकं प्रदापितं तद-
स्माभिरदमंमञ्जोकः गृहीतं विद्यते । युष्मदाहूताविद्वद्यतयः प्रेषिताः संति ते तत्रसमेता-
भविष्यंति समेष्यंति वा । विशेषस्तु श्रीमतांसद्भाग्यवतां समस्तं प्रशस्तमेवास्ति सर्वदा
तथापि युष्मच्छ्रयोतपोर्थनियमविधिनास्माभिर्लक्ष्मजापः प्रारब्धोस्ति तेनाशीर्वादं कुर्मः ।
तथैकं हितावहं वाक्यं ज्ञेयं । अन्यजनपदेषु पवनप्राबल्यात्सर्वतीर्थलोपः संजातास्ति
श्रीमन्मंडलेयुष्मत्पुण्यप्रतापतो । देवाचर्चादिरूपो हिंदूकधर्मः सोत्साहं प्रवर्त्तते सांप्रतं
त्वत्र हुंदीयाख्यायतयोमुग्धजनविप्रतारका देवाचर्चां दानं च सर्वप्राचीनमार्गच नि-
षेधयंति तन्नचारु । तन्निवारणमेवश्रेयः कारणमितिधार्यम् ।

१ इसमें महाराजा के ३ पुत्रों का उल्लेख होने से यह पत्र सं० १७४८-५० के लगभग का है

बृहत्तर भारत में जैन संस्कृति के प्रभाव की खोज

[ले० श्रीयुत वा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०]

गत कई शताब्दियों के विश्व इतिहास में हम यह पढ़ते और सुनते आये हैं कि यूरोप के विभिन्न देशों ने, विशेषकर अंग्रेज जाति ने किस प्रकार सुदूर देशों में अपने उपनिवेश स्थापित करके, वहाँ अपनी संस्कृति का बीजारोपण और विकास करके किस प्रकार अपने राष्ट्र को बृहत्तर रूप दिया और अपनी सभ्यता से संसार को प्रभावित किया। किन्तु हममें से थोड़े ही इस बात को जानते हैं कि ऐतिहासिक काल में भी एक समय था जब भारतवर्ष की सभ्यता अपने चरम शिखर पर थी, समस्त संसार उससे प्रभावित था और वह संसार का शिरोमणि देश था। उस युग में स्वयं भारतीयों ने भारत से बाहर जाकर अनेक उपनिवेश बसाये थे, उनमें अपनी देशीय संस्कृति का बीजवपन किया, सिद्धन किया, विकास किया और इस प्रकार एक विशाल बृहत्तर भारत का निर्माण किया था। उक्त निर्माण में राज्य और शक्ति के आकांक्षी साहसी वीरों, और धन के इच्छुक उत्साही वणिकों ने तो भाग लिया ही था, संस्कृति एवं धर्म प्रचार के अभिलाषी विद्वानों तथा धर्माचार्यों ने भी अत्यधिक महत्वपूर्ण योगदान किया था। इन प्रवासी धर्मप्रचारकों में अभीतक बौद्ध एवं ब्राह्मण धर्मियों के ही नाम के उल्लेख प्रायःकर मिलते हैं। जैनदृष्टि से इस दिशा में अभीतक प्रायः कुछ भी कार्य नहीं हुआ है।

वास्तव में यह असंभव है कि समकालीन जैन प्रचारक इस संबंध में सर्वथा निष्क्रिय रहे हों, विशेषकर जबकि उनका धर्म उस समय प्रचलित किसी भी अन्य धर्म की अपेक्षा किसी भी दिशा और अंश में भी हीन नहीं था। भारत के बाहर जैन धर्म के प्रचार और जैनधर्माचार्यों के गमनागमन के अनेक उल्लेख भी मिलते हैं। नैपाल और तिब्बत में ही नहीं चीन महादेश में भी जैनधर्म का प्रकाश पहुँचा था। अफगानिस्तान, कपिशा एवं मध्य एशिया में ७ वीं शताब्दी में जैनधर्म के विद्यमान होने का चाक्षुष साक्ष्य तो चानी यात्री हुएनत्सांग (६१८-६४४ ई०) ही प्रस्तुत करता है। यूनान, रोम और मिश्र पर्यन्त भी जैन श्रमण प्राचीन काल में गये थे इस बात के पुष्टकर प्रमाण उपलब्ध हैं। लंका में जैनधर्म का प्रचार चौथी, पांचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में था तथा आठवीं शताब्दी ईस्वी में भी वहाँ जैनों की अच्छी बस्ती थी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

परन्तु ब्रह्मा, श्याम, मलाया प्रायद्वीप, तथा पूर्वी द्वीप समूह के जावा सुमात्रा, बोर्निओ, बालि आदि द्वीपों में और अफ्रीका के पूर्वी तट के प्रदेशों में जैन संस्कृति का क्या कुछ प्रभाव पहुँचा, इस दिशा में अभी कुछ अध्ययन नहीं हो पाया। उक्त प्रदेशों से सम्बद्ध इतिहास, पुरातत्त्व, साहित्य, संस्कृति आदि का अध्ययन करने वाले यूरोपियन विद्वानों ने, जिनमें फ्रान्सीसी

विद्वानों का ही विशेष भाग है, अथवा उनका अनुसरण करने वाले भारतीय पुराविदों ने भी केवल बौद्ध एवं हिन्दू धर्मों की ही दृष्टि से उरोक्त अध्ययन किये और अपने निष्कर्ष निकाले। यद्यपि उक्त अध्ययन के प्रत्यात विशेषज्ञ प्रो० मिलवन्लेरी के अनुसार जावा आदि में जैन धर्म के प्रभाव के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं, इस दिशा में प्रायः किसी भी विद्वान ने अभी तक कोई स्वतन्त्र अथवा विशिष्ट अन्वेषण नहीं किया।

किन्तु जब हम यह देखते हैं कि बृहत्तर भारत का यह निर्माण अर्थात् भारत के निकटस्थ इन देशों एवं द्वीपदिकों में भारतीय संस्कृति का प्रवेश, प्रभाव एवं प्रसार विशेष रूप से सन् ईस्वी के प्रथम सहस्राब्द में हुआ और यह वह समय था जबकि स्वयं भारतवर्ष में बौद्ध धर्म शीघ्रता के साथ नाम शेष होता जा रहा था, तथा जैनधर्म कर्णाटक, मशराल और तुलु एवं तमिल देशों में ही नहीं बल्कि आन्ध्र, कर्नाटक, गुजरात और मध्य भारत में भी, अर्थात् भारतवर्ष के लगभग तीन चौथाई भाग में अपने सर्वतोमुखी चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो रहा था जबकि कई महान सम्राट्, छोटे बड़े अनेक नरेश, अनगिनत सामन्त, सदाँर, सेनानी और बौद्धाथल और जल के व्यापारी, धनिक श्रेष्ठ और चतुर शिल्पी, तथा विभिन्न वर्गीय बहुभाग जनसाधारण भी उनके अनुयायी थे, अनेक महान विद्यापीठों से देश की अधिकांशतः लोक शिक्षा की वह व्यवस्था कर रहा था, असंख्य निर्ग्रन्थ श्रमण संघ तथा अनेक उद्भट्ट विद्वान् एवं दिग्गज प्राचार्य धर्म प्रचार, लोककल्याण, साहित्य-सृजन आदि के द्वारा सांस्कृतिक अभिवृद्धि कर रहे थे, तो बड़ा आश्चर्य होता है कि क्या ऐसे समय में भी जैनधर्म ने उसी समय में होने वाले बृहत्तर भारत के निर्माण में और उसकी संस्कृति को प्रभावित करने में कोई भी भाग नहीं लिया? प्राचीन जैन कथा साहित्य, पुराण और चरित्र ग्रन्थों में जैनधर्म साहसी वीरों और वणिकों के समुद्र यात्रा करके सुदूरन्ध द्वीपान्तरी को आने जाने के उल्लेख भरे पड़े हैं। उनमें जिन द्वीपों के नाम और वर्णन आये हैं इनमें से अनेकों को थोड़ा प्रयास करके आज भी चीन्हा जा सकता है। इन यात्रा विवरणों में अनेक ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। जैन कवि धनपाल रचित तिलकमंजरी में वर्णित एक ऐसे ही समुद्री आक्रमण की प्रसिद्ध पुरातन्त्रविद् डा० मोनीचन्द्र ने एक ऐतिहासिक घटना का सजीव वर्णन अनुमान किया है। इन द्वीपदिकों के निवासियों का प्राचीन जैन पुराणादि ग्रन्थों में विद्याधर जाति का माना है और वहाँ की प्राचीन अनुश्रुतियों भी इस विद्याधर जाति को नाग, ऋत्न, यत्न, गंधर्व आदि उपजातियों के साथ उक्त प्रदेशों का मूल सम्बन्ध सिद्ध करती हैं।

अभी हाल में ही बृहत्तर भारत सम्बन्धी कुछ साहित्य का अध्ययन कर रहा था, विशेष रूप से डा० विजयराज चट्टोपाध्याय की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'कम्बोज में भारतीय संस्कृति का प्रभाव' (अंग्रेजी) का; उससे पता चला कि कई ऐसे संकेत दृश्य हैं जिनके द्वारा अन्वेषण करने से कम्बोज,

श्री विजय (सुमात्रा), जावा आदि में जैन संस्कृति के प्रभाव को खोजने का सफल प्रयत्न किया जा सकता है, यथा—

(१) कम्बोज के सर्व प्रथम भारतीय राज्य वंश के मूल में नागनागि सम्बन्ध होना, जिनका कि बहुल वर्णन प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है।

(२) तद्देशीय अनुश्रुति उस वंश का संस्थापक मूल पुरुष कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण को बताती है, जो प्रथम शती ई० के लगभग भारतवर्ष से आया था, ४ थी शताब्दी के लगभग एक दूसरा कौण्डिन्य वहाँ पहुँचा और उसने उक्त देश का पूर्णतः भारतीयकरण करा दिया। कदंब आदि नरेशों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि दक्षिण भारत के पूर्वी भाग में प्राचीन काल में कौण्डिन्य एक प्रसिद्ध गोत्र था। उस काल में यह भाग जैन धर्म से अत्यधिक प्रभावित था। जैन वैद्यर्षि उग्रदित्य ने अपने कल्याणकारक नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ के हिताहिताध्याय में सम्राट् अमोघ वर्ष प्रथम (८१५-८७७ ई०) की राज सभा में मांसहार निषेध पर जो महत्त्वपूर्ण व्याख्यान दिया था, उसमें इन्होंने अपने पूर्ववर्ती उन दयालु आर्हत वैद्यर्षियों में जो खान-पान में ही नहीं; ओषधि आदि में भी मांसादिक का प्रयोग निषिद्ध मानते थे, कौण्डिन्य का नाम सादर स्मरण किया है। और ब्रह्मचूरि ने अपने 'प्रतिष्ठा तिलक' (१३ वीं शती ई०) में अपने पिता पार्श्व पंडित (लगभग १२०० ई०) के पाण्ड्य देश से अपने जिन गोत्रज बन्धुओं के साथ जैनधर्मावलम्बी होयसल राज्य में आकर बसने का उल्लेख किया है उनमें कौण्डिनि गोत्र का भी नाम है।

(३) इन भारतीय उपनिवेशों में मद्यमांसादि के आहार पान का प्रचार नहीं था, वहाँ के निवासी प्रधानतः शाकाहारादिक के जां थोड़े से उल्लेख मिलते हैं उनमें भी पशुबलि देना प्रायः-करके नहीं पाया जाता।

(४) इन देशों में 'जिन' और बुद्ध शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं।

(५) वहाँ से प्राप्त प्राचीन बुद्धमूर्तियाँ भारतीय बुद्ध मूर्तियों से कुछ भिन्न हैं और तीर्थङ्कर मूर्तियों के साथ विलक्षण सादृश्य रखती हैं। डा० चटर्जी को उपरोक्त पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर दिये चित्र में जो तथाकथित बुद्ध मूर्ति है वह सुखासन से तिष्ठी ध्यान मुद्रा, नासाग्र दृष्टि, ग्रीद में बाँई हथेली पर दाँयी हथेली—ठीक अर्हत प्रतिमाओं की नाईं रखी है। कोई वस्त्र यज्ञोपवीत भी नहीं है वह नागावलि पर आसीन है जिसका फण संभवतः पीठ के पीछे से होकर शिर पर छत्र किये हुए था— यह उपरिम भाग खंडित है।

(६) लगभग नवौं शताब्दी के एक शिलालेख में भगवान पार्श्वनाथ का उल्लेख है, साथ ही जैनग्रन्थ कल्याणकारक का भी जिसे कि लोक कल्याण करने वाला बताया है।

(७) ६ ठी व सातवीं शती के एक शिलालेख में 'शिवपद' का विचित्र एवं कुछ अलङ्कारिक

वर्णन है। इस शब्द और इनके वर्णन में जैन संस्कृति की छाप स्पष्ट प्रतीत होती है।

(८) ६ठी ७वीं शताब्दी के कुछ शिलालेखों का मङ्गलाचरण एक निराले प्रकार का अध्यात्म पूरित है। उनमें वेदान्त की झनक है। अस्तु वेदान्त के प्रणेता शंकराचार्य के जन्म से लगभग एक शताब्दी पूर्व के इन अभिलेखों में वेदान्त के वजाय जैन अध्यात्म की छाप अधिक सफलता पूर्वक खोजी जा सकती है।

(९) उन प्रदेशों में रामायण और महाभारत का बहुल प्रचार और इन कथानकों का जो रूप प्रचलित है उसका जैन रूप के साथ अधिक सादृश्य।

(१०) वहाँ के प्राचीन मंदिरादिकों के द्वारों में उत्कीर्ण प्रस्तावकों में जैन पुराणों में वर्णित दृश्यावलियों की खोज।

(११) वहाँ के शिल्प, स्थापत्य एवं मूर्तिकला पर जैन कला का प्रभाव।

(१२) वहाँ की प्रचलित लोक कथाओं की जैन साहित्य में खोज।

(१३) हिन्दू संस्कृति से अनोखे स्त्री जाति के विशिष्ट अधिकारों में जैन संस्कृति का प्रभाव।

(१४) पाटलिपुत्र के मुण्ड वंशी नरेशों का उल्लेख, जिनका वर्णन जैन साहित्य में ही विशेष रूप से आया है।

(१५) उन देशों में प्रचलित वर्ष का प्रारंभ कार्तिक मास से होता है, जो कि महावीर निर्वाण के साथ प्रचलित जैन मान्यता ही है।

(१६) दीपावलि का उत्सव, उस समय रोशनी आतिशयाजी आदि का होना, तथा रथयात्रा, कलशाभिषेक आदि अन्य पूजोत्सवों का मनाया जाना।

(१७) उन देशों में बहुमान्य तीन प्राचीन वगों में बौद्ध भिन्तुओं तथा हिन्दू, शैवों के अतिरिक्त जिन 'पंथी' या पंडितों का उल्लेख है; जो बड़े विद्वान, व्यवहार कुशल तथा उच्च पदों पर आसीन होते थे, क्या जैन थे इत्यादि।

ये कतिपय दिशा निर्देश हैं। प्रस्तुत लेख का प्रयोजन कोई खोज शोध अनुसंधानादि न हो कर जैनाध्ययन को इस महत्त्वपूर्ण एवं उपेक्षित शाखा की आरंभ विद्वानों का ध्यान आकर्षित करना मात्र ही है। इस सम्बन्ध में अपने अध्ययन के परिणाम स्वरूप विस्तृत एवं प्रामाणिक प्रकाश फिर कभी डाला जायगा।



जैनमूर्तियों की प्राचीनता — ऐतिहासिक विवेचन

यह कहना कठिन है कि जैनियों की मूर्तियाँ कितनी प्राचीन हैं। स्टीवेन्सन के अनुसार चौथी शताब्दी पूर्वसा में किसी जैन नेता प्रभव के नेतृत्व में उपकेशपट्टन में भगवान महावीर की एक मूर्ति स्थापित हुई थी। पुरातत्त्व के प्रमाणों से भी उस समय के लगभग जैनियों में मूर्ति स्थापित करने का प्रचार सिद्ध होता है। हाथोगुम्फा के लेखों में जैन नृपति खारवेल द्वारा पाटलीपुत्र से उस जैन-मूर्ति के लौटाने का उल्लेख है जिसे नन्दराज कलिंग से ले गया था। इससे चौथी शताब्दी पूर्वसा में नन्द-नृपतियों का जैन धर्मावलम्बी होना, कलिंग का जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र होना तथा पाटलीपुत्र में तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण होना विदित होता है। लोहानीपुर पटना से प्राप्त पटना म्यूजियम की दो भग्न दिग्म्बर मूर्तियों में से एक की पालिश में मौर्यकाल की विशेषताएँ हैं और दूसरी की निर्माण-कला दूसरी सदी पूर्वसा से मिलती है। संभव है कि वे दूसरी और तीसरी सदी पूर्वसा की जैन-मूर्तियों के नमूने हों। अर्थशास्त्र के लेखक ने भी जयंत, विजयंत और सर्वार्थसिद्धि में जैन देवताओं का उल्लेख किया है।

अनन्त, रानी और गणेशगुफा इत्यादि उड़ीसा की अधिकांश गुफाएँ दूसरी सदी पूर्वसा में खोदी गयी थीं। अनन्त गुफा की दीवाल पर त्रिशूल और स्वस्तिक के चिह्न तथा आंगन में जैन-मूर्तियाँ मिलती हैं। रानीगुफा की दीवाल पर जैन धार्मिक-उत्सवों के दृश्य अंकित मिलते हैं। इनसे ईस्वी सन् के पूर्व जैन-मूर्तियों का निर्माण सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त काल में मथुरा जैनियों का प्रसिद्ध स्थान था। वहाँ की खुदाइयों में अधिकतर दूसरी सदी पूर्वसा से तीसरी शताब्दी तक के जैन स्तूप, मन्दिर और पत्थर मिले हैं। मथुरा के पत्थरों से हमें जैन-मूर्तियों के विषय में अध्ययन के लिए बहुत कुछ सामग्रियाँ मिल जाती हैं। इनमें हमें ऋषभदेव से लेकर प्रायः सभी तीर्थंकर मिलते हैं। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक जैनियों में चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रचलित हो चुकी थीं।

तीर्थंकरों की मूर्तियाँ विशुद्धतः भारतीय भावना की प्रतीक हैं। इनमें किसी विदेशी प्रभाव का आभास नहीं मिलता। बुद्ध और उनकी मूर्तियों से पृथक् करने वाली जैन-मूर्तियों की प्रधान विशेषता उनकी नग्नता है। परन्तु यह केवल दिग्ंबर मूर्तियों में होती है; श्वेताम्बर अपनी मूर्तियों को बख्तों से विभूषित करते हैं। जिन-मूर्तियों की

हथेलियों और तलवों पर ही नहीं छाती पर उनके चिह्न अंकित रहते हैं। अधिकतर बुद्ध-मूर्तियों की तरह उनके बाल भी छोटे छोटे, घुँघराले और दाहिनी ओर मुड़े हुए पेचदार होते हैं। परन्तु कुछ पहले की मूर्तियों के बाल लच्छों में कंधों पर लटके रहते हैं। पहले की मूर्तियों में बुद्ध के समान उष्णीव और ऊर्ण नहीं होते थे, परन्तु मध्य काल के अन्त से उनके सिर पर एक प्रकार का जूड़ा मिलता है।

जैन लेखों और साहित्य में सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के नाम से प्रसिद्ध चतुर्मुखी प्रतिमाओं का उस काल के मथुरा में पाया जाना रोचक है। मथुरा के कंकाली टीले पर दो चतुर्मुखी प्रतिमाएँ मिली हैं। एक दिगम्बर प्रतिमा पर कोई चिह्न नहीं है। उसके लेख से विदित होता है कि वह मुनि जयभूति की प्रशिष्या वसुला के कहने पर किसी वेणी नामक सेठ की प्रथम पत्नी कुमारमिता के द्वारा दान की गयी थी। लिपि के आधार पर यह कुषण-काल की सिद्ध होती है। उसी स्थान पर उसी काल की दूसरी प्रतिमा सर्पों के छत्र के चिह्न से पार्श्वनाथ की जान पड़ती है। यह स्थिरा नामक किसी महिला के द्वारा सभी जीवों की भलाई की इच्छा से भेंट की गयी थी। यह भी कुषण काल की है।

अब इस काल के पहले की कुछ प्रतिमाओं का विवरण दिया जाता है। फरवरी १८९० में काँकली में एक प्राचीन शिला मिली है, जिसपर एक आसीन जैनमूर्ति अंकित है। अभाग्यवश इस प्रतिमा का सिर गायब है। उनकी सेवा में अनेक देव तथा आसन पर दो सिंह और दो वृषभ अंकित हैं। वृषभ की स्थिति इसे आदिनाथ या ऋषभदेव की मूर्ति सिद्ध करती है। नीचे की लिपि प्राचीन जान पड़ती है। आदिनाथ की दूसरी कुषणकालीन मूर्ति मथुरा म्यूजियम के शिला पर न० B 4 में अंकित है। लेख के अनुसार कुषण नृपति शाही वसुदेव के राज्य के चौरासिवें वर्ष में वह मूर्ति एक मठ में स्थापित की गयी थी। सामने के आसन पर कई पुरुष और नारियों से पूजित एक स्तंभ पर स्थित चक्र है।

सन् १८९० में प्राप्त एक कुषणकालीन शिला में अनन्तनाथ की विकृत मूर्ति मिलती है। इसमें बायें हाथ में कपड़े का एक टुकड़ा लिए और त्रिशूल पर स्थित एक चक्र के वगल में खड़ी हुई जिनमूर्ति अंकित है। उसी काल के एक खुदे हुए पत्थर पर, जो किसी जैन-मठ के तोरण का भाग रहा होगा, पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियाँ अंकित जान पड़ती हैं। नेमिनाथ की एक सुन्दर मूर्ति मथुरा म्यूजियम में है जिसका वर्णन वोगल (Vogal) ने अपने "मथुरा म्यूजियम के पुरातत्व" में किया है। दो स्तंभों और सिंहों के जोड़े पर स्थित एक सिंहासन पर नेमिनाथ ध्यानावस्था में विराज-

मान हैं। स्तंभ के पीछे हाथ जोड़े हुए दो व्यक्ति हैं। एक जड़ाऊ वस्त्र सिंहासन से नीचे दोनों सिंहों के बीच लटक रहा है। उसके नीचे एक चक्र जान पड़ता है। आसन की सादी कोर पूर नेमिनाथ का चिह्न शंख अंकित है।

जैन-कथाओं में कृष्ण वासुदेव और उनके परिवार का वर्णन बहुत मिलता है। अन्तकृत दशांग के एक प्रसंग के अनुसार अरिष्टनेमि ने कृष्ण-परिवार के कुछ व्यक्तियों को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और स्वयं कृष्ण को दुःखमा-सुखमा काल में उत्पन्न होने वाला भावी बारहवां तीर्थंकर घोषित किया था। मथुरा के एक खुदे हुए शिलापट पर, जो अपने लेख के अनुसार संभवतः कुषणराज वसुदेव के राज्यकाल में धनहस्तिन नामक किसी व्यक्ति की पत्नी के द्वारा भेंट किया गया था, एक मुनि को किसी महिला द्वारा भेंट ग्रहण करते हुए दिखलाया गया है। दोनों के बीच बड़े अक्षरों में 'कराह' श्रमण लिखा हुआ मिलता है जो संभवतः कृष्ण ही हो सकते हैं। कृष्ण संबन्धी जैन मान्यताओं को माना जाय या नहीं परन्तु इतना निश्चित है कि कृष्ण के चचेरे भाई अरिष्टनेमि के समय में जैन और वैष्णव धर्मों का घनिष्ट संपर्क हो गया था। इस पारिवारिक संबन्ध के कारण उस समय से यादवकुल के प्रभाव वाले द्वारिका, मध्य-भारत यथा यमुना-धारा के प्रदेशों में जैन और वैष्णव-धर्म समान रूप में वर्तमान रहे।

ऊपर वर्णित सर्वतोभद्रिका प्रतिमा के अतिरिक्त मथुरा म्यूजियम के शिलापट्ट B70 और B71 में भी पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ अंकित मिलती हैं जो नागछत्र के द्वारा स्पष्ट पहचानी जा सकती हैं। ये मूर्तियाँ भी संभवतः हमारे निर्दिष्ट समय की ही जान पड़ती हैं।

तीर्थंकरों में सर्वप्रसिद्ध वर्द्धमान महावीर हैं। मथुरा या अन्य जैन-केन्द्रों में इनकी असंख्य मूर्तियाँ प्राप्त हैं। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित कंकाली टीले से मिली दो ऐसी मूर्तियों का वर्णन आवश्यक है जो संभवतः खृष्टाब्दी की प्राथमिक सदियों की हैं। एक शिलापट पर वे कई सेवकों के साथ अपने पवित्र वृत्त के नीचे आसीन हैं, जिनमें एक छत्रयुक्त नाग भी है। इसमूर्ति के आसन पर एक विकृत लेख है जिसका प्रारंभ 'नमो' से हुआ है। दूसरी मूर्ति एक मण्डप के नीचे अगल-बगल में दो सेवकों के साथ आसीन हैं। दोनों ही मूर्तियाँ ध्यानस्थ मुद्रा में हैं और सेवकों के अतिरिक्त उनके आसन पर दो सिंह तथा आकाश से फूल बरसाते हुए गंधर्वों और अप्सराओं के चित्र हैं।

जैन पहले प्रवर्तकों की ही मूर्ति स्थापित करते थे परन्तु उनकी धर्मकथाओं में चौबीस तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उल्लेख भी मिलते हैं। नायगामेष इस

प्रकार के सर्वप्रमुख देवता हैं। प्रथम ईस्वी सदी की लिपि में अंकित लेख के साथ एक शिलालेख का टुकड़ा मथुरा में मिला है जिनमें एक नीचे आमन पर मेष के मस्तक वाले नायगामेष पालथी मार कर बैठे हैं। इनका मुख ठीक सामने की ओर है मानों किसी व्यक्ति को उपदेश दे रहे हों, जिनकी मूर्ति नष्ट हो गयी है। लेख में देवता का नाम 'भगवत नेमेषो' दिया गया है। प्रस्तुत लेख के 'नेमेषो' कल्पसूत्र के हरिणोगमेषो, नेमिनाथ चरित्र के नायगामेषित तथा अन्य ग्रन्थों के नेजमेष या नैगमेय नामक देवताओं के नामों का रूपान्तर हैं, जिनका स्वरूप जैन धार्मिक कलाओं में भेंड़, बकरा या हिरन के मस्तक से युक्त बतलाया गया है। मथुरा के आलोच्य शिलालेख में उनका सिर बकरे का है। कनिंघम ने भी चार नायगामेष की मूर्तियाँ खोज निकाली थीं। नहीं पहचानने के कारण उन्होंने इन्हें केवल बैल के सिर वाले देवता कहकर वर्णन किया है।

पूर्वकथित मथुरा की नायगामेष की मूर्ति के दाहिनी ओर तीन खड़ी हुई महिलाओं और एक बच्चे का चित्र है। बुहलर के विचारानुसार यह चित्र श्वेताम्बरा-गम में वर्णित संभवतः उस कथा को प्रस्तुत करता है जिसमें देवनन्दा और त्रिशला के बीच गर्भ के परिवर्तन का वर्णन है।

जैन पुराणों के अनुसार नायगामेषिन् गर्भ धारण के देवता भी माने गये हैं। अन्तःकृत दशांग में एक प्रसंग है जिसके अनुसार सुलसा ने नायगामेषिन् को प्रसन्न कर उनकी कृपा से गर्भ-धारण किया था। प्राचीन काल में जैन नायगामेषिन् को स्त्री और पुरुष दोनों रूपों में चित्रित करते थे। कर्जन म्यूजियम मथुरा की २५५७ और E. I. नम्बर की शिलाओं पर इस देवता का पुरुष रूप मिलता है और उसी म्यूजियम की E 2 नम्बर की शिला पर उन्हें बकरे के मस्तक वाली देवी के रूप में चित्रित किया गया है।

जैन उपासना गृहों में सरस्वती, गणेश इत्यादि कुछ ऐसे देवों की मूर्तियाँ भी मिलती हैं, जिनकी हिन्दू-उपासना-गृहों में प्रधानता रहती है। कंकाली टीले से मस्तक-रहित दा नारी-मूर्तियाँ मिली हैं। एक तो पहचानी नहीं जा सकी परन्तु दूसरी सरस्वती की है। वह देवी एक चौकोर आसन पर घुटनों को ऊपर किये बैठी है। उसके बायें हाथ में एक पुस्तक है और दायें हाथ, जो उठा हुआ था, नष्ट हो गया है। आसन से लेख में इन्डोसीथियन लिपि की सात पंक्तियाँ हैं।

तीर्थकरों तथा जैन-मत के अन्य देवों के अतिरिक्त मथुरा के कंकाली टीले पर कुछ छोटपुट ऐसे चिह्न और चित्र भी मिले हैं जिन्हें जैन पवित्र मानते हैं जैसे स्वस्तिक.

वज्र, शंख, वृषभ, हस्ति, हंस, हरिण इत्यादि। जैनियों के लिए स्वस्तिक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ, वज्र पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ, शंख बाइसवें तीर्थंकर नेमिनाथ, हाथी दूसरे तीर्थंकर अजितनाथ, हंस पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ, हरिण सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ और वृषभ प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के सूचक चिह्न हैं। इस प्रकार प्रकट होता है कि कंकाली टीले की कला पूर्णतः जैन विचारधारा से परिस्रावित है।

मथुरावशेषों के अतिरिक्त सातवीं, आठवीं, नौवीं और दसवीं शती की अनेक मूर्तियाँ भूगर्भ से निकली हैं, जिनसे जैन मूर्ति कला की मनोज्ञता, विशदता और महत्ता प्रकट होती है। लखनऊ म्यूजियम में ऐसी अनेक दसवीं शती की मूर्तियाँ हैं, जिनमें पार्श्वनाथ के चिन्ह सर्प का उपयोग मूर्ति के नीचे किया गया है। अबतक की उपलब्ध मूर्तियों में पार्श्वनाथ, महावीर और आदिनाथ की मूर्तियों की अधिकता है।

अम्बिका की मूर्ति का प्रचार भी जैन सम्प्रदाय में बहुत दिनों से चला आ रहा है। यह मथुरा, लखनऊ और दिल्ली आदि स्थानों के म्यूजियमों में है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक प्राचीन मूर्तियाँ अम्बिका की उपलब्ध हुई हैं। उपलब्ध जैन मूर्तियों को देखने से प्रतीत होता है कि जैन तक्षण कला का प्राचीन भारत में सर्वाधिक प्रचार था।



जैन सिक्के

[ले० श्रीयुत प० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य, शास्त्री, साहित्यरत्न]

प्रत्येक देश और जाति के जीवन उत्थान के लिये इतिहास की परमावश्यकता है, क्योंकि अतीत की गौरवमयी दीपशिखा द्वारा पथप्रदर्शन का कार्य इतिहास से ही सम्पन्न होता है। जैन इतिहास का वर्षों से अनुसन्धान हो रहा है। शिलालेख, ताम्र-पत्र, मूर्तिलेख, सिक्के, जैनग्रन्थों की प्रशस्तियाँ, विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरण एवं देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित ऐतिहासिक ग्रन्थ जैन इतिहास निर्माण के मौलिक उपकरण हैं। सिक्कों के अतिरिक्त अन्य ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग जैन एवं जैनेतर विद्वानों ने बराबर किया है। अब तक इतिहास निर्माण के प्रधान उपादान सिक्कों का अध्ययन जैन दृष्टिकोण से करने की दिशा प्रायः रिक्त है। यही कारण है कि भूगर्भ से प्राप्त सिक्कों को अभी भी जैन मान्यता देने में विद्वानों को फिझक हो रही है। अतएव प्रस्तुत निबन्ध का ध्येय विद्वानों का ध्यान इस दिशा की ओर आकृष्ट करना ही है।

सन् १८८४ में कनिंघम साहब^१ ने अहिच्छत्र से प्राप्त ताँबे के सिक्के के एक ओर पुष्प सहित कमल और दूसरी ओर 'श्री महाराज हरि गुप्तस्य' अंकित देखकर यह तर्क उपस्थित किया था कि इस सिक्के में अंकित धर्मभावना वैदिकधर्म और बौद्धधर्म से भिन्न-जैनधर्म की धर्म भावना है। क्योंकि वैदिकधर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये गुप्तवंश के राजाओं ने यज्ञीय अश्वमूर्ति, विष्णुभक्त इस वंश के राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये लक्ष्मीमूर्ति, शिवभक्तों ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये नान्दी या शिवलिंग और बौद्धधर्मानुयायियों ने अपनी धर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये चैत्य-आकृति अंकित की है। पुष्प सहित कमल की आकृति का सम्बन्ध केवल जैनधर्म के प्रतीकों के साथ ही जोड़ा जा सकता है। जैनधर्म में अष्ट-मंगल द्रव्यों का बड़ा महत्व है, प्रत्येक कार्य में उसकी सफलता के लिये इन मंगलद्रव्यों का उपयोग किया जाता है। कलश का इन मंगल द्रव्यों में प्रमुख स्थान है। मथुरा से प्राप्त स्थापत्यावशेषों में मंगल-कलश की आकृति मिलती है तथा अनेक हस्तलिखित ग्रन्थों में भी मंगल-कलश का चिन्ह उपलब्ध है। अतएव कुम्भ-कलश प्रतीक अंकित सिक्के जैन हैं।

१ जैन साहित्य नो इतिहास पृ० १३१, गुप्तवंशना जैनाचार्य शीर्षक

कनिधम साहब के साथ भारतीय सिक्कों का अध्ययन कैम्ब्रिज कालेज के अध्यापक रेप्सन, एलेन, गार्डनर, वुहलर, विसेन्टस्मिथ, सिड्गेल, ह्वाइटेड, राखालदास वन्धोपाध्याय, डा० गौरीशंकर हाराचन्द्र ओम्का आदि विद्वानों ने किया है। कनिधम साहब के अतिरिक्त अन्य समस्त विद्वानों ने वैदिक, वैष्णव, शैव और बौद्धधर्म की धार्मिक भावनाएँ ही प्राप्त मुद्राओं में व्यक्त की हैं। यदि ये विद्वान् जैन प्रतीकों से सुपरिचित होते, तो अवश्य ही अनेक सिक्कों को जैन सिद्ध करते। कारण स्पष्ट है कि सिक्कों में तद् तद् धर्मानुयायी राजाओं ने अपनी-अपनी धर्म भावना को प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्त किया है। प्राचीन काल में अनेक जैन राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी मुद्राएँ प्रचलित की हैं। इन जैन राजाओं ने अपनी मुद्राओं में जैन प्रतीकों द्वारा अपनी धर्म-भावना को व्यक्त किया है। पुरातन राजाओं में ऐसे भी अनेक राजा हुए हैं, जो प्रारम्भ में वैदिक या बौद्ध धर्म का पालन करते थे, पर पीछे जैन आचार्यों से प्रभावित होकर जैनधर्म में दीक्षित हो गये अथवा प्रारम्भ में जैनधर्म का पालन करते थे, पीछे किसी कारणवश वैदिक या बौद्धधर्म का पालन करने लगे। ऐसे राजाओं के सिक्कों में कई प्रकार की धर्म-भावनाएँ मिलती हैं। जब तक ये वैदिकधर्म या बौद्धधर्म का पालन करते रहे, उस समय तक की मुद्राओं में इन्होंने वैदिक या बौद्ध धर्म की भावना को व्यक्त किया है। जैन धर्मानुयायी बन जाने पर उत्तरकालीन मुद्राओं में जैनधर्म की भावना को प्रतीकों द्वारा प्रकट किया है। इसी प्रकार जो प्रारम्भ में जैन थे, उन्होंने उस समय में चलाई मुद्राओं में जैन भावना और उत्तर काल में धर्म परिवर्तन कर लेने पर उस परिवर्तित धर्म की भावना को व्यक्त किया है। उन विदेशी सिक्काओं में भी जैनधर्म के प्रतीक मिलते हैं, जिन देशों में जैनधर्म के प्रचारकों ने वहाँ के राजाओं को अपने धर्म में दीक्षित कर लिया था।

भारत में अब तक के प्राप्त सिक्को में लीडिया देश के सोने और चाँदी से मिश्रित श्वेत धातु के सिक्के सबसे प्राचीन हैं। इन सिक्कों को भारत में माल खरीदने के लिये वहाँ वाले यहाँ लाये थे। कई वर्ष हुए पंजाब के वन्नु जिले में सिन्धु नदी के पश्चिमी तट पर लीडिया के राजा क्रीसस का सोने का एक सिक्का मिला है। रंगपुर जिले के सद्यः पुष्पकारिणी नामक गाँव के प्रसिद्ध जमीन्दार श्रीयुत् मृत्युञ्जय राय चौधरी ने यह सिक्का खरीद लिया है। इस सिक्के में एक ओर एक वृषभ और एक सिंह का मुँह बना है तथा दूसरी ओर एक छोटा और एक बड़ा पंच मार्क चिन्ह अंकित है।

| According to Herodotus the earliest stamped money was made by the Lydians—Coins of Ancient India P. 3

उपर्युक्त सिक्के में अंकित प्रतीक वृषभ और सिंह का सम्बन्ध जैनधर्म की धार्मिक भावना से है; क्योंकि सिक्का निर्माता ने अपने प्रिय धर्म के इस युगीन प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ के चिन्ह वृषभ (साँड) तथा अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के चिन्ह सिंह को अंकित कर आदि तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकर के प्रति भक्ति अभिव्यक्त की है। जैनग्रन्थों से विदित भी होता है कि यूनान, रोम, मिस्र, ब्रह्मा, श्याम, अफ्रीका, सुमात्रा, जावा, बोर्नियों आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार ईस्वी सन् से कई शताब्दि पहले ही वर्तमान था। अतएव क्रीसस का अहिंसा धर्म का पालक होना असंभव नहीं है।

रैप्सन ने अपने 'भारतीय सिक्के' नामक ग्रन्थ और रायल एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका के अनेक निबन्धों में भारतीय यूनानी राजाओं के सिक्कों का विवरण उपस्थित किया है। इस विवरण से प्रतीत होता है कि यूनानी अनेक राजाओं पर जैनधर्म का पूर्ण प्रभाव था; इसी कारण उन्होंने अपने सिक्कों में जैन प्रतीकों को स्थान दिया। अयिलिप^२ के दस प्रकार के चाँदी के सिक्के मिले हैं, जो सबके सब गोलाकार हैं। इनमें कई सिक्कों पर जैन प्रतीक नहीं हैं। किन्तु इसके ताँबे के सात प्रकार के सिक्कों में से दूम्रे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए हरक्यूलस की मूर्ति, दूमरी ओर अश्व की मूर्ति है। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर अश्व के बदले में वृषभ की मूर्ति है, चौथे प्रकार के सिक्कों पर वृषभ के स्थान पर हाथी की मूर्ति है। पाँचवें प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्ति और दूसरी ओर वृषभ की मूर्ति है।

The earliest coinage, of the ancient world would appear chiefly to have been of silver and electrum; the latter metal being confined to Asia Minar, and the former to Greece and India. Some of the Lydian Staters of pale gold may be as old as Gyges. Ibid, P. 19

1 Notes on Indian Coins and Seals, Journal of the Royal Asiatic Society, 1900—5, Coins of the Greco-Indian Sovereigns, Agathocleia and Strato, Soter and Strato II Philopator.

Numismatic Notes and Novelties, Journal of the Asiatic Society of Bengal—Old series, I, 1890

2 Catalogue of Coins in the Punjab Museum, Lahore Vol. I, P 139, Nos 361-62

Connigham's Coins of Ancient India Vol. I, P. 50, इसकी जैनधर्म के प्रति-भ्रदा थी—देखें संक्षिप्त जैन इतिहास भाग ३ खंड २ पृ० १३

उपर्युक्त अयिलिष के ताँबे के सिक्कों में जैन प्रतीकों का उपयोग किया गया है। अश्व तृतीय तीर्थंकर भगवान् मंभवनाथ का चिन्ह है, वृषभ प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का चिन्ह है तथा द्वार्थी द्वितीय तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ का चिन्ह है। इस राजा के चाँदी के सिक्कों पर एक भी जैन प्रतीक अंकित नहीं है, ताँबे के सिक्कों में तीन-चार प्रकार के सिक्के जैन प्रतीकों से युक्त हैं, इससे प्रतीत होता है कि यह राजा प्रारम्भ में जैन धर्मानुयायी नहीं था। उत्तरकाल में किसी जैन श्रमण के प्रभाव से अहिंसा धर्म का अनुयायी बन गया था। वास्तविक बात यह है कि शक राजाओं में कई राजा जैनधर्म का पालन करते थे।

इस्वी सन् से पूर्व पहली और दूसरी शताब्दी के उज्जयिनी के ताँबे के सिक्कों पर एक और वृषभ और दूसरी ओर सुमेरु पर्वत अंकित हैं^१। इन सिक्कों में स्पष्टतः जैन प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। वृषभ से आदिम तीर्थंकर की भावना और सुमेरु पर्वत से विशाल विश्व की भावना अभिव्यक्त की गयी है। जनागम से सुमेरु को इस पृथ्वी का केन्द्र बिन्दु माना है। प्राचीन हस्तलिखित कतिपय ग्रन्थों के अन्त में सुमेरु पर्वत ग्रन्थ समाप्ति के अनन्तर अंकित किया गया है। इस भावना का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य, चन्द्र नित्य सुमेरु की प्रदक्षिणा किया करते हैं, उसी प्रकार यह जैनधर्म 'यावच्चन्द्रदिवाकरो' स्थित रहे। सुमेरु की रचना के सम्बन्ध में भी कई विधियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ सिक्कों में तीन चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर कुछ में छः चिपटे शून्यों का ढेर और कुछ में नौ चिपटे शून्यों का पर्वताकार ढेर है। तीन शून्य रत्नत्रय के प्रतीक, छः शून्य षट् द्रव्य के प्रतीक और नौ शून्य नवपदार्थ के प्रतीक हैं। इस प्रकार सुमेरु की विभिन्न आकृतियों में जैन भावना को विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया गया है। वैदिक या बौद्धधर्म में सुमेरु को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है, जितना जैनधर्म में। यही कारण है कि प्राचीन लिपिकारों ने ग्रन्थ समाप्ति में सुमेरु की आकृति अंकित की है।

जनपद और गणराज्यों के प्राप्त सिक्कों में कुछ सिक्के उदुम्बर जाति के माने जाते हैं। स्मिथ साहब ने ताँबे और पीतल के बने हुए बहुत से छोटे-छोटे गोलाकार सिक्कों को उदुम्बर जाति के सिक्के माना है^२। उनका कहना है कि दो प्रकार के ताँबे के सिक्कों पर उदुम्बर जाति का नाम लिखा मिलता है। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक

1 Coins of Ancient India P. 14; Indian Museum Coins Vol 1, P. 154-155, No, 29, 30, 34; P. 155 No 35.

2 Coins of Ancient India P. 88

ओर हाथी, घेरे में बोधि वृक्ष और नीचे एक साँप है। दूसरी ओर दो तल्ला या तीन तल्ला मन्दिर स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र हैं^१ !

निश्चय ही ये पहली प्रकार के सिक्के किसी जैन धर्मानुयायी उदम्बर जाति के राजा के हैं। इन मुद्राओं में अंकित धर्म भावना जैनधर्म की है। हाथी द्वितीय तीर्थंकर का लाञ्छन और बोधि वृक्ष फेवलज्ञान प्राप्त करने का संकेत है अथवा भगवान के आठ प्रतिहारों में से पहला प्रातिहार्य है^१। नीचे साँप अंकित है, वह तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का चिह्न है। अतः मुद्रा की प्रथम पीठिका जैन संकेतों से युक्त है। दूसरी पीठिका में जो मन्दिर स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र बताये गये हैं, वे भी जैन प्रतीक हैं। मन्दिर के स्तम्भ के ऊपर स्वस्तिक और धर्मचक्र अंकित करने की प्रणाली आज भी जहाँ-तहाँ पायी जाती है। स्वस्तिक को जैनधर्म में मंगलकारी माना गया है, कहीं-कहीं स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक भी स्वस्तिक को माना है। जो व्यक्ति इसे स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक मानते हैं, वे इसका अर्थ सु = समस्त, अस्ति = स्थिति, क = प्रकट करनेवाला अर्थात् समस्त संसार को समस्त वस्तुओं को वास्तविक स्थिति प्रकट करने की सामर्थ्य स्याद्वाद दर्शन में है, अतः स्वस्तिक स्याद्वाद दर्शन का प्रतीक है। प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों में ग्रन्थ आरम्भ के पहले स्वस्तिक चिह्न तथा ग्रन्थ समाप्त करने पर भी स्वस्तिक चिह्न मंगल-सूचक होने के कारण दिया गया है।

स्वस्तिक में जैन मान्यतानुसार जीवन की भी अभिव्यञ्जना वर्तमान है। स्वस्तिक के किनारेदार चारों छोर चार गतियों के प्रतीक हैं। जीव अधर्म—स्वभाव बहिर्मुख होने के कारण नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव गतियों में परिभ्रमण करता है, जब यह धर्म—स्वस्वभाव में स्थिर हो जाता है तो प्रसु बन जाता है। धर्म स्वभाव का द्योतक स्वस्तिक में मध्य केन्द्र बिन्दु माना है और अधर्म का द्योतक मध्य बिन्दु से हटकर कोई भी स्थान है, जो बन्ध का कारण है। जैनमान्यता में स्वस्तिक को प्रत्येक

1 Journal of Proceedings of the Asiatic society of Bengal, Vol X. Numismatic supplement, No XXIII P., 247. Coins of Ancient India P. 68

२ उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख —

माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।

स्यष्टोल्लसकिरणमस्ततमोवितानं —

विभ्यं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्ति ॥—भक्तामर स्तोत्र पद्य सं० २८

शिल्प ग्रन्थ, मुद्रा आदि में अंकित इसलिये किया गया है कि जीव अपने स्वभाव को पहचान कर चतुर्गति के परिभ्रमण से छुटकारा पा सके।

धर्मचक्र जैन संस्कृति का प्रमुख प्रतीक है, ' इसकी गणना अर्हन्त के अतिशयोक्ति में की गयी है। प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ प्रवर्तनकाल में धर्मचक्र आगे चलता है। जैन साहित्य में बताया गया है कि प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने तक्षशिला में इसका प्रवर्तन किया था। प्राचीन जैनागम में धर्मचक्र का अनेक स्थानों पर उल्लेख आया है, यह योजन प्रमाण सुविस्तृत सर्वरत्न मय होता है। कुषणकाल से लेकर मध्यकाल तक की जैन प्रतिमाओं के नीचे धर्मचक्र का चिह्न अवश्य रहा है। अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपर्युक्त उदम्बर जाति का सिक्का जैन है: उसमें अंकित सभी प्रतीक जैन हैं। जैनधर्म का श्रद्धालु राजा ही इस प्रकार की मुद्रा प्रचलित कर सकता है। प्राचीन गणतन्त्र भारत में अनेक जनपदीय शासक जैनधर्म का पालन करते थे ? ।

मालव जाति के कई सिक्के जैन हैं; इस जाति के आठ प्रकार के सिक्के अबतक उपलब्ध हुए हैं * । द्वितीय उपविभाग के सिक्कों के एक ओर अशोक वृक्ष, दूसरी ओर कलश है * । तीसरे उपविभाग के सिक्कों पर पहली ओर घेरे में अशोक वृक्ष और दूसरी ओर कलश है * । ऐसे सिक्के दो प्रकार के हैं— चौकोर और गोलाकार। चौथे उपविभाग के सिक्के चौकोर हैं, इन पर दूसरी ओर सिंह मूर्ति है। पाँचवें उपविभाग के सिक्कों पर दूसरी ओर वृषभ है। ये भी गोलाकार और चौकोर हैं। कारलाइल ने इस जाति के चालीस राजाओं के नामों के सिक्के दूढ़े हैं, परन्तु आजकल २० राजाओं के ही सिक्के मिलते हैं। इन बीस राजाओं में यम, मय और जायक जैनधर्म के श्रद्धालु थे। यम ने आचार्य सुधर्म के संघ में जाकर जैन दीक्षा ग्रहण की थी।

यौधेय जाति के सिक्के साधारणतः तीन भागों में विभक्त हैं * । प्रथम विभाग

१ देखें—श्रीजैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग १७ किरण १ पृ० ५६-६० तथा Baranett, Antiquities of India P. 253

२ जैनिज्म इन नार्थ इंडिया पृ० ७९-१४६ प्रकरण जैनिज्म इन रायल फेमिली

3 Indian Museum Coins Vol. I, P. 170-171, Nos. 1-11

४ प्राचीन मुद्रा पृ० १४५

5 Indian Museum Coins Vol. I, P. 171, Nos 12-13, 14-22

6 Indian Museum Coins Vol. I, P. 165; Coins of Ancient India

के सिक्के सबसे प्राचीन हैं, और ये ही सिक्के जंत हैं। इन सिक्कों पर एक ओर वृषभ और स्तम्भ एवं दूसरी ओर हाथी और वृषभ हैं। पहली ओर ब्राह्मी अक्षरों में "यथेयन (योधेयानां)" लिखा है^१। शेष दो विभाग के सिक्कों पर जैन प्रतीक नहीं हैं। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि योध्यैय जाति के राजा पहले जैनधर्म पालते थे, पीछे भागवत धर्म में दीक्षित हो गये थे; क्योंकि द्वितीय और तृतीय विभाग के सिक्कों में भागवत धर्म की भावना अंकित है।

यद्यपि गुप्तवंश के कई राजा जैनधर्म के श्रद्धालु थे, परन्तु इस वंश के प्राप्त सिक्कों में जैन प्रतीकों का प्रायः अभाव है। इसका प्रधान कारण यही है कि गुप्तवंश के राजा कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, इसलिये उन्होंने अपनी धर्म भावना की अभिव्यक्ति के लिये ब्राह्मण धर्म के प्रतीकों को ही प्रदर्शित किया है। यद्यपि जैन इतिहास में ऐसे अनेक उल्लेख वर्तमान हैं, जिनसे गुप्तकालीन जैन साहित्य और जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति प्रकट होती है। असल बात यह है कि ब्राह्मण धर्मानुयायी होते हुए भी गुप्तवंश के राजाओं ने सभी धर्मों को प्रश्रय दिया था।

ईस्वी सन् की पहली शताब्दी में मानव और सौराष्ट्र में महात्तत्रप उपाधिधारी शक राजाओं ने राज्य स्थापित किया था। इस उपाधिधारी राजाओं में दो वंश के राजाओं का प्रमुख प्रवातक्षर से सौराष्ट्र पर रहा है। पहले राजवंश के कुषण साम्राज्य स्थापित होने से पहले और दूसरे राज्यवंश ने कुषण राजवंश के साम्राज्य के नष्ट होने के समय सौराष्ट्र पर अधिकार किया था। प्रथम राजवंश में केवल दो राजाओं के सिक्के मिलते हैं। पहले राजा का नाम भूमक था। इसके दो ताँबे के सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उन पर एक ओर मिंद्र की मूर्ति, दूसरी ओर चक्र; तथा एक ओर खरोष्ठो अक्षरों में "ब्रह्मदास क्षत्रपस भूमकस" और दूसरी ओर ब्राह्मी अक्षरों में "क्षयरातस क्षत्रपस भूमकस" लिखा है^२।

उपर्युक्त सिक्कों में जैन प्रतीक अंकित हैं, अतएव यह मानना असंगत नहीं कहा जा सकता है कि भूमकस जैन था। इस राजा का उत्तगधिकारी क्षत्रप नहपान बताया गया है। जिनसेनाचार्य ने इसका उल्लेख नरवाह नाम से किया है, इसका राज्यकाल ४२ वर्ष लिखा है। अनुमानतः यह ई० पू० ५८ में राज्याधिकार

१ राखालादास वन्द्योपाध्याय की प्राचीन मुद्रा पृ० १४६; Rodgers Catalogue of Coins, Lahore museum.

2 Rapson, Catalogue of India Coins in the British museum, Andhras, Western Ksatrapas etc. pp. 63-64, Nos 257-42

हुआ था ^१ । जैन शास्त्रों में इसका उल्लेख नरवाहन, नरसेन, नहवाण आदि रूपों में किया गया है^२ । इसका एक विरुड भट्टारक आया है, जिससे इसका जैन होना स्वतः सिद्ध है ^३ । नहपान के सिक्के वटुलता में अभी तक नहीं मिले हैं। कनिधम साहब को इस राजा का तंबे का एक सिक्का मिला था। इस पर एक ओर वज्र और ब्राह्मी अक्षरों में नहपान का नाम तथा दूसरी ओर घेरे में अशोक वृक्ष है। अतएव भूमिकस और नहपान के सिक्के जैन हैं।

नहपान के राजत्व काल के अन्तिम वर्षों में आन्ध्रवंशी गोतमीपुत्र शातकर्णी ने शकों के पहले जत्रप वंश का अधिकार नष्ट कर दिया था और नहपान के चाँदी के सिक्कों पर अपना नाम लिखवाया था। ऐसे सिक्कों पर एक ओर सुमेरुपर्वत और उसके नीचे सौंप तथा ब्राह्मी अक्षरों में “राजो गोतमि पुत्रस सिग्गि मान कणिस” लिखा है। दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इस राजा ने स्वयं अपने भी सिक्के बनवाये थे; इन सिक्कों पर इसने एक ओर राजा का मुख और ब्रह्मी अक्षरों में “राजो गोतमिपुनसमिग्गियञ्जसातकणिस” लिखा है। दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न सुमेरु पर्वत, सौंप और दक्षिणात्य के ब्राह्मी अक्षरों में…………… ‘एष गोतम पुत्रष हिसयञ्ज हातकणिस’ लिखा है ^४ ।

गोतमीपुत्र शातकर्णी के सिक्कों में जैन प्रतीक हैं। यह राजा पहले वैदिकधर्मानुयायी था, परन्तु अपने पिछले जीवन में इसने जैनधर्म ग्रहण कर लिया था ^५ । नासिक के शिवालेख में इसे अशिक, अरमक, मूलक, मुराष्ट्र, कुकुर, अपरान्त, अनूप विदर्भ और अकरावन्ती का शासक बताया है। इसका राज्यकाल ई० १००-४४ है। इसका जैन गृहस्थ के व्रतों को पालन करने का भी उल्लेख मिलता है।

दक्षिणापथ के सिक्कों में आन्ध्रजातीय राजाओं के सिक्के सबसे पुराने हैं। किसी समय आन्ध्र राजाओं का साम्राज्य नर्मदा नदी के दक्षिणी किनारे से समुद्रतट तक था। इसलिये मालव, सोराष्ट्र, अपरान्त आदि भिन्न-भिन्न देशों में भी आन्ध्र राजाओं ने भिन्न-भिन्न सिक्के प्रचलित किये थे। आन्ध्र देश— कृष्णा और गोदावरी

1 Journal of the Bihar and Orissa Research Society Vol. 16, P. 289

२ राजपूताने का इतिहास भाग १ पृ० १०३

३ भरुयच्छेणयरे नहवाहणो राया कोससमिद्धो—आवश्यकसूत्र भाष्य।

4 Rapson British Museum Coins P. 68—70 Nos 253-54, P. 45, N. 178

५ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० ६१-६६

नदी के बीच के प्रदेश में दो प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं। ये दोनों प्रकार के सिक्के पुडुमावि, चन्द्रशाति, श्रीयज्ञ और श्रीरुद्र आदि राजाओं ने प्रचलित किये थे। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सुमेरु पर्वत और दूसरी ओर उज्जयिनी नगरी का चिह्न है। इन सिक्कों के निर्माता वाशिष्ठी पुत्र श्री पुडुमावि, वाशिष्ठी पुत्र श्रीशातकर्णि वाशिष्ठी पुत्र श्री चन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और रुद्रशातकर्णि हैं^१।

दूसरी प्रकार के सिक्के पर एक ओर घोड़ा, हाथी अथवा दोनों की मूर्तियाँ तथा दूसरी ओर सिंह की मूर्ति है। ये सिक्के श्रीचन्द्रशाति, गोतमीपुत्र श्रीयज्ञशातकर्णि और श्रीरुद्रशातकर्णि के हैं। निश्चय ही ये दोनों प्रकार के सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है^२।

मालव में आन्ध्र राजवंश के कुछ पुराने सिक्के मिले हैं^३। स्वर्गीय पंडित भगवानलाल इन्द्रजी ने अपने एकत्रित किये हुए सिक्के लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम को प्रदान किये हैं^४। इन सिक्कों में दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं। इन पर अंकित लेख का जो अंश पढ़ा गया है, उससे पता चलता है कि ये सिक्के आन्ध्र राजाओं के ही हैं। पहले प्रकार के सिक्के ईरान के पुराने सिक्कों के ही समान हैं। कनिधम ने लिखा है कि इस प्रकार के सिक्के पुरानी विदिशा नगरी (बेसनगर) के खंडहरों में बेस तथा बेतवा नदी के बीच मिले हैं^५। इसी कारण रैप्सन ने अनुमान किया है कि ये सभी सिक्के पूर्व मालव के हैं। इन सिक्कों को चार विभागों में बाँटा जा सकता है। पहले विभाग के सिक्के पोटिन के बने हैं, इन पर एक ओर घेरे में बोधिवृत्त, उज्जयिनी नगरी का चिह्न, वृषभ और सूर्य चिह्न अंकित हैं। दूसरी ओर हाथी और स्वस्तिक चिह्न हैं^६। दूसरे विभाग के सिक्के ताँबे के हैं; इन पर एक ओर हाथी की मूर्ति और दूसरी ओर घेरे में बोधिवृत्त (अशोकवृत्त) और उज्जयिनी नगरी के चिह्न हैं। तीसरे विभाग के सिक्कों पर पहली ओर सिंह

1 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas etc. p. 1 XXII

2 Rapson, Catalogue of Indian Coins Andhras, W. Khatrapas, etc. p. 1 XXIV; प्राचीन मुद्रा पृ० २१४

3 Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Vol. XIII, 10. 311

4 Rapson, British Museum Coins p. XCVI.

5 Cunnigham's Coins of Ancient India, p. 99

6 Rapson, British Museum Coins P. 3, Nos 5-6-7-8-9-11

की मूर्ति और वृषभ चिन्ह तथा दूसरी ओर बोधिवृत्त और उज्जयिनी नगरी के चिन्ह हैं। ये तीसरे विभाग के सिक्के भी ताँबे के हैं। चौथे विभाग के सिक्के पोटिन के बने हुए हैं। इन पर पहली ओर सिंह की मूर्ति और स्वस्तिक चिन्ह हैं तथा ब्राह्मी अक्षरों में “रञ्जो सातकणिस” लिखा है। दूसरी ओर वृषभ, उज्जयिनी नगरी का चिन्ह और घेरे में बोधिवृत्त हैं।

उपर्युक्त सिक्कों में अंकित धार्मिक भावना स्पष्टतः जैन है। सूर्य को जैन संस्कृति में केवलज्ञान का प्रतीक माना गया है। अतएव उपर्युक्त सिक्कों को निस्सन्देह जैन माना जा सकता है। जो राजा अर्धस्वतन्त्र थे, उज्जयिनी के आधीनस्थ थे, वे अपने सिक्कों में उज्जयिनी चिन्ह अंकित करते थे। अतएव आन्ध्र देश में मिले हुए जिन सिक्कों पर सुमेरुपर्वत, उज्जयिनी, सर्प, सिंह, वृषभ, हाथी, बोधिवृत्त, स्वस्तिक, कलश अंकित हैं, वे सिक्के निश्चय जैन हैं।

पल्लव राजाओं के प्राप्त सिक्कों में; जिन पर सिंह का चिन्ह और संस्कृत तथा कन्नड़ भाषा में कुछ लिखा मिलना है, वे सिक्के भी जैन हैं। इस वंश का राजा महेंद्रवर्मन् जैनधर्मानुयायी था।

ईस्वी सातवीं शती के उदारान्त चालुक्यवंशी राजा दो भागों में विभक्त हो गये थे। पूर्व की ओर चालुक्य राजा कृष्णा और गोदावरी नदी के बीच के प्रदेश में राज्य करते थे और पश्चिम ओर चालुक्य राजाओं का राज्य दक्षिणापथ के पश्चिम प्रान्त में था। इन राजाओं के सिक्के सोने और चाँदी के मिलते हैं। इन सिक्कों की धार्मिक भावना यद्यपि वैदिक ही है, परन्तु जैन संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस वंश का प्राचीन लेख धारवाड़ जिले के आदुर ग्राम से मिला है, जिसमें राजा कीर्तिवर्मा प्रथम द्वारा नगर सेठ के बनाये जैन मन्दिर को दान देने का उल्लेख है। इस वंश के राजाओं ने जैन गुरुओं को भी दान दिये थे।

कदम्बवंश के प्राप्त सोने के सिक्कों में कमल की भावना अंकित है। इस वंश में मृगेशवर्मा से लेकर हरिवर्मा तक राजा जैनधर्मानुयायी थे। इन्होंने कमल द्वारा मोक्ष-लक्ष्मी की भावना को व्यक्त किया है। जैनों के चौबीस तीर्थकरों में कमल पद्मप्रभु भगवान का चिन्ह है। कमल प्रतीक को रखने का एक अन्य हेतु यह भी है कि लौकिक दृष्टि से यह उत्साह, आनन्द, स्फूर्ति और कार्यपरायणता का द्योतक है। कदम्बवंश के राजाओं की मुद्राओं में इसीलिये दो प्रकार के चिन्ह मिलते हैं, कि उनमें आदिम कई राजा वैदिक धर्मानुयायी थे। इस वंश के जो राजा वैदिकधर्म

का पालन करते थे उनके सिक्कों में वराह अवतार अथवा लक्ष्मी की मूर्ति मिलती है। जैन राजाओं ने अपनी धर्मभावना की अभिव्यक्ति के लिये कमल को प्रतीक चुना था।

यादव वंशी राजाओं के राज्य देवगिरि और मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में थे। देवगिरि में राज्य करनेवाले राजाओं के सोने, चाँदी और ताँवे के सिक्के मिले हैं, परन्तु इन सभी सिक्कों पर हिन्दू धार्मिक भावना का प्रतीक गरुड़ अंकित किया गया है।

मैसूर के द्वारसमुद्र नामक स्थान में भी इम वंश के राजाओं के सोने और ताँवे के सिक्के मिले हैं। सोने के सिक्कों पर एक ओर सिद्ध की मूर्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है। ताँवे के सिक्कों पर एक ओर हाथी की मूर्ति और दूसरी ओर कन्नड़ लेख है। इस स्थान के यादववंशी राजाओं के सिक्कों पर नाम के बदले में उपाधि मिलती है; जैसे—श्रीतलकाडु गोण्ड अर्थात् तलकाडु विजयी। उपर्युक्त द्वारसमुद्र से प्राप्त सिक्के जैन हैं; क्योंकि इनमें जैन प्रतीकों का व्यवहार किया गया है।

बरंगल के काकतीय वंश के राजाओं के सोने और ताँवे के सिक्के मिले हैं। इन पर एक ओर वृषभ का चिन्ह है और दूसरी ओर कन्नड़ी अथवा तेलगू भाषा का लेख है। ये सिक्के भी जैन हैं।

दक्षिणापथ में पाण्ड्य, चेर, राष्ट्रकूट, गंग आदि कई वंश के राजा जैन धर्मानुयायी थे। इन्होंने १२ वीं, १३ वीं और १४ वीं शताब्दी में मुद्राएँ प्रचलित की थीं। इन राजाओं की मुद्राओं पर भी जैन प्रतीक मिलते हैं। वास्तव में दक्षिणापथ में जैनधर्म का प्रचार कई शताब्दियों तक जोर से रहा है। इस धर्म ने राजाश्रय पाकर अपनी उन्नति की थी। अनेक राजाओं ने जैन गुरुओं को दान दिये थे।

मिहिर कुल के प्राप्त सिक्कों में दो प्रकार के ताँवे के सिक्के प्रधान हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर राजा का मत्सरु और उसके मुँह के पास 'श्रीमिहिर कुल; अथवा 'श्रीमिहिरगुप्त' लिखा है। दूसरी ओर ऊपर खड़े हुए वृषभ की मूर्ति है और उसके नीचे 'जयगुप्त' लिखा है। ये पहले प्रकार के सिक्के जैन हैं। द्वितीय प्रकार के सिक्कों पर एक ओर खड़े हुए राजा की मूर्ति और उसके बगल में

1 Elliott's South Indian Coins p. 152, Nos 87-89½; 90-91

2 प्राचीन मुद्रा २२६; South Indian coins p. 152 Nos 93-95

3 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 337 Nos 1.

एक ओर 'पाहिसिद्धिकुल' लिखा है। दूसरी ओर सिंहासन पर पद्मावती की मूर्ति है^१। सिद्धिकुल के ये सिक्के तोरमाण के सिक्कों पर बने हुए हैं^२। हमारा अनुमान है कि यह तोरमाण जैनाचार्य हरिगुप्त का प्रशिष्य और देवगुप्त का शिष्य था^३। यही कारण है कि सिद्धिकुल के सिक्कों में जैनधर्म की भावना अंकित की गयी है।

उत्तराखण्ड के मध्ययुगीन सिक्कों में उद्भागुडपुर में शाही राजवंश के पाँच राजाओं के सिक्के मिले हैं। पहले प्रकार के सिक्कों पर एक ओर वृषभ और दूसरी ओर घुड़सवार की मूर्ति है। दूसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिद्ध की मूर्ति है^४। तीसरे प्रकार के सिक्कों पर एक ओर सिंह और दूसरी ओर मयूर की मूर्ति है। हाथी और सिंह की मूर्तिवाले सिक्कों पर 'श्रीपद्म', 'श्रवणदेव' और 'श्रीसामन्तदेव' नाम मिले हैं। हाथी और सिंह की मूर्तिवाले सिक्के निश्चय जैन हैं। इन सिक्कों पर जैन भावना का प्रभाव है।

गुजरात में कुमारपाल और अजयपाल के सिक्के अधिक संख्या में मिले हैं^५। ये चालुक्यवंशी राजा थे^६। अनामिक राज में अजयपाल के राज्यकाल का वि० सं० १-२६ का खुदा हुआ एक शिला लेख मिला है^७। इसी जगह कुमारपाल के राज्यकाल में वि० सं० १२२० का एक शिलालेख खुदा है। इसका अन्य शिलालेख मेवाड़ राज्य के चित्तौर में वि० सं० १२०७ का खुदा हुआ मिला है^८। कुमारपाल का अजयपाल पुत्र था^९। कुमारपाल ने आचार्य हेमचन्द्र से जैन धर्म की दीक्षा ली थी। इन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिये अनेक प्रयास किये थे शत्रुंजय और गिरनार की यात्रा के लिये संघ निहालकर संघपति की उपाधि ग्रहण की थी और अनेक जैन मन्दिर भी बनवाये थे^{१०}।

1 Indian Museum coins Vol 1, P. 337 Nos 1.

2 Indian Coins P. 30

३ जैन माहिल्यनी इतिहास पृ० १३२

4 Indian Museum Coins Vol. 1, P. 243, 246-248, No. 1-5

5 Indian Coins P. 31

६ संक्षिप्त जैन इतिहास द्वितीय भाग, द्वितीय खंड पृ० १२६

7 Indian Antiquary Vol. XVIII, P. 347

8 Epigraphia Indica, Vol. II P 422

9 Epigraphia Indica, Vol. VII, App. 1 p. 14

१० बम्बई प्रान्त के जैन स्मारक पृ० २१० तथा संक्षिप्त जैन इतिहास द्वि० भा० खं० २ पृ० १३३

कुमारपाल के सिक्के उद्भाण्डपुर के शाही राजाओं के सिक्कों के ढंग पर मिश्र धातु के हैं। इनमें एक ओर सिंह तथा दूसरी ओर हाथी की मूर्ति है। अजयपाल कट्टर वैदिक धर्मानुयायी था, पर इसके सिक्के भी कुमारपाल के ही समान हैं। इस प्रकार अनेक सिक्के जैन हैं, अन्वेषणशील विद्वानों को इस ओर ध्यान देना चाहिये।



विक्रिष-विषय

[ले० श्रीयुत पं० माधवराज शास्त्री, न्यायतीर्थ]

नेमिचन्द्रिका—

हिन्दी जैन कवियों में कवि मनरंगलाल का महत्वपूर्ण स्थान है। आपने चौबीसीपाठ, सप्तर्षिपूजा, सप्तत्रयसनचरित्र, नेमिचन्द्रिका और शिखिर-सम्मोदाचल-माहात्म्य आदि ग्रन्थों का निर्माण हिन्दी भाषा में किया है। श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा के हस्तलिखित ग्रन्थागार में सं० १८९५ को लिखी हुई 'नेमिचन्द्रिका' की एक प्रति उपलब्ध हुई है। इस प्रति के लिपिकार श्री रघुनाथ द्विज हैं, तथा यह प्रतिलिपि पट्टनपुर में की गयी है। नेमिचन्द्रिका पद्यबद्ध रचना है, इसमें ४८६ पद्य हैं।

यह एक खण्डकाव्य है। कविने इसमें दोहा, चौपई, भुजंगप्रयात, नाराच, सोरठा, अडिल्ल, गीता, छप्पय, त्रोटक, पद्धरी आदि छन्दों का प्रयोग किया है। पिंगलशास्त्र की दृष्टि से इनके सभी छन्द प्रायः शुद्ध हैं, गणदोष, पददोष, वाक्यदोष, यतिभंग आदि का अभाव है। एकाग्र स्थल पर लिपिकार की असावधानी के कारण छन्दोभंग प्रतीत भी होता है; परन्तु कवि ने वास्तव में यह त्रुटि नहीं की है।

इसकी भाषा कन्नौजी से प्रभावित खड़ी बोली है। यों तो भाषा में कोमल-कान्त-पदावली का प्रयोग सर्वत्र पाया जाता है। सानुप्रास, प्रसादगुण से अलंकृत एवं परिष्कृतपना इनकी भाषा के विशेष गुण हैं। करुणारस के वर्णन में शब्द स्वयं करुणा का मूर्तिमानरूप लेकर प्रस्तुत हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं करुणा ही शब्दों का रूप धारण कर प्रादुर्भूत हुई है। प्रसंगानुसार भाषा का स्वरूप परिवर्तित होना इनकी विशेषता है।

कविने अपने कलापत्र को पुष्ट करने के लिये अलंकारों का भी सुन्दर ढंग से प्रयोग किया है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का ही प्रयोग पाया जाता है। शब्दालंकारों में प्रधानतः अनुप्रास^१, यमक आदि और अर्थालंकारों में उत्प्रेक्षा^२, रूपक, उपमा^३, आदि विशेष रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

१ यहाँ और को काको रक्षै, निज कन्धा धरि धीर ।

२ दुःख सों भरी देह घट छटा । जनु वरषत अति दीरघ छटा ।

३ बालघन्र जिमि कुवर वपु, वदत महा सुख कंद ।

रस का परिपाक भी इसमें रमशास्त्र के निगमानुसार हुआ है। कवि ने प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव और संधारी भावों का सुन्दर विश्लेषण किया है। शान्तरस, वात्सल्यरस, करुणरस और विप्रलम्भशृङ्गार रसों का वर्णन मुख्य रूप से किया गया है। सीमित मर्यादा में स्वस्थ वानावरण को उपस्थित करने वाला विप्रलम्भशृङ्गार विशेष रूप से राजुल के विलाप वर्णन में आया है।

कथावस्तु निम्न है—

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के अन्तर्गत सौराष्ट्र देश में द्वारावती नाम की नगरी थी। इस नगरी में राजा समुद्रविजय राज्य करते थे। ये बड़े धर्मात्मा, पराक्रमशाली और शूरवीर थे। इनकी रानी का नाम शिवदेवी था। इनके पुत्र का नाम नेमिकुमार रखा गया। नेमिकुमार बचपन से ही होनहार, धर्मात्मा और पराक्रमशाली थे। इन्हीं के वंशज कृष्ण, बलभद्र थे। ये बड़े पराक्रमशाली और शूरवीर थे। कृष्ण ने अपने भुज-बल द्वारा कंस, शिशुपाल और जरासंध जैसे दुर्दमनीय राजाओं का क्षण भर में मंहार कर दिया था। इनके सोलह हजार रानियाँ थीं, जिनमें आठ रानियाँ पट्ट महिषी के पद पर प्रतिष्ठित थीं। एक समय नेमिकुमार के पराक्रम को सुनकर कृष्ण के मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई तथा इन्होंने उनकी शक्ति की परीक्षा करने के लिये उनको अपनी सभा में आमन्त्रित किया। नेमिकुमार यथासमय कृष्ण की सभा में उपस्थित हुए और अपनी कनिष्ठा अंगुली पर जंजीर डालकर कृष्ण आदि को झुला दिया। कृष्ण को बहुत आश्चर्य हुआ। फलतः उन्होंने अपनी पटरानियों को नेमिस्वामी के घेर भेजा। रानियों ने चारों तरफ से नेमिस्वामी को घेर लिया और विवाह करने के लिये प्रतिज्ञा-बद्ध किया। कृष्ण ने नेमिस्वामी का विवाह भूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन्या राजुलमती से निश्चित कराया। वहाँ पर इन्होंने अपनी कूटनीति से पशुओं को पहले से कैद करवा दिया था। जिससे नेमिस्वामी के मयवरात के वहाँ पहुँचने पर अग्योनी के पश्चान् टीका को जाते समय पशुओं की चीत्कार नेमिस्वामी को सुनाई दी। नेमिस्वामी को चीत्कार से वैराग्य उत्पन्न हो गया और इन्होंने पशुओं को कैद से छुड़ाया। दीक्षा ग्रहण कर गिरनार पर्वत पर नेमिस्वामी तपस्या करने लगे। राजुलमती अपने पिता नेमिस्वामी को गिरनार पर्वत पर गया हुआ जान तथा दीक्षा ग्रहण कर तपस्या में संलग्न हैं, समाचार सुनकर विलाप करने लगी। मातापिता के द्वारा बार-बार समझाये जाने पर भी अन्य के साथ विवाह करने को तैयार न हुई। गिरनार पर्वत पर जाकर दीक्षा ग्रहण कर तप तपने लगी। तप के प्रभाव से सोलहवें स्वर्ग में ललितांग नामक देव हुई। नेमिस्वामी आठों कर्मों को नाश कर मोक्ष पधारे।

कवि परिचय—

ग्रन्थान्त में रचयिता ने स्वयं ग्रन्थ रचने के कारणों का विश्लेषण करते हुए अपना परिचय दिया है, जिससे उनके जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

अथ मुनहु मित्र वनाय वकी विधि कौन विधि बनि सो भयो ।

शुभ दे अन्तर वेद मन्ह कान्ह कुञ्ज भलो ठयो ॥

तहों वसौ श्रावक भूरि त्रिकाल जिन पद पूजहीं ।

लसि सव सव मिह परस्पर आनन्द मो मन बूजहीं ॥

तहों पल्लिवार इदवाकवंशी वहे का शिव गोत्रिया ।

जिनदेव शास्त्रमिद्धान्त सुगुरु तीनि जिनके अति प्रिया ॥

शुभ करहि चरचा पठहिं निश दिन भरहिं मरधा जानिकै ।

तिन सवनि मइ इक वसत श्रावक नम कहैं वखनिकै ॥

हुल्लासराय मुनाम तिनको कहत सव जन टेरिके ।

तिनके जुगल सुत भयो भूवर सिद्धि सव अत्र पेरि के ॥

शुभ जेष्ट लाल कनौजि गोविन्दराम नाम कनिष्ठ को ।

तिन शिशुन मइ जो जेष्ट मनरंगलाल नाम कहैं सबै ।

तिन लाल तनरंग के सुमित्र गुमालदस भये तवै ॥

सो प्रानहुँ ते अतिहि वरुलभ सकल गुन की खानि जो ।

जिन भक्ति शास्त्र जिनेश कृत मुनि रुच करत मान जातिजो ॥

न हि रहत छल बल पाम तिनके क्रोध करते ना लग्यो ।

निर्ति देखि जेनी करत बटु विांय जैनधरम मुधा चया ॥

इत्यादि बहुगुणजुत सु खूयालचंद्र तनो सदा ।

इक तीसरी निवमत रहत निश दिन पलक विछुरत ना कदा ॥

तिनके ही हम सो बात या विधि मित्र सूनु चित लयाय के ।

शुभ नेमचन्द्र कि चन्द्रका अथ हमहिं देहु वनाय के ॥

तिन वचन अमिय समान अतिप्रिय सुने आनन्द सो भरे ।

जनु जलधि वरपत मुधा वदन खेत सूदन को खरे ॥

तथ शुभ विचार विचारि चित सो छन्द जह नामा धरे ।

तिन हेन इह शुभ लेश कीन्हो मुनत सकट ही दरे ॥

इह रही जग बल गु विदित बल गुन कनक को भूधरा ।

नभ उदधि जब लग रही भूतल चन्द अवर दिवाकरा ॥

अर्थात्— कन्नौज में श्रावकों का एक समुदाय था, जो अधिकांश अपना समय जिनेन्द्र पूजा, सौद्वान्तिक चर्चा आदि धार्मिक कार्यों में व्यतीत करता था। उस समुदाय में हुल्लासराय नामक श्रावक का भी नाम था। हुल्लासराय प्रायः अपना सारा समय देव, शास्त्र, गुरु के पूजा-पाठ में तथा तत्व-चर्चा में लगाया करते थे। ये इक्ष्वाकुवंशी थे। इनकी जाति 'पल्लीवाल' और गोत्र 'शिव' था। इनके दो पुत्र थे, जिनमें जेष्ठ पुत्र कनौजीलाल और कनिष्ठ गोविन्द्रराम थे। शुभ कर्मोदय से कनौजीलाल को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम मनरंगलाल रक्खा गया। कनौजीलाल को अन्य पुत्ररत्नों का भी प्राप्ति हुई, किन्तु सब में जेष्ठ मनरंगलाल थे। मनरंगलाल के सुयोग्य मित्र गोपालदास थे। इन दोनों में मैत्रीभाव अत्यन्त घनिष्ठ था। गोपालदास जिनेन्द्रदेव, शास्त्र और गुरु में अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। शास्त्र प्रेमी थे। छल-कपट और क्रोध के लिये इनके अन्दर स्थान नहीं था। इनके पिता का नाम खूस्यालचन्द्र था। गोपालदास शास्त्रों का संग्रह करने के लिये हमेशा कटिबद्ध रहते थे। इन्हीं के अनुरोध से तथा इनके वचनों को अमृत समान अत्यन्त प्रिय समझ कर मनरंगलाल ने नेमिनाथ की चन्द्रिका नाम की पुस्तक की रचना जेठ सुदी ११ गुरुवार सं० १८८०, नक्षत्र स्वाति, सूर्य उत्तरायन में पूरी की।

१— मास जेष्ठ शशि पक्ष की एकादश विचारि।

नखत स्वाति गुरुवार दिन, उत्तरायन रविसार ॥१॥

एक सहस्र अक्षु आठ सतक, वरप असीति और।

याही संवत् मां कगी, पूरन इह गुण गौर ॥२॥

पुरयास्रव कथाकोप की प्रशस्ति -

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ-प्रशस्तियों का बड़ा महत्व है। अधिकांश ग्रन्थों में रचयिताओं ने अपने गण, गच्छ, गुरु, परम्परा एवं अपने जीवन का उल्लेख किया है। कई ग्रन्थों की अन्तिम प्रशस्ति में अनेक इतिहासोपयोगी बातें उल्लिखित हैं। दिग्गम्बर साहित्य की ग्रन्थ-प्रशस्तियों का अभी सम्पूर्णा संकलन नहीं हो सका है। यद्यपि जैन सिद्धान्त भवन आरा ने प्रशस्ति-संग्रह प्रथम भाग तथा अभी हाल में दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी से भी प्रशस्ति-संग्रह प्रकाशित हुआ है।

पुरयास्रव कथाकोष की प्रशस्ति में रचयिता ने स्वयं पद्यबद्ध इस अधूरे ग्रन्थ को प्राप्त तथा पूर्ण करने के कारणों का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में पूजादिक छः अधिकार हैं। इन अधिकारों के अन्तर्गत ५६ कथाएँ हैं। आदिपुराण आदि में जिस विषय का प्रतिपादन है, उसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर इस ग्रन्थ का

निर्माण संस्कृत भाषा में रामसेन ने किया है। पं० दौलतराम ने इसका अनुवाद हिन्दी भाषा में किया तथा कथाओं को शृंखलाबद्ध भी। इस बचनिका को पद्यबद्ध करने की इच्छा भावसिंह नामक कवि का हुई। इन्होंने चौपई आदि छन्दों में इस बचनिका को बाँधने का पूर्ण प्रयत्न किया। आयु का अन्त और काल की विचित्रता ने इनके इस कार्य में विघ्न पैदा किया, जिससे इस कार्य को पूर्ण करने में असमर्थ रहे; केवल शीलाधिकार तक ही इस ग्रन्थ को लिख सके। इस अधूरे ग्रन्थ के पुण्य के प्रताप से भैरोसिंह को दर्शन हुए। भैरोसिंह के मन में इसको पूर्ण कराने की उत्कृष्ट इच्छा उत्पन्न हुई। समय का फेर और भैरोसिंह के तीव्र शुभ कर्मोद्भय से इन्हें इस ग्रन्थ के पूर्ण कराने के साधन शीघ्र प्राप्त हो गये। इन्होंने जियराम नामक कवि को इस ग्रन्थ के पूर्ण करने का भार सौंपा। कवि ने इस ग्रन्थ को चैत्र सुदी २ सं० १७९२ के शुभ दिन में पूर्ण किया।

पुन्यात्मन यह कथा रिमाल । पूजादिह अधिकार विशाल ॥
 पद अधिकार परम उत्कृष्ट । छपन कथा जास में मीष्ट ॥
 आदिपुराणादिक जे कहा । आंगप्राय तसु यामें लहा ॥
 आचारज जिय धरि अभिलाप । कीनों तास संस्कृत भाष ॥
 तास बचनिका रूप सुधार । दौलतराम कथा बुधसार ॥
 तातैं भावसिंह निज छन्द । अरंभ कियो चौपई बन्द ॥
 शील अधिकार ताई उन जोड़ । भेज दिया लिग्न ना हम ओड़ ॥
 भला कथा हम लखिकै लिग्नो । ताकू काल भावसिंह भख्यो ॥
 भैरोदास पुन्य परकास । देखा ग्रन्थ अधूरा पास ॥
 मो सैं भग्ना सम्पूर्ण करो । अन्त कछू नम नमैं धरो ॥
 मैं भाषा भापू सुखमान । ज्यों कर लगै सम्पूर्ण पुराण ॥
 तब उन कछुक समे में खोज । मां पे भेज दिया ले बोज ॥

॥ दोहा ॥

गूथौ कर्म संजोग तैं, पर सेवा में लीन ।

जा छिन थिरता चित गही, बिन जुत रचना कीन ॥

ग्रन्थ बड़ा मो मति अल्प, ऐसा बना नियोग ।

हास निवारमु सोधियो, बिनउ पंडित लोग ॥

अडिल्ल छन्द

एक हजार सात सै बानवै जानिये । चैत सुदी द्वितीया दिन नीका मानिये ॥
ता दिन पूरो ग्रन्थ कियो जियराज ने । मंगल को सकल शैली समाज ने ॥

चौपई छन्द-- जैमो लिख्यो वचना लिख्ये । तैगं छन्द माहि में रल्यो ॥
जो कहु यामें परे सन्देह । जो तामें देख्यो धर नेह ॥
याके पढ़ै मिथ्यात मिटाइ । काल लब्धि जो पहुँचै आइ ॥
याके पढ़ै मुने बुधिमान । जिन्हें जिनरानी सरधान ॥
जो जाय धर्म ध्यान रुचि धरै । आगम पढ़न सुनन मन करै ॥
आगम से सम्यक् गुण पाइ । शिग मग पग धरे गिन लाइ ॥

दोहा-- कर्म न भेदा आत्मा, कर्म न भेदा जोइ ।
आत्म पद परमात्मा, निहचै धागे सोइ ॥
जो वाळा शिव पद धरै, राग द्वेष को गार ॥
ममता नहि ममता नतो, कम क्रोध को मार ॥
प्रभु को मुमिरण ध्यान कर, पूजा जाप विधान ।
नि प्रणीत मार्ग विपै, मगन होउ मनिमान ॥

इति पुण्याख्य कथा-कोष भाषा चौपई-रुद्र भावसिंह जियराज कृत ममाप्तं ।

प्रशस्त के अन्त में इस प्रति के लिपिकार का नाम ऋषि हरिचन्द्र है । यह लिपि लाला ललितराम ने करायी । इस प्रति की लिपि पौप वदी ८ रविवार सम्वन् १८४८ में लक्ष्मण पुरी में की गयी है ।

॥ श्री ॥

त्रैलोक्य प्रदीप—

जैनागम में तीनों लोकों का वर्णन करने वाले त्रिलोयपण्यति, त्रिलोकसार, लोकतत्व विभाग आदि कई प्राचीन ग्रन्थ हैं । प्रस्तुत त्रैलोक्य प्रदीप में विस्तार पूर्वक तीनों लोकों का वर्णन किया गया है । यद्यपि इसका विषय त्रिलोकसार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है किन्तु संस्कृत भाषा में गणित प्रदर्शन पूर्वक लोक के गणित का इतना सुन्दर और विस्तार के साथ वर्णन किया गया है, जिससे इस विषय का पूर्ण परिज्ञान हो जाता है ।

इस ग्रन्थ के रचयिता इन्द्रवाम देव हैं । इन्होंने पुरवाडवंशी राजा जोमन के पुत्र नेमिदेव के अनुरोध से इस ग्रन्थ की रचना की है । ग्रन्थ रचयिता ने स्वयं ग्रंथ रचने का कारण बतलाते हुए लिखा है कि--

अस्त्यत्र वंशः पुत्राड्वंशः समस्तपृथ्वीपतिमानिनीयः ।
 त्यक्त्वा स्वकीयां सुरलोकलक्ष्मीं देवाऽपि इच्छन्ति हि यत्र जन्म ॥
 तत्र प्रसिद्धो ऽत्रनि कामदेवः पत्नी च तस्याजनि नामदेवी ।
 पुत्रौ तयोर्जोमनलक्ष्मणायौ बभूवतु राघवलक्ष्मणाविव ॥
 रत्नखनेः शशि जलनिधेरात्मोद्भवः श्रीपतेः ।
 तद्ब्रजजोमनतो बभूव तनुजः श्री नेमिदेवाह्वयः ॥
 यो बाल्ये ऽपि महानुभावचरितः सञ्जैनमार्गैरतः ।
 श्रीगुणभूषणक्रमनतः सम्यक्त्वचूलाकितः ॥
 यस्यागेन जिगाय कर्णानृपति न्यायेन वाचस्पति ।
 नैर्माल्येन निशापति सत्स्थैर्यभावेन च ॥
 गांभीर्येण सरित्पति मलतति सद्धर्म सद्भावनात् ।
 स श्रीमद्गुणभूषणोन्नति नतो नेमिश्वरं नन्दतु ॥
 तःसत्कारपुरस्कृतेन सललं तज्जैनता दर्शनात् ।
 सन्तुष्टेन तद्दार्जवादि समुणैर्हृष्टेन पुष्टेन च ॥
 तस्य प्रार्थनया सुसंस्कृतवचो बंधेन मन्निर्मितो ।
 ग्रन्थोऽयं त्रि त्रगत्स्वरूपकथनः सत्पुण्यनिर्माणः ॥

अर्थात् — पुरवाड वंश में समस्त राजाओं के द्वारा बंदनीय कामदेव नाम का राजा हुआ था। उनकी पत्नी का नाम नामदेवी था। इनके जोमन और लक्ष्मण नामक दो पुत्र हुए। जोमन का नेमिदेव नामक पुत्र हुआ। यह बचपन से ही जैन धर्म का माननेवाला सम्यक्त्व चूड़ामणि था। इसने अपने दान से कर्ण को, न्याय से वृःस्पति को, निर्मलता से चन्द्रमा को और स्थिरता और गंभीरता से समुद्र को जीत लिया था। इस धर्मात्मा, न्यायनिपुण राजा की प्रार्थना से संस्कृत भाषा के अनुष्टुप छन्दों में तीनों लोकों का वर्णन करने वाला यह ग्रंथ लिखा गया है।

कवि ने अपने वंश को नैगमसंज्ञक वंश बतलाया है। इन्द्रवामदेव प्रतिष्ठा-चार्य, धर्मात्मा, जिनभक्तपरायण, नाना शास्त्रों का पारंगत और करणानुयोग के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने ग्रन्थारम्भ में चतुर्विंश तीर्थंकर, नेमिचन्द्र, त्रैलोक्यकीर्ति धर्माकर मुनि और वीरसेनाचार्य आदि को स्मरण किया है। ग्रंथ रचने की प्रतिज्ञा करते हुए बताया है “त्रैलोक्यसारमालोक्य ग्रन्थं त्रैलोक्यदीपकं” अर्थात् त्रिलोक सार नामक ग्रन्थ का सार लेकर इस ग्रन्थ को रचा जा रहा है। इस ग्रन्थ में तीन

अधिकार हैं-- अबोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक । प्रथम अधिकार में २०५ श्लोक, द्वितीय में ६१६ श्लोक और तृतीय अधिकार में ४६५ श्लोक हैं ।

आरम्भ में ही विषय प्रारम्भ करते हुए बताया है कि आकाश के मध्य में अणु के समान असंख्यात प्रदेशी यह लोक है । इसमें छह द्रव्यों का-- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल संघान पाया जाता है । इसलिए यह लोक का मान लौकिक और लोकोत्तर दो तरह का है ।

लौकिक मान एक दश शत महत्त्व आदि दश गुणोत्तर है । लोकोत्तर मान चार प्रकार का है-- द्रव्य, क्षेत्र, कान, भाव । द्रव्यमान के दो भेद हैं-- संख्योपमा, संख्यात्मक । संख्यात्मक के तीन भेद हैं-- संख्यात, असंख्यात और अनन्त । संख्यात जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रकार का है । असंख्यात और अनन्त तीन-तीन प्रकार के हैं-- परीत, युक्त, द्विगुण । इनके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद से २१ भेद होते हैं । संख्यात ज्ञान के निमित्त अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका इस तरह इन चार कुण्डों की कल्पना कर संख्यानयन किया है । काल प्रमाण का वर्णन बहुत विस्तार से किया है । पूर्वांग, पूर्व, पर्व, पर्व, नयुवांग, नयुतं, कुमुदांग, कुमुदं, पद्मांग, पद्मं, नज्जिनांग, नज्जित, कमलांग, कमलं, तुडिदांग, तुडिदं, अडडांग, अडडं, अममांग, अममं, हाहाहूहूअंगं, हाहाहूहू, विद्युल्लता, लतांग, लता, महालतांग, महालता, शीघ्रप्रकंपितं, हस्तप्रहेलिका और अचुलात्मक आदि काल परिमाणों को अंकसंख्या प्रदर्शनपूर्वक बताया है । अंकसंख्या की दृष्टि से ये संख्याएँ अत्यन्त महत्त्व पूर्ण हैं ।

लोक के नाता प्रकार के आकार बतला कर गणितानयन किया है, जो कि नवीन न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण हैं । तरकों के इन्द्रक, श्रेणीवद्ध, उभय और प्रकीर्णक बिलों का आनयन गणित क्रिया के साथ बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है । लम्बाई, चौड़ाई के अतिरिक्त बिलों की स्थूलता का आनयन भी किया है, जो एक नवीन गणित शैली है । अबोलोक व्यावर्णन के अन्त में नेमिदेव की यशवृद्धि की आकांक्षा करते हुए बताया है ।

पद्मावतीपुत्रपवित्रवंशः क्षीरोदचंद्रामलयोः यथास्य ।

तनाकृतः श्रीत्रिनापादमेवी स नेमिदेवश्चिरमत्र नीयात् ॥

मध्यलोक का वर्णन करते हुए द्वीप और समुद्रों के बलय, व्यास, सूचीव्यास, सूक्ष्मपरिधि, स्थूलपरिधि, सूक्ष्मफल, स्थूलफल आदि का गणित प्रदर्शन पूर्वक आनयन किया गया है । गणितानयन प्रक्रिया की दृष्टि से यह प्रकरण रोचक और ज्ञानवर्द्धक

है। आगे चलकर जम्बूद्वीप के पङ्कुनाचल और सप्त क्षेत्रों का गणित बहुत विस्तार और स्पष्ट रूप से दिया गया है। श्रो, ह्री, आदि देवियों के मन्दिरों के चित्र, उत्सेध, आयाम आदि का प्रमाण, परिधि का प्रमाण एवं अंगरत्नक अनीकादि देवों की संख्या बहुत विस्तार से बताया गया है। पद्म, महापद्म आदि छहों सरोवरों का सचित्र वर्णन तथा आयाम, गाम्भीर्य, व्यास, फल आदि का प्रमाण गणित दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। विजयाद्वे के उत्तर, दक्षिण नगरों की नामावली तथा उनका आयाम, विस्तार आदि बतलाया गया है। सुमेरुपर्वत तथा उसके अवयव भद्रशाल, नन्दन सौमनस, पाण्डुकवन आदि का गणित भी विस्तार पूर्वक सचित्र बतलाया गया है। गणितज्ञों के लिये यह प्रकरण मनोरंजक ही नहीं, बल्कि विशेष ज्ञानवर्द्धक है। पूर्वविदेह और पश्चिम विदेह के देवारण्य और भूमारण्य के विस्तार आदि का निरूपण करने के अनन्तर बताया है।

वर्षन्ति मेघवृन्दानि काले काले यथावथम् ।

दुर्भिक्षं देवता नास्ति नास्ति चौरादिकं भयम् ॥

कुदेवः कुत्सितो लिङ्गी कुशास्त्रं न च गर्विता ।

शलाकापुरुषाः सन्ति सन्ति केवलिनः सदा ॥

अर्थात्—इन दोनों वनों में सदा यथासमय वर्षा होती है। दुर्भिक्ष, देव्य, आधि, व्याधि, चौर आदि का अभाव है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र वहाँ पर नहीं हैं। सर्वदा त्रेसठ शलाका पुरुष और केवली विद्यमान रहते हैं।

अनन्तर भरतनेत्र के उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के षट्कालों का वर्णन करते हुए चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण और चौबीस तीर्थकरों की आयु, शरीरोन्नति, विभूति आदि का संदृष्टि प्रदर्शन पूर्वक सुन्दर वर्णन किया है। मध्यलोक व्यावर्णन में व्यास, परिधि, सूचीफल, क्षेत्रफल, घनफल आदि के आनयन के लिये कई करणसूत्र भी दिये हैं तथा इन करणसूत्रों का सोदाहरण गणित विस्तार भी बतलाया गया है। अन्त में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि संज्ञीपञ्चेन्द्रिय पर्यन्त समस्त जीवों की आयु बतलायी गयी है।

ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन नामक प्रकरण के प्रारम्भ में भवनवासी देवों के ग्रह, आवास, निलय आदि का वर्णन करने के पश्चात् इनकी ऋद्धि, इन्द्र तथा आदिपरिषद, मध्य-परिषद और बाह्यपरिषद की विभूति का विस्तार सहित वर्णन किया है। यों तो यह प्रकरण त्रिलोकसार से प्रायः मिलता जुलता है, किन्तु भेद-प्रभेद और कथनशैली में थोड़ा अन्तर है। भवनवासियों की देवियों, उनके निवासस्थान आदि के सम्बन्ध का

विस्तार से प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है। व्यन्तर देवों के वर्णन में आकाशो-
त्पन्ना, प्रीतिङ्करा, भुजगा, महागंधा, गंधाका, अनुत्पन्ना, उत्पन्ना, कुसुमाण्ड, अन्त-
र्वासिन, दिग्वासिन, नित्योत्पादक आदि भेदों का बड़े ही विस्तार के साथ वर्णन किया
है। जोतिलोक व्यावर्णन में ज्योतिषियों के विमान, बिम्ब आदि का आयाम, विस्तार
और स्थूलता प्रभृति बातों का विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे चलकर भरत,
हिमवत्, हैमवत, महाहिमवत्, हरिवर्ष, निषध, विदेह, नील, रम्यक, रुक्मी,
हैरण्यवत, शिखरी और ऐरावत क्षेत्र की ताराओं का अंकसंहति द्वारा विवेचन
किया गया है। सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश और प्रभाव का गणित भी जानकारी के
लिये उत्तम है। इनकी शीघ्र, मन्द और मध्य गतियों का विवेचन भी ज्योतिष शास्त्र की
दृष्टि से ज्ञान वर्द्धक है। कृतिका से नक्षत्र गणना कर नक्षत्रों की ताराओं और उनकी
आयु आदि का कथन भी जानकारी बढ़ाने वाला है। ऊर्ध्वलोक व्यावर्णन में सोलह
स्वर्गों का गणित पूर्वक विस्तार से वर्णन किया है। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक विमानों
का सचित्र वर्णन करते हुए इनके आयाम आदि सगणित बतलाये गये हैं। इस प्रकरण
में जानकारी के लिये अनेक बातें हैं।

इस प्रकार यह ग्रन्थ करणानुयोग का अनूठा है। प्रकाशन संस्थाओं को ऐसे
महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन की ओर ध्यान देना चाहिये। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी
विशेषता संहतियों की है। समग्र ग्रन्थ में लगभग १५० संहतियाँ हैं।



साहित्य-समीक्षा

वर्णी जैनग्रन्थमाला काशी के तीन प्रकाशन—

पञ्चाध्यायी:— टीकाकार: व्या० वा० साहित्यसूरि पं० देवकीनन्दन सिद्धान्त-शास्त्री; सम्पादक: श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री; पृष्ठसंख्या: ५६ + ३३९ और मूल्य नौ रुपये ।

स्वर्गीय व्याख्यान वाचस्पति पं० देवकीनन्दन शास्त्री ने पञ्चाध्यायी का हिन्दी अनुवाद आज से बहुत पहले किया था तथा यह ग्रन्थ शास्त्राकार प्रकाशित भी हुआ था; किन्तु प्रस्तुत संस्करण में अनेक विशेषताएँ हैं। श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री ने विशेषार्थ लिखकर इस ग्रन्थ की उपयोगिता में चार चाँद लगा दिये हैं। शंका, समाधानों के द्वारा ग्रन्थ का विषय बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। ग्रन्थारम्भ में ५२ पृष्ठों की विस्तृत प्रस्तावना में ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषयों की आलोचना उक्त पंडित जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ की है। ग्रन्थकर्ता के 'दरिद्र और श्रीमान् कर्म कृत हैं' इस विषय की समीक्षा अपने अध्ययन के आधार पर की है तथा आपके द्वारा निकाला गया निष्कर्ष बहुत कुछ अंशों में ठीक जँचता है। यद्यपि आपने कोई प्रबल शास्त्रीय प्रमाण नहीं दिया है, फिर भी निष्कर्ष बुद्धि ब्राह्म है। पंडित जी प्रस्तावना में वेदमीमांसा करते हुए वेद के कार्य का जो निर्देश किया है, वह आपके शास्त्रीय चिन्तक का द्योतक है। जैन कर्म मान्यता के आधार पर आपके द्वारा निकाला गया यह परिणाम प्रत्येक विचारक को अपील करेगा। इसी प्रकार व्यवहार और निश्चय नय के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का प्रमाण देते हुए सुन्दर और प्रामाणिक निष्कर्ष निकाले हैं।

निमित्त और उपादान की चर्चा की गुन्थी सुलभाने का प्रयत्न पंडित जी ने किया है। अनेक लौकिक उदाहरण भी दिये हैं; परन्तु चर्चा अधूरी सी है, इसको और थोड़ा विस्तृत करने के आवश्यकता थी। प्रस्तावना ज्ञानवर्द्धक और पाण्डित्यपूर्ण है। वर्णी ग्रन्थमाला ने पञ्चाध्यायी का यह सर्वाङ्ग सुन्दर संस्करण प्रस्तुत किया है। स्वाध्याय प्रेमियों को लाभ उठाना चाहिये।

तत्त्वार्थ सूत्र (हिन्दी विवेचन)— विवेचन कर्ता: श्री पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री; पृष्ठ संख्या: ३२ × ४६१; मूल्य: पाँच रुपये।

तत्त्वार्थसूत्र जैन समाज के सभी फिरकों में मान्य है। इसका विस्तृत विवेचन श्वेताम्बर परम्परा के आधार पर श्री पं० सुखलाल जी ने लिखा था, उसी से प्रेरणा

प्राप्त कर दिग्म्बर परम्परा के अनुसार यह विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रारम्भ में विवेचन कर्त्ता ने तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता के सम्बन्ध में अपना नया ऐतिहासिक अनुसन्धान उपस्थित किया। आपने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य को सिद्ध किया है तथा उमास्वाति को श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगम भाष्य का कर्त्ता इनसे भिन्न व्यक्ति बताया है। प्रस्तावना छोटी होती हुए भी तथ्यपूर्ण है।

श्री पं० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री अध्ययनशाला, सिद्धान्त के मर्मज्ञ और दार्शनिक विद्वान् हैं। इस विवेचन में आपकी प्रखर प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं। विवेचन की शैली सरल, सुबोध, रुचिबर्धक एवं हृदय गम्य है। पंडित जी ने उम विवेचन द्वारा एक बड़ी कमी की पूर्ति की है। जैन सिद्धान्त के समुद्र इस सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन के प्रचार की परमावश्यकता है। प्रत्येक मन्दिर और पुस्तकालय में तो इसे रखना ही चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को भी तत्त्वार्थ के रहस्य को समझने में यह विवेचन अत्यधिक सहायक होगा। छपाई-सफाई, गेटप आदि उत्तम हैं।

अपभ्रंश-प्रकाशः—लेखकः श्री देवेन्द्र कुमार एम० ए०, साहित्याचार्य; प्रस्तावना

लेखकः श्री पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र; पृष्ठ संख्याः = १७ + २२४; मूल्यः तीन रुपये।

हिन्दी भाषा का विकास अपभ्रंश से हुआ है; अतः हिन्दी भाषा के अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का व्याकरण जानना आवश्यक है। श्री देवेन्द्रकुमार उदीयमान लेखक और विचारक हैं, आपकी लेखनी से प्रसूत रचना हिन्दी भाषा के अध्ययन में विशेष सहायक होगी। वर्णा ग्रन्थमाला के संचालक उपर्युक्त उच्चस्तर के उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन के लिये धन्यवादार्ह हैं।

श्री रायचन्द्र शास्त्र माला के दो प्रकाशन—

प्रथमरति प्रकरण— रचयिताः उमास्वाति; सम्पादकः श्री प्रो० राजकुमार जैन साहित्याचार्य; प्रकाशकः श्री परमश्रुतप्रभावक मंडल, जौहरी बाजार बम्बई; मूल्य छः रुपये।

इस ग्रन्थ में २२ अधिकार हैं। इन अधिकारों में कषाय, इन्द्रिय, राग द्वेष आदि को जीतने का मार्ग बतलाया गया है। इसका विषय तत्त्वार्थसूत्र के विषय से बहुत-कुछ साम्य रखता है। संसार के विषयों में लिप्त व्यक्ति के लिये विरक्ति प्राप्त करने में इस ग्रन्थ का स्वाध्याय परमोपयोगी होगा। इसका प्रत्येक श्लोक ललित, सरस और वैराग्य से ओत-प्रोत है। माध्यस्थ्य, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम दोष-क्षय और कषाय विजय आदि वैराग्य के पर्यायवाची नाम हैं। जब तक व्यक्ति

विकारों के आधीन रहता है, परतन्त्र है; जब उसकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुख हो जाती है, वह स्वावलम्बी बन जाता है। रागादि का बिल्कुल शमन हो जाना प्रशम है, इससे बढ़कर अन्य कोई सुख और शान्ति नहीं है। जीव के लिये अशान्ति का कारण राग ही है। आचार्य ने इसके कई नाम बतलाये हैं। वास्तव में राग के अभाव में जो आनन्दानुभूति होती है, वह वर्णनात्त है, शाश्वत है और परमोपादेय। इस ग्रन्थ में इसी आनन्दानुभूति की प्राप्ति का उपाय बतलाया है।

अनुवाद प्रो० राजकृमार जी साहित्याचार्य ने बहुत ही सुन्दर किया है। हृदयंगम करने में विशेषार्थ तथा हरिभद्रमूरि का संस्कृत टाका का भाषानुवाद विषय समझने में बड़े सहायक हैं। इस सुन्दरतम अनुवाद के लिये उदीयमान लेखक साधुवादार्द हैं। छपाई-सफाई अच्छी है। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगाना चाहिये।

न्यायावतार—रचयिता: आचार्य सद्गुप्तेन दिवाकर; अनुवादक: पं० विजय-मूर्ति शास्त्राचार्य, एम० ए०; मूल्य: पाच रुपये।

यह न्याय शास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमय का सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है। इसमें कुल २२ कारिकाएँ हैं। अनुवादक ने मूल कारिकाओं और सिद्धपिंगणि की संस्कृत टाका का भाषानुवाद किया है। न्याय शास्त्र के अनुवादक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इस कारण अनुवाद की भाषा प्रायः उलझी रह जाती है। इस ग्रन्थ के अनुवाद में पर्याप्त भ्रम किया गया है, तथा भाषा की उलझन की बहुत कुछ अशों में दूर करने का प्रयास सफल रहा है। न्याय शास्त्र के ज्ञेयसुत्रों के लिये ग्रन्थ उत्तम है। छपाई सफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

प्रशस्ति संग्रह—सम्पादक: श्री कस्तूर चन्द कासलीवाल एम० ए० शास्त्री; प्रकाशक: प्रबन्ध कारणा कमेटी, श्री दि० जन आतिशय क्षेत्र महावीर जी; मूल्य छः रुपये।

जैन इतिहास के निर्माण में ग्रन्थ प्रशस्तियाँ बड़ा उपयोगी हैं। दिगम्बर जैन समाज में एक प्रशस्तिसंग्रह जैन-सिद्धान्त-भवन द्वारा से प्रकाशित हुआ था और दूसरा प्रशस्तिसंग्रह यह है। इसमें आये शास्त्र भंडार तथा जयपुर के संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषा के ग्रन्थों की प्रशस्तियों का संकलन किया गया है। प्रस्तावना में सम्पादक ने अनेक ज्ञातव्य बातों के साथ प्रशस्ति संग्रह में आये हुए आचार्यों, लेखकों एवं कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस प्रशस्ति संग्रह से कई नवीन ग्रन्थों का पता चलता है। अपभ्रंश भाषा का विपुल साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है, इसके प्रकाशन की व्यवस्था शास्त्र होनी चाहिये। प्रशस्तियों

का सम्पादन सुन्दर हुआ है। यदि सम्पादक लिपिकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के इतिहास के सम्बन्ध में कुछ और प्रकाश डालते तो इस प्रकाशन में चार-चाँद लग जाते। हम इस बहुमूल्य ऐतिहासिक संकलन के लिये उदीयमान प्रतिभाशाली सम्पादक तथा महावीरजी तीर्थक्षेत्र कमेटी को धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रयास से प्रशस्तियों का यह संकलन प्रकाशित हुआ है। प्रत्येक अन्वेषक विद्वान् और पुस्तकालय को हमें मंगाना चाहिये।

जैनधातु— प्रतिमालेख (प्रथम भाग)--- सम्पादक: मुनि कान्तिसागर; प्रकाशक: मंत्री, श्री जिनदत्तमूरि ज्ञानभंडार, सूरत।

प्रारम्भ में मुनिजी की एक छोटी सी प्रस्तावना है, जो अत्यन्त ज्ञानवर्द्धक है। आपने इसमें जैन धातु प्रतिमाओं के संक्षिप्त इतिहास की रूप-रेखा प्रस्तुत की है। इस संग्रह में संवत् १००० से सं० १९५२ तक की धातु प्रतिमाओं के लेखों का संकलन किया गया है। इसमें कलकत्ता, दम्बई, अमरावती, भद्रावती, नासिक, बालापुर, नागपुर और सम्भेदशिखर आदि स्थानों की श्वेताम्बर जैन धातु प्रतिमाओं के ३६९ लेख संग्रहीत किये गये हैं। परिशिष्ट में हस्तलिखित एक गुटके के आधार से सिद्धाचल की नव टोंकों के प्रतिमा लेख भी अविकल रूप से दिये गये हैं। अन्त में लेखों में आये हुए आचार्य, प्रतिष्ठागक मुनियों का नाम तथा गच्छ और नगरों के नाम भी दिये हैं, जिससे इस संकलन की उपयोगिता कई गुनी बढ़ गयी है। मुनि जी पुरातत्त्व और कला के मर्मज्ञ विद्वान् हैं, उनके द्वारा इसका सम्पादन सर्वाङ्गीण सुन्दर हुआ है। इतिहास-प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिये।

नेमिचन्द्र शास्त्री

भारत धर्म महामण्डल वर्धा के दो प्रकाशन—

समाज और जीवन— सम्पादक: जगनलाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया।

विचारशील लेखों का यह संग्रह पर्याप्त सुन्दर बन पड़ा है। भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से 'सुख और शान्ति' शीर्षक निबन्ध हमें बहुत रुचा है। गहन विषय का इतनी चल्ती भाषा में प्रतिपादन करना, महात्मा भगवान्‌दोन जैसे कुशल कलाकार का ही चमत्कार है। वास्तव में हमलोग सुख-शान्ति नहीं चाहते, बल्कि उसकी बिडम्बना करते हैं। यों तो सभी निबन्ध प्रशंसनीय हैं, पर उदाहरण के लिये उपर्युक्त निबन्ध ही चुना है। राजमल ललवानी के निबन्ध भी हमारे जीवन की

जड़ता को दूर करने में पर्याप्त सहायक होंगे। संस्कार समय की देन हैं, परिस्थितियों की देन हैं, पर कुछ संस्कार सदियों से लिपट कर हमें जड़ बनाये हैं, पर आज के युग में उन साका कोई उपयोग नहीं है। इस पुस्तक के सभी निबन्धों के पीछे पर्याप्त विन्तन है। छपाई-लफाई, गेटप आदि अच्छे हैं।

जीवन जौड़गे— लेखक: श्री रिपभदास रांका; सम्पादक: जमनालाल जैन साहित्यरत्न; मूल्य एक रुपया चार आना।

प्रभुन पुस्तिका में श्री रिपभदास रांका ने अपने भाई के नाम जो बी० कम० पास कर जीवन-संग्राम में प्रवेश कर रहे हैं, पत्र लिखे हैं। स्व० श्री जमनालाल बजाज के जीवन-संस्मरण पत्र में लिख-लिख कर रांकाजी ने अपने भाई को उपदेश-संबल दिया है। उदाहरण के लिये पटनाओं का चुनाव बहुत समीचीन है। सत्य और अहिंसा का दैतिक जीवन में प्रयोग स्व० बजाज जी ने किस सफलता से किया, इसके प्रबुद्ध उदाहरण पुस्तक में है। संस्मरणों द्वारा मनुष्य जीवन में बहुत कुछ सीख सकता है, इस दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। पुस्तक को पत्रावली में लिखकर रांका जी ने संस्मरणों को प्रभावशाली बना दिया है। छपाई अच्छी है।

प्रो० राजेश्वरीदत्त मिश्र एम० ए०

समाज मनोविज्ञान के कुछ पहलू—लेखक: प्रमोद कुमार एम० ए०; प्रकाशक: सरला पुस्तक माला, जमशेदपुर; मूल्य: पाँच रुपये।

हिन्दी भाषा में समाज मनोविज्ञान पर यह प्रथम प्रयास है। मनोविज्ञान के विद्यार्थियों के लिये तो यह लाभदायक है ही, साथ ही रोचक शैली में होने के कारण साधारण पाठकों के लिये भी उपादेय है। कोई भी पाठक इसके द्वारा अपने व्यावहारिक जीवन में बहुत कुछ लाभ उठा सकता है। लेखक का वैज्ञानिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रशंसनीय है। सामाजिक विषयों पर यद्यपि अधिक वैज्ञानिक विचार नहीं किया है फिर भी हिन्दी भाषा में इस पुस्तक का महत्व है।

—प्रो० रामनरेश सिंह एम० ए०

भारतीय साहित्य सदन की प्रकाशित चार पुस्तिकाएँ—

आत्मदर्शन (प्रथम भाग)—लेखक: श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या ८०; मूल्य: आठ आने।

इसमें संवाद द्वारा एमोकारमन्त्र, सदाचार, धर्म, सप्तव्यसन, पाँच पाप आदि को परिष्कृत आधुनिक भाषा में समझाया है। यह छात्रों के लिये विशेषोपयोगी है। चरित्र

निर्माण और धार्मिक ज्ञान कराने के लिये यह पुस्तक विशेष कर दी गयी है, इससे एक अभाव की पूर्ति हो जाती है। लिखने का ढंग नया है। छात्र इस पुस्तक को बड़ी रुचि से पढ़ेंगे। ऐसी उपयोगी पुस्तक का उठन क्रम में शामिल होना लाभदायक होगा। छपाई सफाई भी अच्छी है, किन्तु प्रूफ संशोधन की असावधानी यत्र तत्र नजर आती है। जैसे—पृष्ठ ८० में मोक्षमर्गिण्य, तद्गुणलब्धये आदि। द्वितीय संस्करण में भाषा को सरल तथा पारिभाषिक शब्दों के बोझ को हल्का करना चाहिये। आत्म दर्शन नाम कुछ क्लिष्ट सा है, इसको भी बदलने की आवश्यकता है।

अकामर स्तोत्र सार्थ— अनुवादक : श्री पं० अनृतलाल जी साहित्यदर्शनार्थ; पृष्ठ संख्या ४+४८; मूल्य : छद्द आने।

इसमें संस्कृत श्लोकों के नीचे हिन्दी पद्यानुवाद, अन्वय, शब्दार्थ और भावार्थ दिया गया है। प्रारम्भ में पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री, प्रधानाध्यापक - श्री म्यादाद महाविद्यालय बनारस का प्राक्थन है। जिसमें श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित ४४ और दिगम्बर परम्परा में प्रचलित ४८ पद्यों के रहस्यों को बतलाया है। श्री पं० अमृतलाल जी साहित्य व दर्शन के विद्वान् ने इनका अनुवाद किया है। प्रत्येक श्लोक का विभक्ति के अनुसार अर्थ लिख कर नीचे भावार्थ में विषय को स्पष्ट कर दिया गया है। श्री पं० अमृत लाल जी दर्शन व साहित्य के विद्वान् हैं, उनकी इस विद्वत्ता की छाप इस अनुवाद पर स्पष्ट है। अब तक के प्रकाशित अकामर के हिन्दी अनुवादों में यह निस्सन्देह प्रामाणिक अनुवाद है। आचार्य मानवुङ्ग के दो श्रेष्ठ चित्रों से प्रस्तुत संस्करण को और भी चिन्ताकर्षक बना दिया है। यद्यपि कला की दृष्टि से दोनों ही चित्रों में समचतुरस्र संस्थान का अभाव है। जंजीर से जकड़े हुए चित्र में कुहनी से हाथ तक का भाग सम नहीं है। मुख पृष्ठ से चित्र में भी हाथ जोड़ने की मुद्रा में अस्वाभाविकता है। फिर भी इस सुन्दर संस्करण के लिये प्रकाशक धन्यवाद के पात्र हैं।

दीपमालिका विधान— सम्पादक : श्री प्रो० पन्नालाल धर्मालंकार काव्यतीर्थ; पृष्ठ संख्या: २ + १३ + ४८; मूल्य: आठ आने।

इसमें स्तोत्र और दीपमालिका सम्बन्धी पूजाओं का संकलन है। यद्यपि इसमें सायंकालीन दीपमालिका के पर्व का संक्षिप्त विधान है, फिर भी बही खाते आदि की पूजा तथा अन्य तत्सम्बन्धी कार्यों की विशेष क्रियाओं का अभाव खटकता है। हमें आश्चर्य इस बात का है कि क्रिया-काण्ड के विशेष प्रोफेसर साहब ने नवीन बही खार्तों के संस्कार के सम्बन्ध में प्रकाश नहीं डाला, फिर भी सामान्य पाठकों के

लिये यह विधान उपयोगी है। अगला संस्करण संशोधन सहित प्रकाशित होने की आवश्यकता है।

मोक्षशास्त्र— अनुवादक : प्रो० पन्नालाल धर्मालङ्कार काठपतीर्थ; पृष्ठ संख्या: २३ + ३५ + ३५ + ३८६; मूल्य: द्वाे रुपये।

प्रारम्भ में ख्याति प्राप्त दार्शनिक विद्वान् प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए० की प्रस्तावना है, जिसमें आपने आचार मार्ग और ज्ञानमार्ग पर जोर देते हुए आचार मार्ग के लिये ज्ञानमार्ग की अत्यन्त आवश्यकता बतलायी है तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में प्राप्त मोक्षशास्त्र की टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जोर दिया है। आपका अनुमान है कि दिगम्बर परम्परा की रचनाएँ श्वेताम्बर परम्परा की रचनाओं से प्राचीन हैं। मोक्षशास्त्र के अब तक अनेक संस्करण निकल चुके हैं, प्रत्येक संस्करण की अपनी-अपनी कुछ न कुछ विशेषता रहती है। इस संस्करण को प्रो० सा० ने अंग्रेजी पढ़नेवाले छात्रों के लिये उपयोगी बनाना चाहा है। परन्तु हमारा यह ख्याल है कि ऐसे छात्रों की मनोवृत्ति का अध्ययन कर यदि प्रोफेसर सा० सरल और सुबोध भाषा में उपर्युक्त विषय का ज्ञान कराने के लिये कोई नवीन पुस्तक लिखते तो ज्यादा लाभ होता। हमारे सम्मान्य विद्वानों को प्रकाशित साहित्य के अनुवाद की ओर न झुक कर अब नवीन साहित्य के निर्माण या पुरातन अप्रकाशित साहित्य के प्रकाशन की ओर लगना चाहिये।

प्राम्तु संस्करण के गेटप और मुद्रण की हम प्रशंसा करते हैं। प्रूफ सम्बन्धी अशुद्धियाँ इस ग्रन्थ माला के सभी प्रकाशनों में हैं। स्वाध्याय प्रेमियों को मंगा कर लाभ उठाना चाहिये।

माधवराम न्यायतीर्थ

सम्पादकीय

आगामी अंक--श्रीदेवकुशागङ्ग

हम अपने अतीत का इतिहास जानने के लिये अधिक उत्सुक रहते हैं; क्योंकि वर्तमान को अपेक्षा अतीत हमें अधिक प्रिय होता है। हम अतीत के गौरव द्वारा अपने वर्तमान को गौरवमय बनाना चाहते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश, समाज और राष्ट्र अपने उज्वल अतीत के कर्णों को एकत्रित कर वर्तमान का निर्माण करता है। जिस जाति का अतीत जितना प्रकाशमान होता है, उसका वर्तमान और भविष्य भी उतना ही समुज्वल।

जैन समाज का भी अतीत अत्यन्त प्रकाशमान और गौरवशाली है; परन्तु इसके क्रमवद्ध इतिहास का निर्माण अभी होना शेष है। यद्यपि सुदूर अतीत के इतिहास मृज्जत की ओर अनेक जैन विद्वान् और जैन संस्थाएँ प्रयत्नशील हैं; परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि निकट अतीत के इतिवृत्तों के संकलन की ओर जैन समाज का ध्यान अभी नहीं गया है। इस बीसवीं शताब्दी में जैनधर्म और उसके अनुयायियों की गतिविधि क्या रही है? समाज के कर्णधार कौन-कौन व्यक्ति हुए और उन्होंने समाज का संचालन कैसा किया? किस दिशा में किस प्रकार प्रगति की है? उन्नति के लिये कौन-कौन आन्दोलन किये गये हैं तथा उनमें कौतूहल सफलता और असफलता मिली है? आदि इतिवृत्तों के संवय की ओर हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं गया है। इस बीसवींशती के अर्धशतक की ओर हमने कभी देखने का प्रयत्न नहीं किया है। यद्यपि विगत पचास वर्षों के इतिहास निर्माण के लिये हमारे पास प्रामाणिक सामग्री मौजूद है तथा जीवित वृद्ध व्यक्तियों की जुबानी भी इतिहास निर्माण के बहुत से उपकरण प्राप्त हो सकते हैं। आज यह सामग्री सुलभ है, पर कुछ ही दिनों के बाद यही ऐतिहासिक सामग्री अन्धकाराच्छन्न हो जायगी। जैसे आज सुदूर अतीत के इतिहास निर्माण के लिये पुरातन खण्डहरों को भाँकना पड़ रहा है, तथा जीर्ण-शीर्ण ग्रन्थों के पन्नों को टटोलना पड़ रहा है; उसी प्रकार सौ-दो सौ वर्ष के बाद ही इस शतक के इतिहास के निर्माण के लिये भी हमें जी-तोड़ श्रम करना पड़ेगा। आज इस कार्य को हम अल्पशक्ति और अल्प श्रम से कर सकते हैं, भविष्य में हमें इसके लिये अपनी अधिक शक्ति और श्रम लगाना पड़ेगा।

लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान् श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस का ध्यान इस ओर गया था। उन्होंने जैन समाज के इस अर्धशतक के इतिहास को लिखने के लिये

साधन-सामग्री एकत्रित की थी तथा श्री जैन-सिद्धान्त-भवत आरा से पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें भी मांगवाई थी। इस विषय पर उक्त पंडितजी के दो-तीन फुटकर निबन्ध भी जैन सन्देश में प्रकाशित हुए थे; परन्तु अपनी उलर्भा हुई परिस्थितियों के कारण उन्होंने इस महत्वपूर्ण कार्य को बीच में ही छोड़ दिया।

‘जैन-सिद्धान्त-भास्कर’ के परिवार ने इधर यद् निर्णय किया है कि इस अर्धशतक में जितने प्रमुख समाज सेवक हुए हैं; जिन्होंने समाज में जीवन ज्योति प्रकाशित की है, उन व्यक्तियों के इतिवृत्त एवं सेवाओं के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों से निबन्ध संकलित कर विशेषाङ्क प्रकाशित किये जाँय। अपने इस निर्णय के अनुसार ‘भास्कर’ की अगली किरण ‘श्रीदेवकुमाराङ्क’ नाम से जैन चिन्तित पर उदित होगी। स्वर्गीय दानवीर श्री बाबू देवकुमार जी का जन्म आरा नगर में चैत्र सुदी ८ सं० १९३३ में धनी-मानी, परिवार में हुआ था। आपके पिता का शुभ नाम श्रीमान् बाबू चन्द्रकुमार जी था और पितामह का नाम श्रीमान् पण्डित प्रभुदयालजी था। श्रीमान् बाबू देवकुमारजी रईस ने अपने जीवन काल में तन, मन, धन से जैनधर्म का प्रचार और प्रसार किया था। जैन समाज की प्रगति का इतिहास आपके जीवन के साथ बहुत कुछ सम्बद्ध है। आपने जैन समाज में शिक्षा प्रसार, जागृति और उन्नति के अनेक कार्य किये हैं। आप अपने समय के प्रमुख नेता थे, जैन समाज का अपने जीवनकाल में आपने सच्चा पथ-प्रदर्शन किया है।

जैनगजट के वर्षों सम्पादक आप रहे। महासभा का नेतृत्व अपने ऊपर लेकर आपने इस संस्था का अत्यधिक उन्नति की थी। तीर्थक्षेत्रों की सुरक्षा और सुव्यवस्था का सूत्रपात आपके ही द्वारा हुआ था। मन्दारगिरि जैन क्षेत्र को अन्य धर्मावलम्बियों के हाथ से निकालकर जैन समाज को सौंप देना आपका ही बुद्धिकौशल था।

जैन साहित्योद्धार की प्रवृत्ति के जन्मदाता आप ही हैं। यत्र-तत्र विखरे हुए तथा ग्रन्थागारों में बन्द प्रकाश और धूप के अभाव में दीमक के पेट में जाते हुए ग्रन्थ-रत्नों की रक्षा और संचयन के लिये आपने जीवन के अन्त समय में उपदेश दिया था—

‘आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शारत्रों और मन्दिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये; क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्व का अस्तित्व रहेगा; मैं तो इस ही चिन्ता में था, किन्तु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जबतक इस कार्य को पूरा न करूँगा, तबतक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभोग्यदय से मुझे

इस परम पवित्र कार्य को करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ; अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तम्भ स्वरूप हैं, इसलिये इस परमावश्यक कार्य का सम्पादन करना आप सबका परम कर्तव्य है।'

अनेक समाजोत्थान के कार्यों के अतिरिक्त श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की स्थापना श्री वा० देवकुमारजी ने ही की थी। आपकी मृत्यु २१ वर्ष की अवस्था में श्रावण सुदी ८ सं० १९६४ में हो गयी।

विद्वान् लेखकों से सादर अनुरोध है कि इस अर्धशती के प्रकाशमान नक्षत्र श्री वा० देवकुमारजी के सम्बन्ध में संस्मरण, निबन्ध, कविता आदि अपनी रचनाएँ भेजने का कष्ट करें। जिन महानुभावों के पास उनके पत्र हों वे शीघ्र उन पत्रों को यहाँ भेजने की कृपा करें। रचनाएँ मार्च महीने के अन्ततक आ जानी चाहिये।

सम्राट् अकबर पर जैनधर्म का प्रभाव—

सम्राट् अकबर अत्यन्त प्रेमी था। आत्म-तत्त्व को अवगत करने की ओर उसकी विशेष रुचि थी; इसी कारण उसने 'दीनइलाही' नामक एक नये धर्म का प्रचार करना चाहा था। इस नये धर्म की नींव अध्यात्मवाद पर आश्रित थी। अकबर के दरबार में जैनाचार्य श्री हीरविजय सूरि, विजयसेन जिनचन्द्र और भानुचन्द्र गुरु के पद पर आसीन थे। दिगम्बर जैन धर्मानुयायी भटानियाकोल (अलीगढ़) निवासी साहु टोडर अकबर की शाही टकसाल में अध्यक्ष के पद पर आसीन थे। इनका प्रभाव भी अकबर पर पर्याप्त पड़ा था। सम्राट् की सहायता से इन्होंने मथुरा के क्षेत्रों को यात्रा के लिये एक विशाल संघ निकाला था और वहाँ पर जाकर जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया था। मेड़ता के नवा मन्दिरों के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा धर्म का पूरा प्रभाव था। बताया गया है कि—

श्री अकबर साहि प्रदत्त युगप्रधानपदप्रवरैः प्रतिवर्षापाढीयाष्टाह्निकादिषायमासिकामरिप्रवर्तकैः ।
श्रीपंत (स्तम्भ) तीर्थोदधिमीनादिजीवरक्षकैः । श्री शत्रुञ्जयतीर्थकरमोचकैः । सर्वत्र गोरक्षा-
कारकैः चनदीपीरसायकैः । युगप्रधानश्रीजिनचन्द्रसूरिभिः । अचार्य श्री जिनसिंहसूरि श्री समयराजो-
पाध्याय वा० हंसप्रमोद वा० समयपुन्दर वा० पुण्यप्रधानादिसाधुयुतैः ।^१

अर्थात्— अकबर ने जैन मुनियों को युगप्रधान पद प्रदान किये। प्रति वर्ष आपाढ़ के अष्टाह्निका पर्व में जीवहिंसा निषेध (अमारि); प्रति वर्ष सब मिलाकर छः

१—श्री वा० देवकुमारजी का यह उपदेश लिखितरूप में जैन सिद्धान्त भवन, आरा में सुरक्षित है।

२—प्राचीन जैन लेख संग्रह 'लेखाङ्क' ४४३

महीने पर्यन्त अपने समस्त राज्य में जीवहिंसा निषेध, खम्भात के तालाब में जलचर जीवों की रक्षा; शत्रुञ्जयतीर्थ का कर मोचन और सर्वत्र गोरक्षा प्रचार आदि कार्य किये थे ।

जम्बूस्वामी चरित्त में कवि राजमल्ल ने अकबर का वर्णन करते हुए लिखा है—

मुमोच शुक्लं त्वथ जेजियामिश्रं म यावदंभाधरभूधराधरम् ।

धराश्च नद्यः मरितापनेः पयः यशः शशीश्रीमदकबरस्य च ॥

वधैनमेतद्वचनं तदास्यतो न निर्गतं कापि निमर्गतं शिव (तश्चि ?) ति. ।

अनेन तद्यूतमुदन्तमेनसः मुधर्मगतः किल वर्ततेऽधुना ॥

प्रमादमादाय जनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः ।

ततोऽपि मयं तदव्यकारणं निवाग्यामास त्रिदावरः स हि' ॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित जजिया कर बन्द कर दिया था । हिंसक वचन उसके मुख से नहीं निकलते थे । हिंसा से वह सदा दूर रहता था, शूत का भी उसने अपने राज्य में निषेध कर दिया था । मद्यपान का भी उसने निषेध कर दिया था, क्योंकि मद्य पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, जिससे व्यक्ति की कुमार्ग में प्रवृत्ति होती है ।

श्री जैन सिद्धान्त-भवन के अंजनासुन्दरीरास की प्रशस्ति में श्री विद्याहर्ष सूरि ने लिखा है कि हीरविजयजी ने अकबर को प्रतिबोधा था तथा श्री विजयसेन गणि ने अकबर के दरवार में भट्ट नामक विद्वान् को वाद-विवाद द्वारा परास्त किया था । इसी कारण जैनधर्म से प्रभावित होकर अकबर ने अमारि घोषणा करायी थी । जैनधर्म के प्रभाव के कारण अकबर के हृदय में अहिंसा की निर्मल मन्दाकिनी प्रवाहित होती थी । श्री विजयसेन गणेशरार रे । विस्ता० २

जिणि शाहि अकबर नी सभा माहि मट्ट सुंरे कीधी कीधी वादु अभंग रे ।

मिध्यामतरेषडी करी रे जिणि गळ्यु गळ्यु जिनि शासनि रंग रे ॥

गाय-वृपम-महिषादिक जीवनी रे, कीधी कीधी नित्य अमारि रे ।

वंदि नकालह को गुरुवयण थीरे, द्रव्य अपूत्र तुं दारि रे ॥

अर्थात्— अकबर ने जैनधर्म से प्रभावित होकर गाय, बैल, भैस, बकरी आदि की हिंसा का निषेध कर दिया था । अकबर ने प्रसन्न कैदियों को छुटकारा दिया था तथा जैन गुरुओं के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की थी । दान, पुण्य के कार्यों

१—जम्बू स्वामी चरित

२—हिन्दी जैन साहित्य का

में भी यह सदा अप्रेसर रहता था ।

ईसाई पादरी पिनहेरो ने लिखा है कि अकबर जैन नियमों पर अमल करता है । जैन विधि से आत्म चिन्तन और आत्म आराधन में सदा संलग्न रहता है । मांस, मदिरा और द्यूत की निषेध आज्ञा प्रचलित कर दी है ।

सम्राट् जहाँगीर ने राज्यारोहण के पश्चात् १२ आज्ञाएँ प्रचलित की थी । इनकी ११ वीं आज्ञा के देखने से पता चलता है कि सम्राट् अकबर जैनधर्म से कितना प्रभावित था ।

“मेरे जन्म मास में, सारे राज्य में मांसाहार निषिद्ध रहेगा । वर्ष में एक-एक दिन इस प्रकार के रहेंगे, जिसमें सभी प्रकार की पशुद्वय का निषेध है । मेरे राज्याभिषेक का अर्थात् गुरुवार और रविवार के दिन भी कोई मांसाहार नहीं करेगा ! क्योंकि संसार का सृष्टि-सर्जन सम्पूर्ण हुआ था, उस दिन किसी भी जन्तु का प्राण घात करना अन्याय है । मेरे पिता ने ग्यारह वर्षों से अधिक समय तक इन नियमों का पालन किया है और उस समय रविवार के दिन कदापि मांसाहार नहीं किया । अतः मैं भी अपने राज्य में उन दिनों में जीवहिंसा की निषेधात्मक उद्घोषणा करता हूँ” ।

जिनचन्द्रसूरि ने अकबर को प्रतिबोध कराने के लिये ‘अकबर प्रतिबोध राम’ नामक एक ग्रंथ लिखा है । इस ग्रंथ से प्रकट होता है कि अकबर ने अनेक अवसरों पर जैनपूजा करवायी थी । कहा जाता है कि एक समय अकबर के पुत्र सलीम सुरत्राण के मूल नक्षत्र के प्रथम पाद में कन्या का जन्म हुआ । ज्योतिषी लोगों ने कन्या के ग्रह पिता के लिये अनिष्टकारक बतलाये तथा उसका मुख भी देखने का निषेध किया । सम्राट् अकबर ने श्रेष्ठ अबुलफजल आदि विद्वानों को बुलाकर मूल नक्षत्र की शान्ति का उपाय पूछा । उनसे परामर्श कर सम्राट् ने मंत्रीश्वर कर्मचन्द्र को आदेश दिया कि जैनदर्शन के अनुसार इस दोष को उपशान्ति के लिये उचित प्रबन्ध शीघ्र किया जाय ।

सम्राट् की आज्ञानुसार मन्त्रिवर कर्मचन्द्र ने सोने, चाँदी के कलशों द्वारा चैत्र शुक्ला पूर्णिमा के दिन श्री सुपार्श्वनाथ भगवान् का अभिषेक धूमधाम से सम्पन्न किया । पूजन समाप्त होने पर मंगल दीपक और आरती के समय सम्राट् और उनके पुत्र अनेक दरवारियों के साथ वहाँ आये और दश हजार रुपये जिन मन्दिर का भेंट किये । अभिषेक का गन्धोदक सम्राट् और उनके पुत्र ने अपने शरीर में लगाया था

तथा इसे रनवास में रानियों के लिये भी भेजा गया। मूलनक्षत्र का समस्त दोष इस पूजा से दूर हुआ।^१

सम्राट् अकबर ने गिरनार, शत्रुञ्जय, मथुरा आदि जैनतीर्थों की रक्षा के लिये अहमदाबाद के सूबेदार आजमखान को फरमान देकर भेजा था और उससे कहा था कि जैनतीर्थों, जैनमूर्तियों और जैनमन्दिरों को किसी भी प्रकार की हानि मेरे राज्य में कोई नहीं पहुंचा सकता है। जो मेरी इस आज्ञा का उलंघन करेगा, वह दण्ड का भागी होगा।

सम्राट् अकबर जैनधर्म से पूर्ण प्रभावित था, इस बात को सुप्रसिद्ध इतिहासकार विसेन्ट ए० स्मिथ ने भी अपनी पुस्तक 'अकबर दी ग्रेट मुगल' में स्वीकार किया है।

'अकबर का लगभग पूर्णरूप से मांसाहार का परित्याग करना एवं अशोक के समान लुद्र से लुद्र जीवहिंसा का निषेध करने के लिये मख्त आज्ञाओं का जारी करना, अपने जैन गुरुओं के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करने ही के परिणाम थे। हिंसा करनेवालों को कड़ी सजा देना यह कार्य प्राचीन प्रसिद्ध बौद्ध और जैन सम्राटों के अनुसार था। इन आज्ञाओं से अकबर की प्रजा में बहुत लोगों को और विशेषतः मुसलमानों को बहुत कष्ट हुआ होगा।'^२

स्मिथ साहब ने इसी पुस्तक में यह भी स्वीकार किया कि जैनधर्म से प्रभावित होने का कारण ही अकबर ने अपने-अन्तिम जीवन में मांसाहार का त्याग कर दिया था।^३ अकबरी दरवार नामक पुस्तक से भी प्रतीत होता है कि अकबर पर अहिंसा की छाप अमिट थी। उसने स्वयं तो मांसाहार का त्याग किया ही था, परन्तु अपने आश्रितों को भी मांसाहार का त्यागी बनाया था। विश्व इतिहास में भी अकबर के धार्मिक विचारों का विश्लेषण करते हुए उसे अध्यात्म प्रेमी, दयालु, परोपकारी और विशुद्धाहारी बताया है। जैनधर्म के प्रभाव के कारण ही उसमें भ्राम गुण थे। बिना जैनधर्म के प्रभाव के दयालु और विशुद्धाहारी होना संभव नहीं है।

श्री प्रो० ईश्वरी प्रसाद ने भी मुसलिम शासन के इतिहास का वर्णन करते हुए अकबर को जैनाचार्यों से पूर्ण प्रभावित बतलाया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि सम्राट् का रहन-सहन बिल्कुल जैन नियमों के अनुकूल है। स्मिथ साहब ने अकबर की जैन शिक्षाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

१—अकबर प्रतिबोध रास के आधार पर 'युगप्रधान श्रीजिनचन्द्रसूरी' में उल्लिखित पृ० ८५

२—अकबर दी ग्रेट युगल पृ० १६७

३—उपर्युक्त ग्रन्थ पृ० ३३५-३३६

“But the Jain holy men undoubtedly gave Akbar prolonged instruction for years, which largely influenced his actions and they secured his assent to their doctrines so far that he was reputed to have been converted to Jainism”^१

अर्थान्—जैन साधुओं ने वर्षों तक अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया तथा उनके उपदेशों का अकबर के कार्यों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने सिद्धान्त यहाँ तक मनवा लिये थे कि लोग सम्राट को समझने लगे थे। लोगों की यह समझ केवल अनुमान से ही नहीं थी, किन्तु उसमें वास्तविकता भी थी। कई विदेशी यात्रियों को भी अकबर के व्यवहारों से यह निश्चय हो गया था कि अकबर जैन सिद्धान्तों का अनुयायी था।

हिन्दी विश्वकोश में बताया गया है कि^२ “जीवहिंसा अकबर को प्रिय न थी। वे अधिकतर मांस न खाया करते थे और गोमांस को छूते भी नहीं थे। उनके मत से गोमांस अस्वाद्य पदार्थ था। एक बार उन्होंने चित्त के आवेग में कहा था, “क्या करूँ, मेरा शरीर अधिक बड़ा नहीं है। यदि मेरा शरीर बड़ा होता तो इस मांस पिड़ रूपी देह को त्याग देता, जिसमें जगन् के जीव सुख से भोजन करते। पाणी हिंसा फिर देखने में न आती।” विवाह के सम्बन्ध में अकबर ने कहा था—“यदि इस समय के समान ही मेरी चित्तावृत्ति पहले भी होती, तो शायद मैं विवाह न करता। किससे विवाह करता? जो मुझसे अवस्था में बड़ी है, उनको माता की दृष्टि से देखता हूँ। जिनकी अवस्था छोटी है, वे मेरी कन्या के समान हैं और जो समान अवस्था की स्त्रियाँ हैं, उन्हें मैं अपनी बहन जानता हूँ” अकबर के ऐसे विचार निश्चय ही जैन धर्म के संमर्ग से उत्पन्न हुए थे।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपनी ‘मुगलसाम्राज्य के पतन के कारण’ नामक पुस्तक में लिखा है कि अकबर अहिंसाधर्म का पालन करता था, जिससे अनेक मौलवी उससे असंतुष्ट थे। इन्हीं मौलवियों के सहयोग सलीम अकबर के विरुद्ध हो गया था तथा सलीम को बग़ावत में सफलता भी ऐसे ही मुसलमानों के सहयोग से प्राप्त हुई जो अकबर की दयालुता के कारण उससे असंतुष्ट थे। वास्तव में अकबर के ऊपर जैन धर्म का असाधारण प्रभाव पड़ा था, इसलिए वह हिंसा, भूटा, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पापों का त्यागी था। सदाचार उसके जीवन का प्रमुख

१—जैन टीचर्स ऑफ अकबर

२—हिन्दी विश्वकोश भाग १ पृ० २५

तत्त्व था। प्रजा के साथ सद्गुणभूति और वात्सल्य का व्यवहार करता था। प्रजा पालन अपना कर्त्तव्य समझता था, कलाकार और साहित्यकार उसके राज्य में खूब फले-फूले थे।

कवि शिखरचन्द—

विक्रम की बीसवीं शती के हिन्दी जैन कवियों में कवि शिखरचन्द का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है। यह प्रसिद्ध कवि वृन्दावन के लघु पुत्र थे। इनकी माता का नाम रुक्मणी था। यह गोयल गोत्री अप्रवाल थे। कवि वृन्दावन का जन्म शाहाबाद जिले के बारा नामक गाँव में सं० १८४८ में हुआ था। इनके पिता का नाम धर्मचन्द्र था। कवि वृन्दावन १२ वर्ष की अवस्था में अपने पिता के साथ बनारस में आगये थे। काशीनाथ आदि विद्वानों की सत्संगति का लाभ कवि को हुआ था। यह काशी में बाबर शहीद की गली में रहते थे। इन्होंने चौबीसी पाठ, तीसी चौबीस पूजा पाठ, छन्दशतक, प्रवचनसार टीका एवं फुटकर अनेक पद्य रचे थे।

सुयोग्य कवि की सन्तान भी कवि ही थी। इनके तीन पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र अजित दास और लघुपुत्र शिखरचन्द कवि थे। विंशति विद्यमान जिनपूजा की प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ कवि ने ग्वालियर के भट्टारक राजेन्द्रभूषण जी के उपदेश से सं० १८३२ में रचा था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्होंने भट्टारक महेन्द्रकीर्ति की गद्दी में रहकर पं० मन्नालाल लक्ष्मीचन्द्र तथा दिलसुख लक्ष्मीचन्द्र से भी शिक्षा प्राप्त की थी। जैन शास्त्रों का पारिङ्गत्य इन्दौर और ग्वालियर के भट्टारकों के पास रहकर प्राप्त किया था; यही कारण है कि इनकी कविता भावनाओं के विश्लेषण के ख्याल से कवि वृन्दावन से भी ऊँचे दर्जे की है। श्री जैन सिद्धान्त भवन में इनकी दो पूजाएँ वर्तमान हैं—विंशति विद्यमान जिनपूजा और जिनसहस्रनाम पूजा। सहस्रनाम पूजा की रचना कवि ने विहारीलाल अप्रवाल के दि० जैन मन्दिर काशी में वि० सं० १८४२ पौषसुदी ८ को की है। ग्रन्थ लिखना मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी को शुरू किया था, एक महीने में यह विशाल पूजन ग्रन्थ लिखा गया है। इस ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या १०७ है।

विद्यमानविंशति जिनपूजा की प्रशस्ति में बताया है—

स्वस्ति श्री काष्ठासंघे भट्टारकललितकीर्तिपट्टस्य राजेन्द्रकीर्तिश्राम्नाय साधुवृन्दावनपुत्रशिखर-
चन्द्रेण इदं विंशतिविद्यमानजिनपूजनं कृतम्; स्वज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं, भव्यजनकल्याणार्थम् ॥

दशकत श्री मूलसंघे बलाकारगणे सरस्वतीगच्छे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये गोपाचक्षपटे श्रीभट्टारक
जिह्वेजिनेन्द्रभूषणस्तपटे श्रीभट्टारकमहेन्द्रभूषणजिह्वेवस्तपटे श्रीभट्टारकराजेन्द्रभूषणस्तेनोपदेशात्

वाराणस्यां नगर्यां श्री शिखरचन्द्रअप्रवालस्तेन रचितं सीमन्धरादिपूजनं भव्यजीवपाठनार्थं शुभम् ।

पत्र शुभ संवत् १९३३ का मिति फागुन वदी ९ चन्द्रवार भट्टारक श्री १०८ महेन्द्रकीर्तिजी गादी इन्दौर लक्ष्मी मन्दिर गोराकुण्ड के पास पट्टेय व्यासवाला के पास पंडित मनालाज लक्ष्मी-चन्द्र विजसुखलक्ष्मीचन्द्रस्तेनोपदेशात् वाराणस्यां नगर्यां श्रीशिखरचन्द्रअप्रवालस्तेन रचितं श्रीगुरु-पाठकारापितम् ॥

जिनसहस्रनाम पूजा के अन्त की प्रशस्ति—

मुनिराज जिनंद कवीन्द्रनि काव्यमयी शुभ नाम बग्वाना ।

ताकर पाठ प्रताप सुनो भवि होइ तुम्हें सुख मिन्धु महाना ॥

पुत्र कलत्र जु मित्र सुवित्त लहै तुमको मन मान प्रधाना ।

शुद्ध सुभाव प्रभाव मिलै मित्र जानहुँ हे गुणज्ञान निधाना ॥

मगसिर सुदि अष्टमी सुदिन कियो आरम्भ उदार ।

पौसमुदी अष्टमी सुबुध पूरन भयो सुन्दार ॥

संवत् विक्रम भूपके जुग गति ग्रह समि जान ।

यह रचना पूरन भई मंगलमुदसुख थान ॥

लिपिकार ने अपना परिचय निम्न प्रकार दिया है—

श्रीकाण्ठासंधे माधुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्याग्निनाये हंसारपट्टे दिव्यजीविहासनाधीश्वर श्री १०८ भट्टारकोत्तम भट्टारक राजेन्द्रकीर्तिस्वरपट्टे भट्टारक मुनीन्द्रकीर्तिलिपिकृतं श्री जिनसहस्रनाम पूजा ॥

जैनागम में वितत भिन्न का आध्यात्मरूप—

यों तो गणितशास्त्र का उपयोग लोक व्यवहार चलाने के लिए होता है, पर आध्यात्म-क्षेत्र में भी इस शास्त्र का व्यवहार प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। मन को स्थिर करने के लिये गणित एक प्रधान साधन है। गणित को पेचेदी नुन्धियों में उलझ कर मनस्थिर हो जाता है तथा एक निश्चित केन्द्रबिन्दु पर अभ्रित होकर आत्मिक विकास में सहायक होता है। जैनाचार्यों ने धर्मशास्त्र में गणित का उपयोग मन को स्थिर करने के लिये किया है। निकम्मा मन प्रमाद करता है; जब तक यह किसी दायित्व पूर्ण कार्य में लगा रहता है, तबतक इसे व्यर्थ की अनावश्यक एवं न करने योग्य बातों के सोचने का अवसर ही नहीं मिलता है। पर जहाँ इसे दायित्व से छुटकारा मिला— स्वच्छन्द हुआ कि यह उन विषयों को सोचेगा, जिनका स्मरण भी कभी कार्य करते समय नहीं होता था। नया साधक जब ध्यान का अभ्यास

श्वीनटर ने सन १५८५-१६३६ ई० में Geometria Practica में वितत भिन्न का उपयोग किया है। पर सिद्धान्त की चर्चा का श्रीगणेश सन १६५५ में प्रकाशित लार्डब्रानकर का समीकरण— $\frac{१}{१} + \frac{१२}{२} + \frac{३२}{२} + \frac{५^२}{२} + \dots \dots \frac{n}{\Delta}$; ऐसा समझा

जाता है कि इनकी कल्पना का आधार वालिस (Wallis) का समीकरण है।

$$\frac{\Delta}{n} = \frac{३ \cdot ३ \cdot ५ \cdot ५ \cdot ७ \cdot ७ \cdot \dots \dots}{२ \cdot ४ \cdot ४ \cdot ६ \cdot ६ \cdot ८ \cdot ८ \cdot \dots \dots}$$

जान वालिस ने अपने पाटी गणित में (१६५६ ई०) माधारण वितत गणित की संसृतियाँ और आरम्भिक सिद्धान्तों की चर्चा की है। ह्यूजेन ने सन १७०३ में सरल वितत भिन्नों का प्रयोग किया है। निकोल सॉन्डरसन (१६८८-१७३९), आयलर और लैम्बर्ट ने वितत भिन्न के सिद्धान्तों का निरूपण किया है लैंगरैजेज ने आयलर के बोजगणित का सम्पादन कर नये नये सिद्धान्तों की चर्चा की है। ए० स्टर्न नामक गणितज्ञ ने १९ वीं शती के पूर्वार्द्ध में इस विषय पर काफी लिखा है। पाश्चात्य गणितज्ञों में वितत भिन्न की संसृति के सिद्धान्त का श्रेय बहुत से गणितज्ञों को है; जिनमें एक स्टर्न साहब भी हैं। इ० वी० वॉन, व्लोक आदि गणितज्ञों ने निस्सीम वितत भिन्न, जिसकी राशियाँ Complex हैं, की संसृति का सिद्धान्त निकाला।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य गणित-जगत में १६ वीं शती के पश्चे वितत भिन्न का प्रयोग नहीं किया गया था। जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों में समस्त जीव-राशि, गुणस्थानों की जीवराशि, मार्गणाश्रों की जीवराशि का प्रमाण निकालने के लिये वितत भिन्न का प्रयोग ध्वलाकार ने नवीं शती में सिद्धान्त निरूपण पूर्वक किया है। ध्वलाटीका के रचयिता श्री वीरसेनाचार्य ने उपर्युक्त जीवराशियों का प्रमाण निकालने के लिये अपने पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के गणित सूत्रों को उद्धृत किया है। निश्चय ही ये गणित सूत्र पाँचवीं शती से लेकर आठवीं शती के मध्यवर्ती काल के हैं। अंख्यात, असंख्यातासंख्यात, अनन्त और अनन्तानन्त के आन्तरिक प्रभेदों और तार-तम्यों का सूक्ष्म विवेचन वितत भिन्न के सिद्धान्तों के आलम्बन विना संभव नहीं था। द्विरूपवर्गधारा, घनाघनवर्गधारा तथा करणीगत वर्गित राशियों के वर्गमूल के आनयन में भी वितत भिन्न का प्रयोग जैनाचार्यों ने किया है।

“असंखेज्जभागकहियसव्वजंवरसिण्णा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? असंखेज्जभाग-हीण सव्वजीवरासी आगच्छदि । उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जभागव्वहियसव्वजीवरासिण्णा तदुवरिमवग्गे भागे हिदे किमागच्छदि ? जहय्यपरित्ताणंतभागहीणसव्वजीवरासी आगच्छदि । अणंतभागव्वहिय

सम्बन्धीवरासिणा तदुपरिमवर्गो भागे हिदे किमागच्छति ? अयंतभागहीयसम्बन्धीवरासी भागच्छति ।
सम्बन्धकारणं पुर्वं च वक्तव्यं । पृथ उवउज्जंतीशो गाहाश्री—

अवहारवद्धिरुवाणवहारादो हु लद्धअवहारो ।
रुवहिश्री हाणीए होदि हु वड्डीए विवरीदो ॥
अवहारविसेसेण य छिएणवहारादु लद्धरू ।
रूवाहियऊणा वि य अवहारो हाणिवड्डीणं ॥
लद्धविसेसच्छिएणं लद्धं रूवाहियऊणं चावि ।
अवहारहाणिवड्डीणवहारो सो मुणेयव्वो ॥'

भावार्थ—असंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर असंख्यातवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है । उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यातवाँ भाग अधिक सम्पूर्णराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर जघन्य परीतानन्तवाँ भागहीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है । अनन्तवाँ भाग अधिक सम्पूर्ण जीवराशि का सम्पूर्ण जीवराशि के उपरिम वर्ग में भाग देने पर अनन्तवाँ भाग हीन सम्पूर्ण जीवराशि आती है ।

उपर्युक्त राशियों के आनयन की प्रक्रिया वितत भिन्न स्वरूप है । इस भिन्न की संसृति द्वारा ही उपर्युक्त राशियाँ निकाली जा सकती हैं । वीरसेनाचार्य ने इसी कारण अपने से पूर्व प्रचलित वितत भिन्न की संसृति के सिद्धान्तों का निरूपण किया ।

भागहार में उसी के वृद्धिरूप अश के रहने पर भाग देने से जो लब्ध भागहार आता है, वह हानि में रूपाधिक और वृद्धि में इससे विपरीत—एक कम होता है ।

भागहार विशेष से भागहार के छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या आती है उसे रूपाधिक अथवा रूपन्यून कर देने पर वह क्रम से हानि और वृद्धि में भागहार होता है ।

लब्ध विशेष से लब्ध को छिन्न—भाजित करने पर जो संख्या उत्पन्न हो उसे एक अधिक अथवा एक कम कर देने पर वह क्रम से भागहार की हानि और वृद्धि का भागहार होता है ।

$$\text{सिद्धान्त—} \frac{अ}{व} = क \text{ तो } \frac{अ}{व + \frac{ब}{न}} = क - \frac{क}{न + १} ;$$

$$\text{और } \frac{\text{अ}}{\text{ब} - \text{न}} = \text{क} + \frac{\text{क}}{\text{न} - १} \quad | \quad \text{यदि } \frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{क} \text{ तो } \frac{\text{अ}}{\text{ब} + \text{स}} = \text{क} - \frac{\text{क}}{\text{स} + १}$$

$$\text{और } \frac{\text{अ}}{\text{ब} - \text{स}} = \text{क} + \frac{\text{क}}{\text{स} - १} \quad | \quad \text{यदि } \frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{क} \text{ और } \frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{क} + \text{स} \text{ तो } -$$

$$\text{ब} = \text{ब} - \frac{\text{ब}}{\text{स} + १}; \text{ और यदि } \frac{\text{अ}}{\text{ब}} = \text{क} - \text{स}, \text{ तो } \text{ब} = \text{ब} + \frac{\text{ब}}{\text{स} - १} \quad |$$

इस प्रकार जैनाचार्यों ने आत्मिक विकास के लिये वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त निरूपण के साथ ई० सन् की पाँचवीं या छठवीं शती में किया है।

भारतीय अन्य गणित शास्त्र में वितत भिन्न का प्रयोग सिद्धान्त प्रतिपादन के रूप में भास्कराचार्य के समय से मिलता है। यों तो आर्यभट और ब्रह्मगुप्त के गणित ग्रन्थों में भी इस भिन्न के बीजसूत्र वर्तमान हैं, परन्तु सिद्धान्त स्थिर कर विषय को व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने तथा उससे परिणाम निकालने की प्रक्रिया उन ग्रन्थों में नहीं है। धवला टीका में उद्धृत गाथाओं में वितत भिन्न के सिद्धान्त इतने सुव्यवस्थित हैं, जितने आज पाश्चात्य गणित का सम्पर्क या वितत भिन्न के सिद्धान्त स्थिर हुए हैं।



THE JAINA ANTIQUARY

VOL. XVI

DECEMBER 1950.

No. II

Edited by

Prof. A. N. Upadhya, M. A., D. Litt.

Prof. G. Khushal Jain, M. A., Sahityacharya.

Sri, Kamata Prasad Jain, M. R. A. S., D. L.

Pt. K. Bhujbali Shastri, Vidyabhushan.

Pt. Nemi Chandra Jain Shastri, Jyotishacharya.

Published at :

**THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA**

Annual Subscription

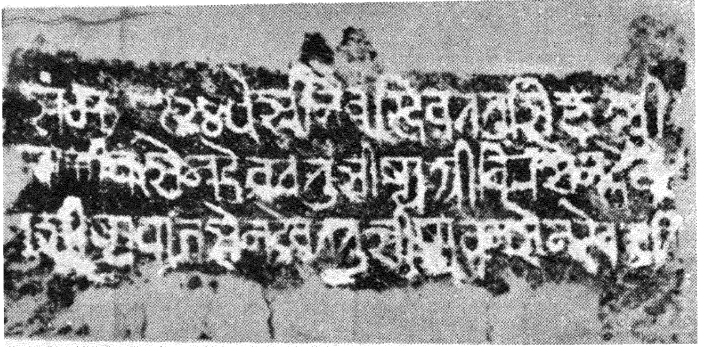
Inland Rs. 3.

Foreign 4s. 8d.

Single Copy Rs. 1/8

CONTENTS.

	Pages.
1. An Inscription on a Jain Image from Patur. Akola —Sri Asoke Kumar Bhattacharyya, M. A. ...	39
2. Jain Gurus of the name of Puiyapada —Sri Jyoti Prasad Jain, M. A., LL. B. ...	46
3. History of Mathematics in India from Jain Sources —Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc., D. Sc., ...	54
4. Renascent India and Vaisali — Prof Sita Rama Singh, M. A. ...	70
5. Contributions of the Jainas to Hindi Literature —Sri C. S. K. Jain, M. A. ...	73



An Inscription on a Jain Image
from
Patur, Akola



Om

JAINA ANTIQUARY

“ श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य ज्ञासनं जिनज्ञासनम् ॥ ”

[अकलंकदेव]

Vol. XVI
No II

ARRAH (INDIA)

December
1950.

AN INSCRIPTION ON A JAINA IMAGE FROM PATUR, AKOLA.

By

Sri Asoke Kumar Bhattacharyya M. A.

About a year ago Mr. S. S. Patwardhan, Curator, Central Museum, Nagpur very kindly sent me at my request a number of photographs of some interesting Jina images preserved in his Museum, along with which an ink-impression of an inscription over the image of Suvidhi from Patur, Dist. Akola, was also sent. The present note is based on a reading of the inscription from the said ink-impression a photograph of which is reproduced here and I must acknowledge here the courtesy shown to me by Mr. Patwardhan in this regard and the help rendered by Mr. R. Gupta, Photographer, Indian Museum, Calcutta.

The inscription in three lines is written in the North Indian characters of the 12-13th Cent. A. D. and the language is Sanskrit which is very much corrupt. The writing occupies a rectangular space measuring $10\frac{1}{2}'' \times 3\frac{1}{2}''$, and the most interesting point to note here is that the letters vary considerably in their shape and size, some portion of the beginning of line 2 seems to have been peeled off rendering the reading of the text well nigh impossible in that portion.

The inscription refers itself to the year 1245 of the Vikram Samvat very peculiarly indicated by Saṁ Ma[r̥i] for Saṁ Vat, corres-

ponding to 1188 A. D. The text of the inscription is extremely corrupt, as noted above. So far as orthography is concerned (dental) S is invariably used for Ś (palatal) except once e.g. Sri for Śri (line 1), siṣya or siṣya for śiṣya (lines 1 & 2). Indiscriminate use of the long ī and the short i, e.g. Virasena for Virasena, siṣya for siṣya (both line 2) and so on, violation of the rules of euphonic combination e.g. devatat = sīṣya for devastat = śiṣya, siṣya Sri for śiṣyah śrī etc., are also some of the noticeable points in the orthography of the text. The variant forms of the subjoining "ya" deserve mention in this connection, thus: in (line 1) and (line 2.).

The importance of the inscription lies in the succession list of Jain Pontiffs it supplies us with beginning from a certain Śri N [ai] vīradeva. It is said that this N [ai] vīradeva had a disciple Sri [Māṇi] ka (Māṇikāya) deva whose disciple was Śri Vi (ī) ra sena deva whose disciple was pā [r̄n] ga sena deva, the last having a disciple in V [ra?] na sena deva. The Gaccha or the Gaṇa is not mentioned.

The text is read as follows :

Line 1. Saṁ ma [m̄] 1245 S (Ś)ri N [ai] vīradeva tats (ś)ṣya S(Ś)ri

Line 2 [Māṇi] ka (Māṇikya) senadeva tat S (ś) ī (i) ṣ ya Śri
Vi (i) resenadeva [ta—]

Line 3. t si (śi) ṣya Pā [r̄n] gasenadeva tat si (śi)ṣya V [ra?] na
senadeva iti [1].

The line of Jain teachers mentioned in the inscription is not otherwise known although from the names it appears to be some branch of the Sena gaṇa to which Vira sena, the author of Dhavalā commentary and Jina sena, the author of Ādipurāṇa belong. Of this Sena gaṇa we get a certain Lakṣmisenā belonging to the Mūla Sangha and Saraswati gaccha. He flourished in the 16th. cent, A.D. and pertained to the line of Kundakunda.¹ In this connection we may make reference to the Paṭṭāvali of the Senagaṇa² published in the J. A. Although there occur such names as Mānikasena, Virasena etc. the order of succession does not tally at all with that in the present inscription.

1. *Vide, Pratimā lekḥa Sangraha* by K. P. Jain, p. 25, no. 54.

2. A Paṭṭāvali of the Senagaṇa-by A.N. Upadhyaya, (J.A. Vol. XIII. 2. p. 1)

DO ANCIENT JAIN BOOKS SHED ANY LIGHT ON ANCIENT HISTORY ?

By

Sri. L. A. Phaltane B. A. LL. B. Pleader, Islampur (Satara).

Due to ignorance or to their fear of their sacred books being polluted by the touch of non-Jain hands, the Jains have upto now been very careful not to publish their ancient literary treasures or allow them to be touched by foreigners. According to my opinion if proper interpretations, consistent with the discoveries made by modern scholars of history, are put upon the contents of the Jain ancient book it would be possible to speak with some certainty about the ancient date of the teaching of Jainism. It must be borne in mind however that the Jain thinkers of old never thought it proper to reduce their knowledge or learning to writing; that they generally avoided Sanskrit language for imparting religious and secular teaching; that they always encouraged the use of the then prakrit languages which were in vogue among the public in those days and that their knowledge came down to posterity by oral teaching from preceptor to disciple.

This went on well until so long as the school of Jain thought continued to remain strong and continuous and well adjusted with the other elements of human life. But during some centuries before Christ, decadent tendencies began to appear in the Jain School and the Jain sages began to perceive that their knowledge was gradually disappearing. So about the beginning of the Christian era the great Jain Acharya Shri Umaswami composed a book named 'Tatwartha-Sutra' in Sanskrit in which all the Jain tenets are enumerated in condensed Sutra form. This, therefore is the first Sanskrit written work among the Jains acknowledged as true and complete by all the three important Jain Sects—Digambara Swetambar and Sthanakwasi. After this book came into existence, numerous commentators arose who have written books of extensive commentaries which are available at present. But it must however be remarked that 'Tatwartha-Sutra' is the main authoritative code of the principles of Jainism and the readers are requested to look to it primarily to

ascertain what true tenets of Jainism are and to try to interpret those principles in the light of the modern discoveries and inventions.

We would like to draw the attention of the readers to the following extract taken from the issue of 8-2-33 of 'Times of India' at page 14 under the caption "Vanished Country Traced-Sea Land."

"Evidence that, beginning about 4400 years ago there existed a country now entirely blotted out, which comprised an extensive portion of the Arabian peninsula and was known as the 'Country of the Sea or the Sea Land' is announced by the Professor Raymond P. Dougherty of Yale University.

'The Sea Land' played a major role in the history of the south western Asia for 2000 years, until about 500 B. C. he declares. It was contemporaneous with the ancient nations of biblical times and had a highly developed culture which flourished and died leaving its imprint on the early civilizations developed in the Tigris-Euphrates Valley.....".

Dr. Dougherty gained his conception of the Sea Land's location and political importance by the careful comparison and correlation of all the references left disconnected in the numerous texts of the Babylonian and Assyrian literature. If therefore we can find from the Sutras in the Jain book Tatwartha Sutra or rather if we can, by interpreting those sutras in the light of the discoveries, find that those sutras enable us to conceive that some such state of things must have existed in ancient days, it would be possible for us to presume that those Sutras or their original ancient forms must have been as old as the time given by Dr. Dougherty in the above extract,

For this purpose we shall have to take into consideration the Sutras which appear in the third Chapter of the 'Tatwartha Sutra'. The Sutras 1 to 6 of that Chapter give information regarding the Nāraka beings while the rest of the Chapter deals with the description about continents, seas, mountains, rivers etc. on the earth. The ideas about hell and hellish beings (Nārakas) entertained by the Christian and Muslim religionists are different from those of the religions of the Indian origin while those found in the Jain religious books show considerable difference from the ideas of their Hindu brother religionists. It appears that the Jain books locate the Nāraka

beings to the south or the lower place and they place the rest of the world to its north, and then the 4th Chapter of the book deals with Vaimanic gods who are shown to be moving in the air without support of the earth.

The first Sutra of the third Chapter runs as follows .—

रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमो महातमःप्रभा-

भूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाःसप्तधोऽधः ॥१॥

Ratna Sharkarā Vālukā pankā dhuma tamo Mahātamahprabhā
Bhoomayo Ghanāmbuwātākāsha Pratisthah Saptadhoh 1.

Meaning :—Seven regions of the earth lie one below the other and their names are Ratnaprabhā, Sharkarāprabhā, Vālukāprabhā, Pankaprabhā, Dhumaprabhā, Tamoprabhā and Mahātamahprabhā. These are surrounded by deep water air and sky.

Now what must have been the location of these regions is to be ascertained. Ratna (रत्न) in Sanskrit means both a jewel and shining sand and hence Ratnaprabha would mean a region mainly consisting sand, sandy shore of a sea. Along with this the commentary under Sutra 10 of the 4th Chapter of the book must be read which is as under :—

रत्नप्रभायाःपंकबहुलभागे असुरकुमाराणां भवनाति, खरपृथिवीभागे

उपर्यधश्च एकैक्योजनसहस्रं वर्जयित्वा शेष नवानां कुमाराणामावासाः

Ratnaprabhāyah Pankabahulbhāge Asoorkumārānām Bhawanani
Khara Prithivibhāge Uparyadhascha ekaika Yojansahasram Var-
jayitwa Shesha navānām kumārānāmāvāsāh.

Meaning :—The residences of Asurakumāras are to be found in the part which is watered by (literally which mainly consists of) the mud of Ratnaprabhā. The remaining nine kumāras reside on dry earth in low and high lands leaving one thousand Yojanas each.

The tenth Sutra of the fourth Chapter deals with ten kinds of tribes. (Kumāra means a tribe). The first two of which are Asurakumār and Nagakumar and these two are necessary for this article. The Asura tribe mentioned in the Sutra can be identified by the Assyrian people who had a flourishing civilization in olden days in the valley of the Euphrates and Tigris rivers. Above them that is to the north of that territory comes the territory inhabited

according to that Sutra by the Naga tribe. The Greek traditions, Assyrian mythology and the Indian Purānas also give the same place for the Naga tribe. We, thus, come to the conclusion that Ratna-prabhā of the Jain Sutra must mean the Persian Gulf which is a part of the Arabian sea. The remaining six Prabhās are below the first (अधोऽधः one below the other). They are described as Bhumis or lands. The commentary below the third Sutra of the third Chapter mentions the colour or complexion of these people.

प्रथमद्वितीययोः कापोतीलेश्या, तृतीयायामुपरिष्ठात्कापोती, अधोनीला, चतुर्थ्या, नीला पंचम्यामुपरिनीला अधःकृष्णा, षष्ठ्यां कृष्णा सप्तम्यां परमकृष्णा

Prathama Dvitiyayoh Kapoteeshya, Triteeyāmuprishtāt kapotee Adhoneela, Chaturthyāmneela Panchamyāmupari neela Adhah Krishna, Shashtyām Krishna Saptamyām Param Krishnā.

Meaning :—The complexion of the Narakas of the first and second lands is grey or dirty white. The upper part of the third is grey while that of the lower part is blue. The complexion of the beings in the fourth division is blue. The people of the upper part of the fifth land have blue complexion while those of the lower part of the land have dark complexion. The complexion of the inhabitants of the sixth land is black and that of the seventh very black.

Southward one goes from the mouth of the Euphrates complexion of the people grows darker and darker.

The fifth Sutra of the Third Chapter of Tatwartha Sutra runs as under :—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥५॥

Sanklishtāsurodeeritdukhāsch Prāk chaturthyām: /5/

Meaning :—The miseries of the people upto the fourth land are caused by the infuriated Asuras.

The Assyrian mythology contains stories that the Assyrian people had subjugated the first three of the seven lands which stood to the south of their country.

We take the following line from a verse in Manusmriti.

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः

Āpo Nārā iti procta āpo Vai Narasoonvah

Meaning :—Āpa i.e. water has nārā as its equivalent;

Waters are also called sons of Nara.

From this, the word 'Nāra' or 'Nara' would mean a son of water or an island man or a sailor. Even now in Satara district there are several families which have got Narake (नरके) as their surname.

All these references and arguments go to show that the Naraka beings described in the third Chapter of the Tatwartha Sutra are no others than the people who dwelt in lands which spread far and wide at one time in the Arabian sea and which were known as Sea lands or Narakas. We can further infer that the original form of the Sutras from which the 6 Sanskrit Sutras No. s 1 to 6 of the third Chapter of the Tatwartha Sutra were formed must be as old as four thousand and four hundred years.

JAINA GURUS OF THE NAME OF PUJYAPADA.

By

(Sri Jyoti Prasad Jain, M.A., LL B)

(Continued from Vol. XVI. No. 1, p. 6.)

Of these so many different Pujyapadas, the one referred to in no. 18 above, seems to be the latest. The inscription³³ is of a very late date and the Gurus mentioned in it were probably the later Bhattarakas of medieval times, who were associated with the Jaina establishment of Karkala. The famous statue of Bahubali at Karkala was installed by Vir Pandya Bhairrasa the ruler of that place in 1431-32 A.D.³⁴ Since then Karkala became quite an important centre of Jainism. According to the colophon of Daśa Bhaktyādi-mahasastra (completed in 1542 A. D) by Vardhamana Munindra,³⁵ one Dharma-bhusana Bhattaraka had for his devotees the Vijyanagar emperor Devaraja (1429-1451 A.D.) and also Sankappa Sresthi, a noble of his court. This Dharmabhusana seems to have been associated with Karkala, Charukirti and Srutakirti who just precede him in the inscription, are also mentioned in the same order in this colophon. And one Bhattaraka Charukirti, the author of Gita-Vitrage lived in circa 1400 A.D.³⁶ According to the same colophon one Srutakirti was revered by king Sabevaraya with whose immediate successors, Malliraya, Sangiraya etc., Vadi Vidyanand (died 1541 A.D.) the most prominent Jaina Guru of that century and a respected colleague of the author, also came in contact. This Vidyananda was also associated with Karkala. Hence the Pujyapada Swami of this inscription, who was in the time of Charukirti, Srutakirti and Dharma-bhusana, and was most probably a Bhattaraka of Karkala, may be placed in circa 1500 A.D. He may have belonged to still later times since in such lines of Gurus same names, often the same succession of names are many a time found repeated; but

33. M. A. R. (1920-21), p. 8.

34. Prasasti Sangraha (Arrah), p. 39.

35. *Ibid*, pp. 120-149.

36. *Ibid*, p. 4, 65.

in no case did he live much prior to the beginnig of the 16th century. Nothing else is known about him.

The Pujiyapada Vrtipa (no. 17) mentioned by Pandya Kshmapati in the beginning (v. 8) of his Bhavyananda Sastra,³⁷ soon after Nagacandra and Devacandra, the author's own immediate Gurus, also seems to have been an earlier Bhattaraka or Guru associated with Karkala and being contemporary of these persons, must be assigned to the first half of the 15th century i.e. circa 1450 A.D.³⁸ It is also possible that the two Pujiyapadas so far discussed might have been identical.

The Pujiyapada muni referred to in no. 14, as the Guru of Mangaraja, the author of Khagendra-mani-darpana (c. 1360 A.D.) and described there as a great master of the science of medicine,³⁹ must have belonged to the early part of the 14th century A.D. His medical achievements and writings seem to have become quite celebrated. The famous Pujiyapada (no. 15) who had conducted his experiments in alchemi (Sidharasa) on a hill with the basadi of Parswa Jina on it, near the town of Pugataka in Karnataka, as mentioned by Devarasa in his Gurudattacharita (1650 A.D.)⁴⁰, is most probably identical with the Guru of Mangraia. The several later works on medicine as referred to in no. 19, such as the Vaidya-sara or Vaidyasara sangraha⁴¹, Madan-Kama-ratnama⁴², Nidana-muktavali⁴³ etc. also seem to be the creations of this very Pujiyapada, because about the two Bhattarkas of Karkala nothing is known of their proficiency in medicine. Some non-Jaina medical writers like Basavaraja, Nityanatha, the authors of Madhavanidana, of Rasaratnasamuccaya etc. also refer to Pujiyapada as a medical

37. *Ibid*, p. 34.

38. *Ibid*, pp. 36-39.

39. Karnataka Kavicharite, I, p 412-422

40. *Ibid*, pp 391-392.

41. PS., p 151.

42. *Ibid*, p. 13.

43. *Ibid*, p 15.

authority⁴⁴, and most of these references seem to indicate the same Guru of circa 1300 A.D.⁴⁵ No doubt, a very much earlier Pujyapada was also a great authority on that science, but the nature, style and language of those works and references preclude any possibility of their being written by the author of Jainendra, Sarvarthasidhi etc. Even this Kalyanakaraka referred to by Vijvanand Upadhyaya as the basis of his Sarasangraha⁴⁶ is either the creation under an older name of Mangaraja's Guru or is a later recession of Jagadalla Somnath's work (referred to in no. 9) which purports to be Kannada rendering of the original Kalyanakaraka of the older Pujyapada.

According to a South Indian tradition, Sidha Nagarjuna a famous alchemist of South India was the sister's son and desciple of the great master Pujyapada yogi⁴⁷ Some people confuse this alchemist Nagarjuna with the famous Buddhist savant of that name who belonged to the early centuries of christian era and hence have also concluded that the Pujyapada to whom he is said to have been related must have been the original Pujyapada alias Devanandi of 5th century A.D. Dr. Saletore is, however, doubtful and asks himself,

44. Kalyanakaraka (Sholapur), Intro pp. 32-33.

(i) Basava Rajiva:—at the end of 'अगोनि वा गनां कालाग्निद्रयोऽग्नि तुगडीवा' योग is written 'पूज्यपाद विनिर्मितः' (Ch. E. p. 103), at the end of 'अमणाडिवातानां (गन्धक रसायनम्)' is written 'मनुष्याणां हितार्थं द्वि पूज्यपादेन निर्मितः' and 'वायादि रोगाणां भिक्षुटारि-नम्यम् (पूज्य पादीये)'—(Ch 6 p. 110), and at the end of p 111—'पूज्यपाद कुपो योगो नराणां हित व्याप्तया', in another place—'विद्वर दर्पण तद्रूपपूज्य-पादीय मेव च' etc.

(ii) Nityavathiya:—at the end of 'ज्वराणां चण्डभानुरसः' is written 'नाम्नायं चण्डभानुरसकृतगदहरो भावितःपूज्यपादेः' and at the end of 'शोधमुगदररसः' is said 'शोधमुगदर नाम्नायं पूज्यपादेन निर्मितः'

(iii) Madhava Nidana (Ch. 1, p. 30)—'पूज्यपादोपदिष्टोऽयं सर्वज्वर गजांकुश'

(iv) Rasa-ratna-samuccaya in one place mentions 'कपोरी पूज्यपादग्व' etc.

(v) Many other Yogas found scattered in medical literature of S. India are ascribed to Pujyapada.

45. V. P. Sastri in his Intro. (p 34) to Kalyanakaraka, however, holds that all these references refer solely to the first Pujyapada of 6th century A.D. But he evidently appears to have been mistaken

46. PS. p 149.

47 Kavicharite, I. pp. 11-12. It says that 'another Jaina writer who also wrote on medicine was Nagarjuna who was Pujyapada's sister's son and was a famous alchemist and Tantric scholar'

'was he the same as Nagarjuna of Buddhist tradition or a different person ?'⁴⁸ In fact, there is absolutely no ground for any of the two above mentioned identifications. The Jaina Nagarjuna who was a famous alchemist and tantric scholar is quite a different person and must have been related to the later Pujyapada yogi of C. 1300 A.D. No doubt, the famous Sidha School of medicine of South India, which is quite characteristic of and quite in keeping with the non-violent creed of the Jainas, which totally denounced the use of flesh, wine etc. owed its development particularly to Jainas. The first Pujyapada might have been responsible for its origin, but it was the later Pujyapada of C. 1300 A.D. alongwith his celebrated disciple and nephew Sidha Nagarjuna who set the school on a sound footing and succeeded in popularising it as a definite system. According to Munindra Vardhaman's account the famous statue of Parswa Jina in the the Parswa-basadi on Mount Kankachala was installed by Nagarjuna.⁴⁹ It appears that the Parswa-basadi mentioned by Devarasa is the same and the hill containing it, which was situated near the town of Pugataka in Karnataka, and on which the famous Pujyapada is said to have conducted his experiments in alchemy (Sidha-rasa) and yoga⁵⁰ was this very Kanakachala (the Golden mountain).

As to the Pujyapada yogi (no. 13) who rendered into Kannada the Prakrit Satapadi of Vasavachandra as mentioned by Payanvarni who himself wrote the same work in Sangalya metre in 1659 A.D., he obviously preceded Payanavarni and came after Vasavachandra. This Paynamuni had completed his Sanatkumar charta in 1606 A.D.⁵¹ The Kattule Basadi record⁵² of Sravana-Bela-Gola informs us that the colleagues of Vasavachandra were Devendramuni, Prabhacandra the grammarian and logician who was paid homage to by king Bhoja of Dhara, Dawanandi, Maghanandi, Maladharideva,

48. Med. Jainism, p. 267.

49. PS. p. 123 Fri.

50. Kavicharite p. 11-12; also Pujyapada Charita.

51. Kavicharite p. 352.

52. E. C., II 69, p. 35.

Yasakirti who was honoured by the king of Ceylon, and Trimusbh-muni the desciple of Gopanandi. Gandavimukta-maladhari Hemacandra was another desciple of this Gopanandi and thus seems to be identical with the Maladharideva mentioned above. And Gopanandi lived in the reign of Vikramaditya VI Tribhuvanamalla,⁵³ while the Hole-Belagola stone inscription assigns him to A.D. 1094.⁵⁴ The date of his another contemporary Prabhadra who was patronised by King Bhoja and also perhaps by his successors King Jayasimha of Dhara, and who in the capital city wrote his famous works Prameya-Kamala-martanda, Nyaya-Kumuda-candra, Sabdam-bhoja-bhaskara, Kathakosa, Ratnakaranda-Tika etc. is fixed as circa 1010-1080 A.D.⁵⁵ This shows that Vasavacandra must also belong to the 11th century. Hence the Pujyapada yogi referred to in no. 13 might have lived any time between 1100 and 1600 A.D. He could be identical with any one of the three Pujyapadas so far discussed, but the epithet yogi attached to his name indicates that he was probably the same person as Mangaraja's Guru the alchemist or, he might have been quite a different person.

One Pujyapada (no. 12) is mentioned by Ayyaparya in his Jinendra-Kalyanabhyudaya (completed in 1320 A.D.), as the author of a Pratishtapatha.⁵⁶ These works dealing with the rules, regulations and rituals of the consecrational ceremoniale commenced to be written very late and were much popularised by the Bhattarakas of the Medieval period. Practically no scholar prior to the 8th or 9th century is known to have written any Pratishtapatha. At least the authorship of no Pratishtapatha is anywhere attributed to the Pujyapadas referred to in nos. 1 to 11. Of the other eight writers of this type of works mentioned by Ayyaparya, most of them are later Bhattarakas or laymen. Of these, Asadhara, Ekasendhi and Hastimalla belong to the 13th, Vasunandi to the 12th and Indranandi to the 11th century A.D. Of the remaining three writers,

53. MJ. p. 55.

54. E. C. V. cn. 148, pp. 189-190.

55. D. L. Kothia—Anekant VIII, 12, pp. 466-469. Pt. Mahendra Kumar, however, assigns him to 980-1065 A. D. (See Anekant IV, 2, pp. 124-132).

56. PS., p. 104.

Jinasena, Gunabhadra and Viracarya, the two famous Jinasenas—the author of Harvamsa (783 A.D.) and the author of Adipurana, Parswabhyudaya and Jayadhavala (837 A.D.), as also the latter Jinasena's desciple Gunabhadra who was the author of Atmanusasana and Uttapurana (898 A.D.) are not known to have written any Pratishtapathas. Similar is the case with regard to Viracarya or Mahaviracarya the famous mathematician of the 9th century A.D.⁵⁷ Hence the Pujiyapada mentioned herein was either the Pujiyapada Yogi of C. 1300 A.D. who besides being a Yogi, an alchemist, a physician and a medical writer was also probably the author of the Kannada Satapadi or Jñana-candra Charita, a poetical narrative, or he must have been some other Pujiyapada who lived any time between C. 900 and 1300 A.D.

Now by far the most celebrated, wellknown and popular guru of this name was Pujiyapada Devanandi alias Jinendra budhi referred to in no. 1. His original name was Devanandi. Jinendrabudhi and Pujiyapada were his titles, although he has been generally known and referred to simply by the latter name. He belonged to Karnataka, probably the southern part of it which then comprised the Ganga territory, and was an Acarya of the Nandi Samgha, a branch of the Mulasangha of Kundakundaya's anvaya. He was undoubtedly the author of Jainendra Vyakarana, the Sarvarthasidhi Tika of Tattvartha Sutra, Samadhi-tantra or Samadhi-sataka, and probably also of Iṣtopadesa and of Sidha-bhaktyadi-sangraha. We begin to find numerous references to him and to his works in literature as well as epigraphical records from as early as the 7th century A.D. And all these references make him a very prominent and ancient Acarya who has always been remembered alongwith other ancient celebrities like Bhadrabahu, Kandakunda, Umaswami, Samantabhadra, Aklanka etc. But he is invariably placed soon after the first four, in the same order, and before Aklanka, Virsenā, Jinasena, Vidyananda etc. So there remains no doubt that the Pujiyapada thus referred to in the various Guruvavalis and epigraphical records (mentioned in no. II) which we shall presently discuss, is this Pujiyapada Devanandi and none else. And it is he who is mentioned in the Pattavali

57. C. M. Duff—'Chronology of India' gives Viracarya's date as A. D. 810.

of the Nandi Sangha (referred to in no. 2) according to which he was the tenth Guru of that line. A second Pattavali of that Sangha which is in Prakrit and is most probably older than the first one, also confirms this fact except with regard to dates, as we shall see later on.

According to the evidence of the Darsanasara (no. 3), he was the Guru of Vajranandi who was the founder of the Dravidasangha. But from the above-mentioned Pattavalis it appears that Pujyapada was not the immediate preceptor of Vajranandi and that two other Gurus, Jayanandi and Gunanandi had intervened in between them, and also that Vajranandi came 58 years after Pujyapada's death. The Darsanasara which was written by Devasena who belonged to Ujjain in Vik. S. 990 (A.D. 933), gives the traditional date of the foundation of the Dramila (or Dravida) Sāᅅgha by Vajranandi as V. S 526 (A.D. 469).⁵⁸ He does not associate himself with any Sanghas but in his work he gives the origins of several later sanghas, particularly of those which he thought were not quite orthodox and were merely Jainabhasa or pseudo-Jaina. He is often vague and I think should not be much relied upon unless supported by some other more reliable evidence. Moreover, because he belonged to northern India and particularly to the Ujjain region, and so was used to the Vikrama era alone, he gives all the dates in that era. It is very likely that with regard to South Indian traditions he wrote merely from heresay and although accepted the figures of the dates he did not pay any attention to their era which probably was Saka, since in the South Saka era was much more popular and current than the Vikrama era. Hence it appears that this particular date might have been Saka 526 (or A.D. 604). Anyway, this piece of evidence at least establishes the fact that Vajranandi came sometime after Devanandi Pujyapada and that the former could not have lived much beyond circa 604 A.D. This means Pujyapada Devanandi cannot be placed later than the middle of the 6th century A.D. The sequence of these two Gurus is established not only by the

58. JBRAS.—XVII p. 74; SJJ. p. 21-22; Hist of Tamils p. 247; Studies in Tamil Lit. p. 21-22; Upadhye—Introd. to Pravacanasara p. XXI; Hiralal—cat. Mss. p. 652—on its p. XXX the author attributes the foundation of the Dravida sangha to Pujyapada whom he calls its first acarya.

Darsansara and the Pattavalis but by other evidences as well while Vajranandi's connection with the Dravida or Dramila sangha is also corroborated by certain epigraphical records, particularly by the inscription of Saka 1059 (A.D 1137) discovered on the ceiling of the Somanayiki temple situated in the compound of the Ramanujacarya temple in the Balur Taluka.⁵⁹ This inscription mentions him alongwith Samantabhadra, Patrakesari, Vakragriva, Sumati Bhattaraka and Samayadipaka Aklanka. Herein Vajranandi is placed after Patrakesari swami and is described as the head of the Dramila-sangha (श्रीमद्द्रामिलसंघाप्रेशरर ..). The inscription of 1129 A. D.,⁶⁰ however, places Vajranandi immediately after Vakragriva and before Patrakesari who by the grace of Padmavati is said to have refuted the trilanana theory. This record also tells us that Vajranandi was the author of Navastotra 'an elegant work embodying the variety of the teachings of all the Arhatas.' The record of A.D. 1160⁶¹ says that the Arungula-anvaya of Dramila sangha came down increasing from Bhutabali and Puspadanta, from Samantabhadra and Aklankadeva, from Vakragriva, from Vajranandi and others down to Vasupujya Swami. The same with slight variations is repeated in the record of 1169 A.D.⁶² Hence there is no doubt that the Pujyapada referred to in Darsanasara as the Guru of Vajranandi was no other than Pujyapada I Devanandi⁶³ The epigraphical records (referred to in no. II) provide sufficient corroborative material to fix his identity and to enable us to distinguish him from the other and later Pujyapadas. (To be continued.)

59. E. C. V BE. 17, p. 51.

60. E. C II 67, pp. 25-26.

61. E. C. VI Kd 69 p. 13.

62. E. C. V Ak. 1, p. 112.

63 The evidence of Darsanasara has been accepted by Ramaswami (Studies, p 52), Srinivasa Ayenger (Hist. of the Tamils, p. 247), Ramachandra Divitar (Studies in Tamil Lit p 21-22) etc. But Dr. Saletore (in MJ., p. 238) thinks that the epigraphical records invalidate the assertion of Darsanasara. Hence he disregards the date given by it and places it in the last quarter of the 9th or first quarter of the 10th century. He has, in fact himself confused the evidences of those records and of the traditions, and is thus quite mistaken in his conclusions about the division of the Digambara Mula Sangha and about the dates of Arhadbali, Bhutabali; Puspadanta etc.

HISTORY OF MATHEMATICS IN INDIA FROM JAINA SOURCES

By

Dr. Sri A. N. Singh, M. Sc, D. Sc., Etc Lucknow University.
(Contd. From Page 46 Vol XV No. II).

GEOMETRY AND MENSURATION

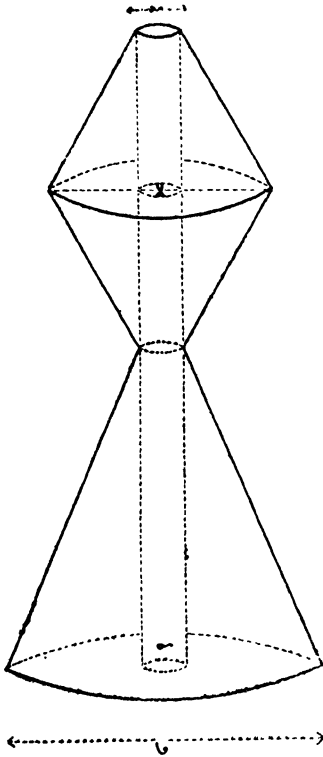
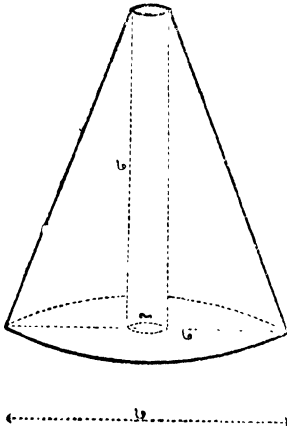


Fig. 1.

The Hindus were acquainted with the formulae for finding out the areas of the parallelogram, the trapezium, the cyclic quadrilateral, the triangle, the circle and its sector. Formulae for the volumes of the parallelepiped, the pyramid on a plane base, the cylinder and the cone were also known. The Hindu works, however, do not give us any inkling as to how these results were obtained. In the Dhavala we find a full description of a method for finding out the volume of a frustum of a cone. This description shows that the method used in India for the study of geometry was quite unlike that of the Greeks. The principle of deformation of a given area or

volume into a simpler area or volume without change of area or volume has been employed in the demonstration referred to above. It is possible now to reconstruct the proofs for the mensuration formulae found in the works of Hindu and Jaina mathematicians. We shall attempt such a reconstruction. But before doing that, we give below the original text of the Dhavala along with its translation.

The problem is to find the volume of the Universe which is supposed to be of the form of three conical frustums placed one on top of the other as shown in fig. 1. The dimensions are shown in the figure. The volume of the Universe is calculated in the Dhavala.



The following extract refers to finding the volume of the lowest frustum, whose dimensions are (see fig. 2)

- Diameter of base = 7 units
- Diameter of face = 1 unit
- Height = 7 units.

Fig. 2

The commentary proceeds as follows :

Edassa muhatiriyavaṭṭassa egāgāsapadesabāhallaṣṣa pariṭhao ettio hodi $\frac{3.5.5}{1.1.3}$. Imamaddheṇa vikkhambhaddheṇa guṇide ettiyaṃ hosi $\frac{3.5.5}{4.5.2}$. Adhologabhāgamicchāmo tti sattahi rajjūhi guṇide khāyaphalamettiyāṃ hodi $\frac{5.2.2.5}{4.5.2}$.

Of this; the horizontal circular boundary at the face having the uni-dimensional thickness has (its) circumference (of length) this: $\frac{3.5.5}{1.1.3}$. Half of this multiplied by half of the diameter becomes this: $\frac{3.5.5}{4.5.2}$. Now we want to find out (the volume of) the lower portion. (The above obtained area) being multiplied by seven will yield $\frac{5.2.2.5}{4.5.2}$ for the volume of the hollowed space. (i.e. the volume of the cylinder which we take out.) (See fig. 2)

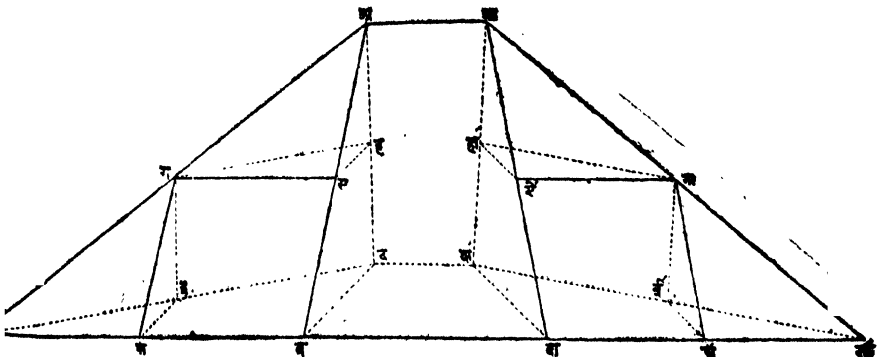


Fig. 3

Puṇo ṇissûikhettaṃ coddasa-
 rajuṃyadam do khaṇḍāṇi kariya
 tattha heṭṭhimakhaṇḍam ghetṭūṇa
 uddham pāṭiya pasaride sup-
 pakhettaṃ hoṇṇa cheṭṭhadi.
 Tassa muhavitttharo ettiyo hodi
 $\frac{355}{113}$. Talavitttharo ettiyo hodi
 $21\frac{112}{113}$. Ettha muhavittthareṇa
 chindide do tikoṇakhettaṇi eyam-
 ayadacaurassakhettaṃ ca hoi.

Tattha tava majjhimakhetta-
 phalamaṇiṇjada : Edassa usseho
 satta rajjūo. Vikkhambho puṇa
 ettis hodi $\frac{355}{113}$. Muhammi ega-
 gasapadesabahallaṃ, talammi tiṇṇi
 rajjubahallo tti sattaḥi rajjūhi
 muhavitttharam guṇiya talaba-
 halladdheṇa guṇide majjhimak-
 hettaphalamettiyam hoi $32\frac{23}{26}$.

Sampahi sesadokhettaṇi sat-
 tarajuavalambayaṇi terasuttara-
 sadeṇa egarajjūm khaṇḍiya tattha
 aṭṭhetalīsakhaṇḍabbhahiya nava-
 rajjubhujāṇi bhujakoḍipaaogga-
 kaṇṇaṇi, kaṇṇabhūmiye alihiya
 dosu vidisasu majjhammi phalide
 tiṇṇi tiṇṇi khettaṇi honti.

Now dividing the needle-less
 (the cylinder-less) volume which
 is fourteen units deep into two
 parts, then taking the lower part,
 (see figure 1) cutting it from the
 top (downwards) and spreading
 it yields a volume like a win-
 nowing pan: Of this the face
 length is this: $\frac{355}{113}$. Its base
 length is this: $21\frac{112}{113}$. Here cutting
 it from the face-ends downwards
 are obtained two triangular
 volumes and one volume on a
 rectangular base. (See fig 3)

Now we find out the volume
 of the middle part. Its height is
 seven units, and its length is this
 $\frac{355}{113}$. In the face the breadth is
 uni-dimensional (i. e. zero), and
 at the base the thickness is three
 units. So the face length multi-
 plied by seven and (also) by half
 the thickness of the base, the
 volume of the middle part will
 be this: $32\frac{23}{26}$.

Now of the remaining two
 volumes (tetrahedrons) of height
 seven units; the length of the
 arms is forty-eight parts of one
 hundred thirteen parts of a unit
 and nine units (i.e. $9\frac{48}{113}$ units).
 Bases and arms correspond to
 hypoteneuses. Taking the hypo-
 teneuses, both of them, and
 cutting from the middle in both
 (horizontal and vertical) directions
 gives rise to three volumes (in
 each tetrahedron). (See fig 3)

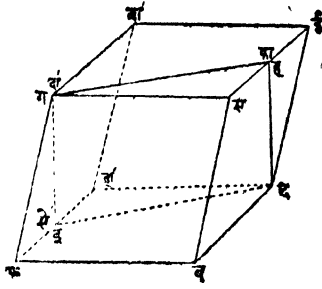


Fig. 4

Tattha do khettaṇi addhuttā-
 rajjussehaṇi chavvi suttara-visadehi
 egarajjuraṇi khaṇḍiya tattha
 egaṭṭhikhaṇḍabbahiyakhaṇḍa-
 sadeṇa sadiṇeyacattarirajjuvik-
 khambhaṇi, dakkhiṇa-vamaheṭ-
 ṭhimacone tiṇṇi rajjubahallaṇi,
 dakkhiṇa-vamaconeṣu jahaka-
 meṇa uvarimaheṭṭhimesu diva-
 ḍḍharajjubahallaṇi, avasesadoko-
 neṣu egagasabahallaṇi. Aṇṇattha
 kamavaḍḍhigadabahallaṇi ghet-
 taṇa, tattha egakhetassuvari
 vidiyakhetta vivajjasaraṇi kauṇa
 ṭṭhaviḍe, savvatha tiṇṇi rajju-
 bahallakhettaṇi hoi. Edassa
 vittharamusseheṇa guṇiya veheṇa
 guṇiḍe khayaphalamettiyaraṇi hoi
 $49\frac{217}{452}$.

Then in respect of two of the
 volumes, the height (ह द and
 हा ऐ each) is three and a half
 units; the length (क व and का बा
 each) being 161 parts out of 226
 parts of a unit increased by 4
 units (i.e. $4\frac{1}{2}\frac{161}{165}$ units); the thick-
 ness on the right (वा दा) and left
 (ब द) bottom sides (each) being
 3 units; on the right and left
 sides in the top and the bottom
 the respective thickness being
 one and a half units, and in the
 remaining two corners the thick-
 ness is uni-dimensional (i.e. zero).
 Elsewhere gradually increasing
 thickness having been obtained,
 (so) when the second body after
 reversing it is placed on the first
 body there will be produced a
 body of uniform thickness of 3
 units. (See fig. 4) The length of
 this multiplied by the height and
 then multiplied by the thickness
 will be this: $49\frac{217}{452}$.

Avasesacattari khetṭaṇi ad-
dhutṭharajjussehaṇi chavvisuttara-
visadehi egarajjuṇṇi khaṇḍiya
tatha egatṭhisadakhaṇḍehi sadi-
reyacattarirajjubhujāṇi. Kaṇ
ṇakkhette alihiya dosu vi pasesu
majjhammi chiṇṇesu cattari
ayadacaurāṃsakhetṭaṇi aṭṭha
tikonakhetṭaṇi ca honti.

Ettha caduṇhamayadacaū-
rāṃsakhetṭaṇāṃ phalaṃ puṃvil-
ladokhetṭaphalassa caūbbhaga-
metṭaṃ hodi. Cadusu vi khettesu
bahallaviroheṇa egatṭhaṃ kadesu
tiṇṇirajjubahallaṃ; puṃvillakhet-
tavikkhambhayamehiraṃto addha-
mettavikkhambhayamapamaṇa-
khetṭuvalambhādo. Kiṃatṭhaṃ
caduṇhaṃ pi milidaṇaṃ tiṇṇi
rajjubahallattaṃ? Puṃvillakhet-
tabahallādo saṃpahiyakhetṭaṇa-
maddhamettabahallaṃ hodūṇa
tadūssehaṃ pekkhidūṇa addha-
mettussehadāṃsaṇādo.

(Now) the remaining four
bodies have three and half units
height, and have arms of length
161 parts out of 226 parts of
unity increased by four units 'i.e.
($4\frac{1}{2}\frac{1}{6}$ units). Their hypotenueses
being taken and they being cut
in both (horizontal and vertical)
directions from the middle yield
four volumes on quadrilateral
bases and eight volumes on
triangular bases.

Here the (total) volume of the
the four bodies on quadrilateral
bases will be one fourth of the
(total) volume of the two (similar)
aforesaid bodies. The four bodies
taken together, two at a time
(as before) and they being placed
together in respect of thickness,
produce a thickness of 3 units,
(and) the length and height are
found to be half of the length
and height of the volume men-
tioned before. How is the thick-
ness of the solid obtained by
joining the four together is 3
units? (Because) the length of
the present solid is half of the
length etc. of the solid mentioned
before, and the height (also) is
seen to be half as compared to
the height of the previous solid.

Sarṇpahi sesaṭṭhakhettāṇi
pūvvaṇi va khaṇḍiya tattha soḷasa
tikoṇakhettāṇi aṇantaradīdakhettā-
ṭaṇamussehado vikkhambhādo
bahallādo ca addhamettāṇi ava-
ṇiya aṭṭhaṇhamayadacaūraṇi-
sakhettāṇaṇi phalamaṇantaraika-
kaṇṭacadukhettaphalassa caūbha-
gamettāṇi hodi,

Now cutting the remaining
eight volumes (tetrahedrons) as
before, there (are obtained)
sixteen tetrahedrons with heights,
lengths, thicknesses etc. half of
those of the previous ones; re-
moving these (sixteen tetrahe-
drons) the combined volume of
the (remaining) eight volumes on
quadrilateral base^s is one fourth
of that of the four (such) volumes
before.

Evāṇi soḷasa-battisa-caūsaṭṭhi-
adikameṇa ayadacaūraṇisakhettā-
ṭaṇi pūvillakhettaphalādo caūb-
bhagamettaphalāni hodūṇa gac-
chānti java avibhāgapalicchedaṇi
pattāṇi ti.

In this way, being sixteen,
thirty two, sixty four and so on,
step by step, are obtained volumes
on quadrilateral bases with
(combined) volumes being one-
fourth of the preceding; this goes
on till the stage of further indi-
visibility is reached.

Evāṇi pūvaṇṇasesakhettaphalāṇi
elavaṇavihaṇaṇi uccāde. Tāṇi
jaha-savvakhettaphalāṇi caūgu-
ṇakameṇa avatṭhidaṇi tti kudūṇa
tattha antimakhettaphalāṇi caūhi
guṇiya rūvūṇaṇi kaūṇa ti guṇi-
dachedeṇa avatṭhīde ettiyaṇi hoi
 $65\frac{11}{3}$. Adhologassa savvakhettā-
phalāsamaṇo $104\frac{107}{45}$.

(Now) we describe the method
of finding the total of the un-
limited volumes (bodies) so pro-
duced. It is thus: the volumes
obtained are in succession four-
fold, therefore; there, the last
volume multiplied by four and
divided by that minus one, (i.e.,
by 3) will give this: $65\frac{11}{3}$. (There-
fore) the total volume of the
lower universe is this: $104\frac{107}{45}$.

The main items of interest in the above, from the point of view of History of Mathematics, are as follows :—

(i) It has been assumed that a body with curved boundaries can be deformed into another with plane boundaries in such a way that its volume remains unchanged. In particular, if the hollowed out cone of figure (2) is deformed into the figure (3) which has plane boundaries, then the volume remains unchanged.

(ii) The principle of construction for the purpose of demonstration or proof has been assumed to hold true. In particular, this principle has been used to find the volume of the tetrahedrons **अ ब स द** and **आ बा सा दा**.

(iii) The formula $S = \frac{a}{1-r}$, $r < 1$, for the sum of the geometric series $S = a + ar + ar^2 + \dots + ar^n + \dots$ has been assumed.

(iv) The value of π has been taken to be $\pi = \frac{355}{113}$.

RECONSTRUCTION OF PROOFS OF MENSURATION FORMULAE

The principles of deformation and construction employed in the above demonstration can be used to obtain the mensuration formulae known and used in India as follows :—

AREA

1. **RECTANGLE:** The area of a rectangle is equal to its length multiplied by its breadth.

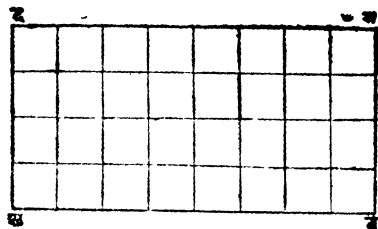


Fig. 5.

2. **PARALLELOGRAM**: The area of a parallelogram is equal to the length of its base multiplied by its height.

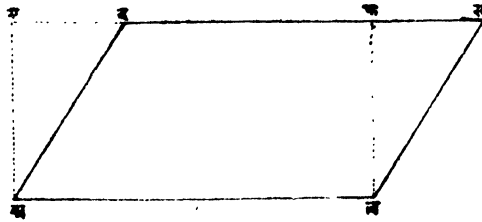


Fig. 6

Construction. Cut the portion बसक (बक perpendicular to स द) and take it to the other side (अ ए द). The resulting figure is a rectangle, hence the theorem.

First Principle of Deformation: If one of the sides of a parallelogram is moved along itself, the area of the parallelogram remains unchanged.

In the figure अ ब स द; स द sliding in its own line is moved to the position क ए giving the rectangle of equal area.

3. **TRIANGLE**: The area of a triangle is equal to half the length of its base multiplied by its height.

This result is true because a triangle is half of a parallelogram on the same base and of the same height.

Second principle of deformation. If the vertex of a triangle is moved parallel to the base, the area of the triangle remains unchanged.

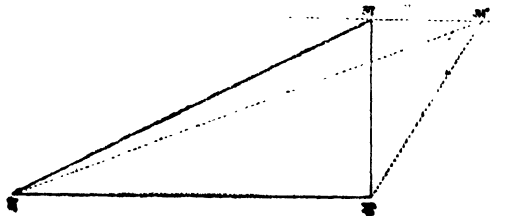


Fig. 7.

4. **TRAPEZIUM** : The area of a trapezium is equal to half the sum of the lengths of its base and top multiplied by its height.

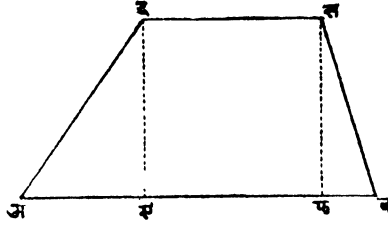


Fig. 8.

The result follows from the construction shown in the figure.

The principle of deformation holds true in the case of a trapezium also, i.e. the area of the trapezium is unaffected by a deformation brought about by moving one of the parallel sides in its own line.

5. **SECTOR OF A CIRCLE** : The area of a sector of a circle is equal to half the length of its arc multiplied by its radius.

Fig. 9.

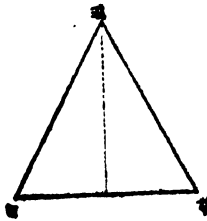
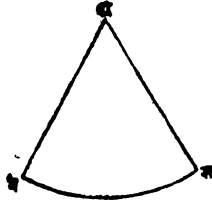


Fig. 10.

Construction : Divide the sector अ ब ग (Fig. 9) into a large number of smaller sectors (which may be equal), so that the arcs of these sub-sectors are so small that they differ little from straight lines. The sector is thus divided into a large number of triangles.

Now place these triangles with their bases abutting on one another on the line ब ग (see fig. 10) and move the vertices so that they all come to अ. The area of the sector is thus seen to be the same as the area of the triangle अ ब ग whose base ब ग is equal to the length of the arc ब ग and whose height is equal to the radius of the sector .

Third principle of deformation : If a sector of a circle is deformed into a triangle whose base is equal in length to the arc of the sector and whose height is equal to the radius, the area remains unaltered.

The deformation is brought about by keeping the bisector of the angle at the centre fixed and then making the circular arc straight.

6. CIRCLE The area of a circle is equal to half the length of its circumference multiplied by its radius.

Construction : Cut the circle along a radius and spread it out into a triangle. The area of the circle is equal to the area of this triangle whose base is equal to the circumference and whose height is equal to the radius of the circle. Hence the result.

Corollary : The area of the figure bounded by two concentric circles of radii a and b , and two radii is equal to the area of the trapezium whose parallel sides are equal to the length of the two arcs and whose height is equal to the difference between the radii of the circles.

Fig. 11.

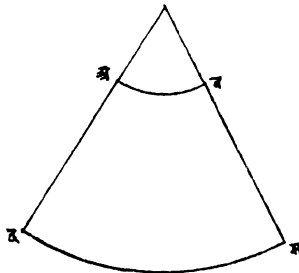
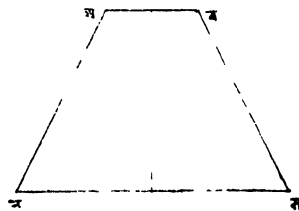


Fig. 12.



7 The volume of a cylinder (of uniform cross-sections) is equal to the area of its base multiplied by its height.

8. The volume of a tetrahedron is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

A prism on a triangular base can be divided into three equal tetrahedrons, hence this result.

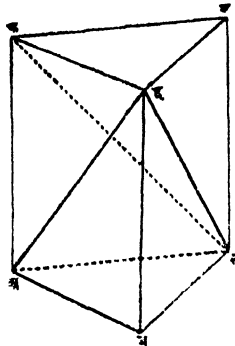


Fig. 13.

An alternative method of finding the volume of a tetrahedron has been given in the demonstration quoted above.

9. The volume of a pyramid is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: The pyramid can be cut into a number of tetrahedrons. The result follows.

10. The volume of a right cone is equal to one-third the area of its base multiplied by its height.

Construction: Cut the cone along a radius of the base vertically up to the vertex. Then spread it out so that the base is deformed into a triangle as in 6. The cone is deformed into a tetrahedron of equal volume by virtue of the third principle of deformation. The volume of this tetrahedron is equal to one-third the area of the base multiplied by its height, hence the result.

By the fourth principle of deformation the result is true for any cone, right circular or not.

11. The volume of the frustum of a cone could be found out by subtraction, for the frustum is obtained by cutting the cone by a plane parallel to the base. The frustum being given, the original cone by cutting which the frustum has been obtained must be found out. Instead of doing that, the author of the Dhaval finds the volume of the frustum directly taking recourse to construction and the principles of deformation, which we have attempted to reconstruct.

Let a and b be the radii of the base and face of the frustum of a cone whose height is h . Then extracting out a cylinder of radius

b and height h, and performing construction and deformation one obtains the body in fig. 3.

In the figure,

$$\begin{aligned} A A' &= B B' = 2\pi b \\ BD &= B'D' = a - b \\ BC &= B'C' = \pi (a - b) \\ AD &= A'D' = h \end{aligned}$$

This body is then cut into three parts by vertical planes passing through A and A'. We get the prism ABDD' B' A', and two equal tetrahedrons ABDC and A'B'D'C'. The volume of ABDD'B'A', which is a prism of height 2 π h on a triangular base ABD, is

$$\begin{aligned} &\frac{1}{2} BD \times AD \times 2 \pi h \\ &= \frac{1}{2} (a - b) \times h \times 2 \pi h \\ &= \pi bh (a - b) \dots \dots \dots (i) \end{aligned}$$

The volume of the two tetrahedrons together is

$$\begin{aligned} &2 \times \frac{1}{3} \times \frac{1}{2} BD \times BC \times AD \\ &= \frac{1}{3} (a - b) \times (a - b) \pi \times h \\ &= \frac{1}{3} \pi (a - b)^2 \times h \dots \dots \dots (ii) \end{aligned}$$

The volume of the frustum is, therefore,

$$\begin{aligned} &\pi b^2 h + \pi bh (a - b) + \frac{1}{3} \pi (a - b)^2 h \\ &= \frac{1}{3} \pi h \{ 3b^2 + 3ab - 3b^2 + a^2 + b^2 - 2ab \} \\ &= \frac{1}{3} \pi h \{ a^2 + b^2 + 2 ab \}, \end{aligned}$$

which is the well known formula.

AN INFINITE PROCESS.

The volume of the two tetrahedrons has been directly found out. Each tetrahedron is cut into three parts by drawing horizontal and vertical planes through the middle point G(G') of A } (A'B') (see fig. 4). The bodies BDHEGIF and B'D'H'G'I'F' being placed one on the other produce a parallelopiped of height $\frac{1}{2}$ on a rectangular base with sides

$$\begin{aligned} BD &= (a - b) \\ \text{and } BF &= \frac{1}{2} \pi (a - b) \end{aligned}$$

Let K denote the volume of this parallelopiped, i. e.,

$$\begin{aligned} K &= \frac{1}{2} \pi (a - b)^2 \cdot \frac{1}{2} h \\ &= \frac{1}{4} \pi (a - b)^2 \cdot h. \end{aligned}$$

Now cut the four tetrahedrons produced in the above construction, each into three parts, by horizontal and vertical planes drawn as

before through the middle points of the sides. This produces eight tetrahedrons and four bodies like B D H E E G I F. These four being placed together produce a rectangular parallelepiped whose volume is one-fourth the volume of the previous one, i. e. the volume of this is $\frac{1}{4} k$. Continuing the process we get successively volumes as below :

$$K, \frac{1}{4} K, \frac{1}{4^2} K, \frac{1}{4^3} K, \dots \dots \dots$$

whose sum is

$$K \left(1 + \frac{1}{4} + \frac{1}{4^2} + \frac{1}{4^3} + \dots \dots \dots \right) \\ = \frac{4K}{3}$$

As K is known to be equal to $\frac{1}{6} \pi (a-b)^2$, therefore,

$$\frac{4K}{3} = \frac{1}{3} \pi (a-b)^2 h = \text{the volume of the two tetrahedrons.}$$

Continued construction as above reduces the volume of the tetrahedrons, so that they are reduced to points when the construction is continued indefinitely. The tetrahedrons, as has been rightly remarked by the author of the Dhavala are reduced to points and so contribute nothing to the volume. The volume of each of the tetrahedrons ABCD and A'B'C'D' is therefore

$$\frac{1}{6} \pi (a-b)^2 \cdot h \\ = \frac{1}{3} \cdot \frac{1}{2} \pi (a-b) (a-b) \cdot h \\ = \frac{1}{3} \cdot \text{area of base} \cdot \text{height.}$$

The main points to be noted in the above are :

- (i) the actual use of an infinite sequence of constructions and
- (ii) the actual use of the formula for the sum of an infinite series.

We shall perhaps never know how the ancient mathematicians of India justified the use of infinite processes. We content ourselves by stating that the Hindu mathematicians did use infinite processes as early as the 8th or 9th century A. D.

THE VALUE OF π

The problem of 'squaring the circle' or what was more fundamental in India from the point of view of religious requirements, the problem of 'circling the square' originated and acquired special

importance in connection with the Vedic sacrifices, when the earliest hymns of the *Rg. Veda* were composed (before 3,000 B. C.). The three primary altars viz., the Gârhapatya, Ahavanîya and Dakṣiṇa were to be of the same area but of different shapes—square, circle and semi-circle. The five altars called *Rathacaḅra-citi*, *Samuhyā-citi* and *Paricāyya-citi*, mentioned in the *Taittirîva Samhita* required the construction of a circle equal in area to a given square of $7\frac{1}{2}$ units area. The value of π used in those early days varied between 3 and 3.1. For further details the reader is referred to *The Science of the Sulba* by B. B. Datta (Calcutta University Press, 1932).

The value $\pi = \sqrt{10}$ seems to have been used by Jaina scholars first. It was used by *Umasvati* who wrote about the beginning of the Christian Era. He says :

“The square-root of ten times the square of the diameter of a circle is its circumference. That multiplied by a quarter of the diameter (gives) the area.”

This value ($\pi = \sqrt{10}$) became very popular and was used by most of the Hindu astronomers and mathematicians—Brahmagupta, (628) Śridhara (c. 750), Mahavira (c. 850), Aryabhata II (c. 950) etc. Aryabhata I (499) used the value

$$\pi = \frac{62832}{20000}$$

He says :

“100 plus, 4, multiplied by 8 and added to 62000. This will be the approximate value of the circumference of a circle of diameter 20000.”

Now

$$\frac{62832}{20000} = 3 + \frac{1}{7 + \frac{1}{16 + \frac{1}{11}}}$$

The successive convergent are

$$3, \frac{22}{7} \text{ and } \frac{338}{113}.$$

The value $\frac{22}{7}$ was employed by the Greeks and is known as the Greek value of π . It is the second convergent obtained from Aryabhata's value and has been used in India by Aryabhata II and by Bhaskara II as a “gross” value of π .

1. Tatvarthadhigama sutra with the *bhîṣya* of Umasvati, ed. by K. P. Mody, Calcutta, 1904, iii ll (gloss).

2. Aryabhataiya, II, 10.

The value $\pi = \frac{355}{113}$ which is the third convergent has been very rarely used by Hindu mathematicians and astronomers. This value has been called the Chinese value of π as it occurs in the works of Chinese scholars about the seventh century A. D.

Virasena the author of the *Dhavalā* completed his work on 8th October, 816 A. D. He uses the value $\pi = \frac{355}{113}$ and in support quotes the following from a previous author :

Vyasain ṣodaśagunitam sodaśasahitam
tri-rupa-rupairbhaktam |
Vyasam trigunitasahitam sukṣmadapi
tadbhavetsūkṣmatam ||

The literal translation of the above, according to modern sanskrit usage, will run as follows :

“The diameter multiplied by sixteen added by sixteen (and) divided by three-one-one, together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference)”

This gives

$$C = 3 D + \frac{16 D + 16}{113}$$

where C stands for the circumference and D the diameter of a circle.

Virasena, however, interprets the above as

$$C = 3 D + \frac{16 D}{113} = \frac{355 D}{113}$$

$$\text{i. e. } \pi = 3 \frac{16}{113} = \frac{355}{113}$$

Virasena's interpretation, however, cannot be correct unless “*Ṣoḍaśasahitam*” in the first line is interpreted to mean “added sixteen times”, so that the translation of the couplet would run as follows :

“The diameter multiplied by sixteen, (that is) added sixteen times (and) divided by three-one-one together with three times the diameter is finer than the fine (value of the circumference).”

Now, the term “*Sahitam*” was used in the sense of addition as well as “multiplication”, i. e. “repeated addition a number of times” in the *Vedānga jyotiṣa* but has not been used in that double sense by Aryabhaṭa (499) and succeeding mathematicians. This leads one to conclude that the above quotation is from some work written before the fifth century A. D., when “*Sahitam*” was being used in both the senses of multiplication as well as addition. It would appear,

therefore, that the so called chinese value of $\pi = \frac{355}{113}$ was also known in India and was perhaps used in India earlier than in China. It might be that the Chinese got this value from India, through Buddhist missioneries or perhaps they found out the value independently.

Another noteworthy feature in the above quotation is the remark "finer than the fine." From this it follows that a "fine" value of π was already known. This fine value of π may have been $\sqrt{10}$ or $\frac{22}{7}$. If the latter, the connection with Aryabhata's value is obvious—the third convergent being a closer approximation than the second.

RENASCENT INDIA AND VAISALI

By

Prof. Sita Rama Singh, M. A.

Lecturar in History. H. D. Jain College, Arrah

It is only in the fitness of things that Renascent India should look with increasing interest and enthusiasm to Vaisali—the cradle of republicanism, and the religious centres of the Jainas and the Buddhists. Republicanism is the political garb of Modern India, and Non-violence—the central theme of the teachings of both Lord Mahavira and the Buddha—is her message to the suffering world. The Jaina contribution to the building up of New India has been considerable, and in order to make it more effective the Jainas shall have to revive once more the traditions of Vaisali.

Now it has been proved beyond doubts on the ground of unimpeachable evidences that Lord Mahavira was born at Kundagrama near Vaisali, and not at Lichchuar or Kundalapura as was the popular belief among the Jainas. The birth of Lord Mahavira was an event of paramount importance in the history of the Lichchavi Republic. As Dr. Radhakumud Mookerji, an eminent historian, has pointed out, “The personality and preachings of Mahavira rapidly built up Vaisali as a centre of Jainism and of the spiritual discipline and asceticism upon which it was based. Vaisali thus achieved an early reputation in the religious world [of India for its teachers devoted to the practice of uttermost penance and austerity, of which Mahavira stood out as the most prominent example.” More than this Mrs. Rhys Davids has even pointed out that the Buddha was first initiated into Jainism at Vaisali and Alara and Uddaka were his first teachers. Thus the Buddha began his quest for truth from Vaisali.

A more definite proof of the Buddha beginning his religious life as a Jaina is to be found in the fact that he took to severe penance, practised austerities, reduced himself to a mere skeleton, skin and bones, and ultimately reduced his food to what might be contained in his hollowed palms. When he found that his body could not stand the rigours of such severe penance, he took to his famous Middle Path.

So during the 6th. cent B. C. Vaisali was the centre of the religious movements that were springing up in India at that time. Dr. Smith has characterised these movements as the protests of the Kshatriyas against the all-powerful Brahmins. One, however, may well be tempted to ask as to why these protests of the Kshatriyas were voiced by the republican clans rather than by the Monarchical Chiefs who were more powerful. Dr. Smith would have been nearer the truth if he had sought the origins of the religious movements in the healthy political life of the Vajjian Republican Confederacy to which the Buddha himself paid tributes. A further proof of the republican character of Jainism is to be found in the fact that Lord Mahavira emphasized the dignity of man, that He said that man could mould his own destiny and attain salvation through self-less action and that for his salvation the help of no outside agent was needed. This teaching was a bold proclamation of the republican ideal in religion.

Vaisali is also the embodiment of the dedication of the individual, however great he might be to the well-being of the community. Lord Mahavira was the son of Sidhartha, a Lichchavi Chief, and Trishala the sister of Chetaka, the Lichchavi Raja. His princely origin notwithstanding, Lord Mahavira kicked worldly luxuries and devoted himself to healing the religious sores from which the common people were suffering at that time.

To sum up: the message of Vaisali is that republicanism is the best sort of constitution under which the individual has the best opportunities to unfold his personality to the utmost extent, that such a developed individual should dedicate himself to the well-being of the community, that Lord Mahavira was the finest flower which blossomed at Vaisali, embodying its best ideals, and that the religion of a republic should be the cult of self-reliance.

These ideals of ancient Vaisali can inspire Renascent India to action. But it is a matter of regret that due attention has not been paid to the excavation work at Vaisali, that only an insignificant part of which should have been done has been done, and that many valuable informations yet lie buried beneath mounds. Every Indian is under sacred obligation to Vaisali, but most of all the Jainas owe a

sacred duty to the birth-place of their twenty-fourth and last Tirthankara. The Jainas, though not numerous, are a wealthy and influential community in India and they can and should do something for unearthing the hidden treasures at Vaisali. A Jain Dharmashala, a Museum and further excavations are the crying needs of Vaisali. By doing so, the Jainas will not only be paying homage to their own religion, but also doing a great service to Mother India

CONTRIBUTION OF THE JAINAS TO HINDI LITERATURE.

By

Sri C. S. K. Jain, M. A.

The great political storm which swayed over India just before and after the advent of the Musalmans, threw away the Indian people, all of a sudden, so far away from their old traditions, that they could not be able to get together even those valuables which were the results of thousands of years of their experiments and thoughts. The period of Indian History after the death of Harsha upto the settlement of Muslim Empires, has been rightly branded as The Dark Age, because the current literature of the general folk of the time, the burning torch of the age, has been sacrificed among the high flames of communalism and racealism.

The Jain-literature has proved itself to be the only helpful means for having a peep through the veil of ignorance spread over the age. According to Jain philosophy, the *Shastras* (sayings of respectable Jain monks) have been held in regard just on equal footing with the Devas (Jain dieties) and the Gurus (Jain sages). As a result, the Jainas tried their best to protect Jain literature also along with their sacred images. This vast literature, still safe in big Jain religious libraries all over India, has its significance not only for getting a clue to our long debated religious, historical or philological problems, but also in bridging the way to our ancient literary glory. It is a matter of regret that only a few literary magnets have cared to survey or even to pass through this highway of our literary tradition.

Right from the lifetime of Bhagwan Mahabir, language of the general folk received its due respect in Jain literature. Jain monks and poets always tried to incorporate the feeling, the thought and the voice of the general mass in its own language. Near about the 10th century A. D., Jainism was the most popular faith in some parts of India such as the Deccan, the Rajasthan, Gujrat and other western provinces. Under suitable state-protection Jain monks remained always busy in injecting Jain religious principles among the householders through their works on almost all branches of literature like history,

epic, drama, mythology, grammar etc. They took care to use the same character of language which was current among all grades of people for their daily expressions. So the common literature of the time is mostly the result of the unshaken labour and brilliance of the Jain literators. It was the age when Apbhransha the traditional heir to Sanskrit was taking shape of modern provincial languages like Bengali, Gujrati, Awadhi, Rajasthani etc. in all parts of India. Jain literature of the age is mostly found in Apbhransha but its stock of words is nearer to old Hindi than the literary form of Apbhransha itself. So we should have a regard for these literators as pioneers of Hindi literature.

Apart from its liberal philological view-point, the above Jain literature constitutes the stepping stones leading to that glory of literary revival which reached its zenith during the famous Golden Age of Hindi literature, producing genii like Kabir, Jayasi, Sur, and Tulsi. The poetic arts of these venerable poets are only full bloomed beauties of the said Jain literature. Whether in treatment of subject, in composition of verses, in use of figures of speech, in selection of touching scenes or other beauties of rhetoric and prosody, the formers have always been found following the footsteps of their Jain predecessors.

Leaving aside his philosophical differences, we may say that the art of Tulsi owes much to Jain poet *Swayambhu Dev* (791 A.D.), the composer of the great epic *Patmcharit* (the Jain Ramayan) in *Chaupais* and *Ghatts*. It contains marvellous descriptions of battles, lamentings, and pictorial views of nature, intermingled with philosophical ideas, as is found in Tulsi Ramayan also.

We enjoy the romantic and mystic flavour of Sufi poets like Jayasi as far back as 1100. A. D. in *Muni Naya Nandi*, through his composition *Sudanshan Charit*. When we see the inclination to Shringar Rasa, description of female beauty, nature painting, a mystic idea of universal co-relation, and then the selection of verses also, in a way just corresponding to the Romantic epics, we are free to form an idea that, in absense of any such literature to be found elsewhere at so early period, *Naya Nandi* is the first known composer of Romantic epic (*Prem Kavya*) and Sufi poets were not ignorant

Though thoughts of Kabir are the direct evolution of the preachings of Sahajyani Sidhas and Nath Panthi yogis, yet some lines of Kabir resemble so much with those of Muni Ram Singh (near about 1110 A. D. that it becomes evident that they were popular in the environment which was shaping the ideas of Kabir. For example these lines of Kabir—

केसन कहा बिगारिया जो मुंडो सौ बार ।

मन को क्यों नहीं मुंडिये, जामे विषै विकार ॥

can be well compared with these lines from Paur Doha—

मुंडिय मुंडिय मुंडिया । सिर मुंडिउ चित्तु ए मुंडिया ।

चित्तहं मुंडणु जि कियउ । संसारहँ खंडणु ति कियउ ॥

Muni Ram Singh was a staunch supporter of the view that even strict adherence to outward rituals does not ensure self-emancipation, which is only possible through real self-consciousness and inner purity. He has used the same words in abhorance of such ascetics and *Pandits* as Kabir did afterwards against the so called contractors of human progress.

There is no doubt that composition of epics in Hindi literature owes its origin to the Jain Poets, the most important of which known up till now, are acquainted herewith along with their works :—

Poet's name.	Age	Works.
	(Settled up till now)	
1. Swayambhu Dev	790 A. D.	1. Paum Charitū 2. Ritthnemi Charitū 3. Panchami Charitū 4. Swayambhu Chhand
2. Maill Dhawal	10th cen. A. D.	1. Davv Sahaō Payas 2. Harivansha Purañ
3. Mahakavi Puspadant		1. Tissith Mahapuris Gūnalankār 2. Naya Kumar Charitū 3. Sasahar Charitū 4. Kosha Granth
4. Dhanpal	10th cen. A. D.	1. Bhavishyavat Katha
5. Muni Naya Nandi	1100 A. D.	1. Sudanshan Charitū
6. Acharya Hemchandra	1088 A. D.	1. Kumarpal Charitra

2. Sidha Haim Shabd-
nushashan
3. Prakrit Vyakaran
4. Deshi Nammala
5. Chhandonushashan

Acharya Hemchandra needs special reference because he was the first to write an Apbhransha Vyakaran and a book on prosody. Deshi Nammala contains a list of such words which were popular in public and were used in literature of that period. Besides these the names of Somprabhsuri, Vinayachand Suri, Acharya Merütung and Rajshekhar Suri are also worth remembering who decorated Hindi literature with different kinds of works on poems, dramas, short stories etc. We have not come across any Jain writer of lyric poems which has its artistic growth in Sur. But the art of lyric poetry was not foreign to them. We find an unbroken chain of Jain poets right upto the end of the 15th century A. D.

Year 1586 is one of the most important dates, in this connection, for it celebrates the birth of a great genius Banarsidas Jain of Jaunpur, who was anxious for spreading the sphere of Hindi literature, so far limited within epics and lyrics only. He was one of the few early prose-writers of Hindi. His prose truly represents current Brajhasha of his time. His Ardhakathanak (autobiography) is the only work of its kind in old Hindi. He was a good poet and one among the fast friends of Tulsidas. He also produced the Hindi version of Natak Samaysar of Kundkundacharya. Thus Banarasidas stands at a remarkable place in Hindi literature.

Even in the sphere of prose, we should not forget the importance of Pt. Daulatram Jain of Baswa (Madhya Pradesh) who translated Jain *Padma Puraña* of Ravishenacharya into Khari Boli in 1766 A. D. As Pt. R. C. Sukla notes, his language represents that character of Khari Boli which was prevalent among the majority of illiterate people, not influenced a little by foreign languages like Urdu or Persian. His work proves that writing of prose in Khari Boli had begun long before the British tried to shape its outlines in the Fort-William.

Even to day we see several Jain literators busy in promoting the grandeur of Hindi literature in almost all its branches. Shri Rishabh Charan Jain is famous for his fictions. Jainandra Kumar has its own importance for his philosophical outlook and psychological study of characters in his novels and short stories. He is also a renowned critic in modern Hindi literature. Dr. Hiralal Shastri has gained a memorable place for his research works on Jain literature. It is his effort that brought to light the vast Jain literature of old Hindi and drew the attention of Hindi world towards its importance. Besides these Shikherchand Jain, Shree Gyanchand Jain and various others are true devotees of Hindi literature who are doing their best to fill up its treasure or mark the value of its present diamonds. Jain contributions to Hindi literature, though a few in quantity, have their unique importance for they mark the mile-stones of the path of its progress.

Thus we come to the conclusion that the Jainas, though constituting a very small number of Hindi speaking population, are not less important for their share of offerings at the altar of Hindi. It is for the present generation to continue the tradition and keep the torch of learning bright, the only means of human emancipation from the destructive elements of to day, resulting influence of under-evolution of brain without due collaboration with the heart, the fountain of life and fraternity.
